वाक्यवृत्ति

श्री दक्षिणामूर्ति मठ, प्रकाशन

श्रीदक्षिणामूर्तिसंस्कृतग्रन्थमाला–४१

ॐ

श्रीमच्छङ्कराचार्यकृता

वाक्यवृत्तिः

*

श्रीमदानन्दगिरिस्वामिकृतं

विवरणम्

*

श्रीविश्वेश्वरपण्डितकृता

टीका

*

श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ
आचार्य महामण्डलेश्वर
श्री १०८ स्वामी महेशानन्द गिरिजी
महाराज के निर्देश से
स्वामी स्वयम्प्रकाशगिरिकृत
हिन्दी व्याख्या

श्री दक्षिणामूर्तिमठ, प्रकाशन, काशी

प्रकाशक

श्री दक्षिणामूर्ति मठ, प्रकाशन

डी $\frac{४९}{९}$, मिश्रपोखरा

वाराणसी–२२१०१०

प्रथम संस्करण

शङ्कराब्द : १२१२

वैक्रमाब्द : २०५७

ख्रैष्टाब्द : २०००

© सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

मूल्य : ८० रुपये मात्र

मुद्रक

निर्मल चित्रण

सौंठ की मण्डी, आगरा

विषय-सूची

	श्लोक
मङ्गलाचरण	१
गुरुप्रणाम	२
अधिकारी	३
परिप्रश्न	४
परम उपदेश	५-६
प्रश्न-चतुष्टय	७
उत्तर में जीवस्वरूप	८
पदार्थजिज्ञासा	९
वाक्यर्थज्ञान का उपाय	१०
त्वम्पदार्थ	११
विवेक	१२
स्थूल शरीर से आत्मा अलग है	१३
आत्मजिज्ञासा	१४
द्रष्टा-दृश्य का अन्वय-व्यतिरेक	१५
सूक्ष्म देह अनात्मा है	१६
संघात आत्मा नहीं	१७
आगमापायी-तदवधि का अन्वय-व्यतिरेक	१८
आत्मा निर्विकार है	१९
अनुवृत्त-व्यावृत्त का अन्वय-व्यतिरेक	२०
आत्मा नित्य ज्ञान है	२१
अवस्था-अवस्थावान् में भेद	२२
साक्षी-साक्ष्य का अन्वय-व्यतिरेक	२३
शेष-शेषी का भेद	२४

दु:खी-परमप्रेमास्पद का अन्वय-व्यतिरेक २५
शोधित त्वम्पदार्थ २६–२७
तत्पदार्थ का विचार २८
अतद्व्यावृत्ति २९
विधिमुख से स्वरूप लक्षण ३०
विधिमुख से तटस्थ लक्षण ३१
उपनिषत् द्वारा परिचय : छान्दोग्य ३२
: तैत्तिरीय ३३
: बृहदारण्यक ३४
: ऐतरेय ३५
: कौषीतकी ३६
वाक्यार्थ ३७
अखण्डार्थ ३८
व्यतिहार ३९
प्रमाण से द्वैतनिवृत्ति ४०
पूर्णताप्राप्ति ४१
वाक्य कैसे अर्थ बताता है ४२–४३
त्वमर्थ ४४
तदर्थ ४५
लक्षणा क्यों ४६
लक्षणा ४७
भागत्याग ४८
आवृत्ति साधन है ४९
ज्ञान से कैवल्य ५०
सद्यः मुक्ति ५१
जीवन्मुक्ति ५२
उपसंहार ५३

ॐ

भूमिका

भगवान् भाष्यकार आचार्य शङ्करभगवत्पाद में समास व व्यास दोनों शैलियों में सम्यग्रूपेण प्रतिपादन करने की अद्भुत क्षमता देखने को मिलती है । बृहद्भाष्यों की व्याख्या में भाष्यहृदयाभिज्ञ आचार्यप्रवर स्वामी आनन्दगिरि अनेक स्थलों पर समासवाक्य का संकेत देते हैं, तथा बताते हैं कि इसी का अब विस्तार किया जा रहा है । प्रकरण ग्रन्थों में भी यही बात है । उपदेश सहस्री के अठारहवें प्रकरण को आचार्य ने सबसे बड़ा २३३ श्लोकों का बनाया है, एवं स्वयं उसे 'तत्त्वमसि प्रकरण' नाम दिया है । इसी तत्त्वमसि वाक्य की वृत्ति यह वाक्यवृत्ति प्रकरण ग्रन्थ कुल ५३ श्लोकों में समाप्त किया है । लघुवाक्यवृत्ति में यही विषय १८ श्लोकों में ही भली प्रकार स्पष्ट कर दिया है । छान्दोग्य उपनिषद् का छठा अध्याय इस महावाक्य का मूल है एवं वहाँ अतिविस्तृत खण्डन-मण्डनपूर्वक इसे समझाया है, अतः यहाँ ४३वें श्लोक में आनन्दगिरि व्याख्या में इसे 'बृहत्यां वाक्यवृत्तौ' से निर्दिष्ट किया है । कुछ लोगों ने इससे एक बृहद्वाक्यवृत्ति ग्रन्थ का उल्लेख भी मान लिया है जो ऐसे किसी ग्रंथ के अन्यत्र उल्लेख या उपलब्धि के अभाव में स्वीकार करने के अयोग्य ही लगता है । यह वाक्यवृत्ति भाष्य व भाष्यवार्तिक के प्रसिद्ध टीकाकार स्वामी आनन्दगिरि द्वारा व्याख्यात है, जिसमें लिपिक-दोषों की ओर ध्यान दिलाकर हिन्दी व्याख्याता ने शुद्धपाठ स्पष्ट किया है । आनन्दाश्रम से प्रकाशित अन्य टीका भी यहाँ छापी गई है एवं उसमें भी अपेक्षित शोधन किया गया है । इस प्रकार यह संस्करण केवल हिन्दी वालों के लिये ही नहीं, अपितु मूल संस्कृत पाठकों के लिये भी उपादेय बना दिया गया है ।

सर्वप्रथम हिन्दी व्याख्याता ने आत्मविचार स्वाभाविक बताकर विचार के अधिकार की प्राप्ति का मूल मानवयोनि की विशेषता का अद्भुत विचार किया है और स्पष्ट किया है कि वेदान्त ही एकमात्र शास्त्र है जो आत्मजिज्ञासा को ही अपना विषयवस्तु मानता है । आत्मा ही श्रद्धेय है (पृ. ५) । आत्मा का प्रतिपादन महावाक्य के द्वारा किया जाता है, जो सभी अवान्तर वाक्यों को समन्वित करता है । पृ. ९ में प्रमाण व देशिक के उपदेशों का समन्वय दिखाया है । दोनों ही एक-दूसरे के पूरक भी हैं व आवश्यक भी हैं । पृ. १५ में तापत्रय का विलक्षण श्रौतार्थ हिन्दी व्याख्याता की विलक्षण प्रतिभा को बताता है । इसी प्रकार सर्वज्ञ शंकर के ''उद्विग्न-मानसः'' (श्लोक ३) पर रजोगुणी उद्वेग व सत्त्वगुणी उद्वेग का भेद स्पष्ट किया है । पृ. १६ में प्रतिपादित

इस भेद को न समझने पर साधक को सन्देह रह जाता है कि उद्वेग तो हानिकारक माना गया है, फिर यहाँ साधक की योग्यता में इसका निवेश कैसे किया गया है ? हेय उद्वेग हानिप्रद है पर उपादेय सात्त्विक उद्वेग तो तीव्र जिज्ञासा को अपेक्षित है, जिसके अभाव में साधक प्रमादी बन सकता है । अतः विद्वान् विचारक ने यहाँ साधकों को विशेष उपकृत किया है । इसी प्रकार पृ. १५ में कृपा पर भी सूक्ष्म विचार किया गया है । परिप्रश्न के भीतर ही आत्मजिज्ञासा छिपी है यह भी खुलासा किया है । गीता में ''परिप्रश्नेन सेवया'' कहा है, उसका भी यही तात्पर्य है । अन्य जिज्ञासाओं को प्रश्न कह सकते हैं, परिप्रश्न नहीं (पृ. २४) । पृ. २५ में सर्वज्ञ भगवत्पाद के 'अनायास' शब्द में कर्मसंन्यास संकेतित है अतः दोनों एकार्थक हैं ऐसा अद्भुत विचार व्याख्याता ने दिया है । पृ. २९ में प्रमा व प्रमाण स्वरूप पर वेदान्त के मान्य आचार्यों के विचारों का मथा हुआ मक्खन साधकों के लिये सरलता से सुलभ कराना व्याख्याता की विलक्षणता को प्रकट करता है ।

यद्यपि वेदान्त ग्रंथों में प्रायः तत्त्वमसि महावाक्य ही, जो छान्दोग्योपनिषत् के छठे अध्याय में श्वेतकेतु के प्रति उपदिष्ट है, विस्तार से विवेचित है, तथापि सभी महावाक्य उसी प्रकार से विवेचितव्य हैं, यही उपलक्षणा से समझना चाहिये । अतः सर्वज्ञ शंकर 'तत्त्वमस्यादि' कहते हैं 'तत्त्वमसि' नहीं । वस्तुतः सभी उपनिषद् तत् अर्थात् ईश्वर पदार्थ का सृष्टिकारण रूप से प्रतिपादन करती हैं, या त्वम् अर्थात् जीव पदार्थ का मनोरूप, विज्ञानमय, पंचकोशी आदि रूप से वर्णन करती हैं । इस प्रकार सारी उपनिषदें जीव व ईश्वर के स्वरूप का प्रतिपादन अवान्तर वाक्यों से करके, फिर उनकी एकता महावाक्य से बताती हैं, अतः आदि से महावाक्यों के साथ अवान्तरवाक्यों का भी ग्रहण करना चाहिये । उपनिषद् का इस प्रकार अध्ययन अवश्य प्रमा उत्पन्न करता है, यह भगवान् शंकर भगवत्पाद ने श्लोक में 'तदिदं मोक्षसाधनं' कहकर स्पष्ट किया है । इस उपनिषद्-मंथन के अलावा मोक्ष का कोई भी साधन नहीं है । परन्तु इस विचार में जो सत्य, असत्य के विषय में पूर्वाग्रहों से ग्रस्त हैं, उनका सटीक व अतिशय मनोरम वर्णन पृ. ३१ में व्याख्याता ने किया है । अष्टम श्लोक की व्याख्या में संशयों की विस्तृत सूची दी गई है । उपदेश करने वालों के लिये वह उपकारक है । उसे प्रयत्नपूर्वक जानकर शिष्य के छिपे सन्देहों को दूर करना जरूरी होता है, अन्यथा साधक निःसंशय नहीं हो पाता । हर व्याख्या अपने युग के प्रश्नों का समाधान करती है, यही वेदान्त की प्रतियुग में नवीनता का रहस्य है । इसी स्थल पर लेखक ने ब्रह्मसूत्रों के सात अधिकरणों का, तथा बृहदारण्यकोपनिषद् में अनेक भिन्न अध्यायों में जीव-विषयक विचारों का संग्रह करके, सभी शंकायें आधारभूत ढंग से हमेशा एक जैसी ही रहती हैं यह भी स्पष्ट किया है । इस प्रकार सनातन धर्म सदा पुराना भी है, व सदा नवीन भी है, यह स्पष्ट हो जाता है ।

ग्यारहवें श्लोक की व्याख्या में साक्षी व प्रमाता के भेदों का अनुभव किन स्तरों में होता है इसका स्पष्ट विवेचन प्रस्तुत किया गया है । साधकों के सोपान क्रम को प्रतिपादित अत्यन्त सरल ढंग से करके हरेक साधक को अपनी अवस्था व अनुभव को समझने का मार्ग प्रस्तुत किया है । पृ. ४७ के विवेचन में व्याख्याता ने प्रत्यभिज्ञा के दृष्टान्त से प्रमाता व साक्षी का भेद निर्दिष्ट कर दिया होता तो विषय और भी स्पष्ट हो जाता । क्लिष्ट वादग्रंथों में आये ज्ञायमान एवं स्वरूप सत्, दोनों प्रकार से मोक्ष का निर्वाहक आत्मा है इस अत्यन्त गूढ विषय को सरल भाषा में समझाकर अपनी बहुश्रुतता को प्रकट करने के साथ अतिक्लिष्ट विषय को सरलता से उपस्थापित करने की अपनी योग्यता को भी सिद्ध कर दिया है (पृ. ४९ में द्रष्टव्य) । निगमन में पृ. ५० का मनोरम पदकृत्य भी मननीय है ।

तेरहवें श्लोक में घट व कुंभ दो पदों से सर्वशास्त्ररहस्यज्ञ भाष्यकार भगवान् ने जो समझाया हैं, वह अन्य व्याख्याओं में स्पष्ट नहीं किया गया है । हिन्दी व्याख्याता ने एक हेतु से आत्मा नहीं व दूसरे से अनात्मा है इस प्रकार का भेद स्पष्ट करके संभावित पुनरुक्ति का परिहार अपनी प्रतिभा के बल से किया है । यही समाधान उचित भी है । आनन्दगिरि स्वामी ने 'देहोऽनात्मा भौतिकत्वाद्' एवं 'देहोनात्मा रूपादिमत्त्वात्' कहकर इसे ध्वनित तो कर दिया था परन्तु प्राचीन लेखों में अवग्रह का प्रयोग दुर्लभ होने से यह स्पष्ट नहीं था । इस प्रकार यही समाधान उन्हें भी सम्मत था ।

वेदान्त सम्मत समीक्षा में बिना माया के सम्बन्ध के आत्मा द्रष्टा, श्रोता भी नहीं बन सकता । विषयाकार गृहीत होकर ही आत्मा विषयी हो सकता है इस तथ्य का सुन्दर विवेचन पृ. ३७ में मिलेगा । इसी आधार पर शम साधन का दार्शनिक विवेचन भी अत्यन्त मनोहर ढंग से किया है ।

आत्मा व्यापक है तो मुर्दे में भी विद्यमान है ही, फिर वह वहाँ उसको सक्रिय क्यों नहीं बनाता ? यह प्रश्न अनेक जिज्ञासुओं को परेशान करता है । श्लोक १८ में भाष्यकार ने आत्मा की सन्निधि से देहेन्द्रियादि व्यापार वाले होते हैं ऐसा कहा है; वह सन्निधि तो मुर्दे में भी है ही, फिर वह व्यापार वाला क्यों नहीं प्रतीत होता ? आनन्दगिरि स्वामी ने ''चैतन्याधिष्ठान- पूर्विका'' कह कर रहस्य को उद्घाटित तो किया है, पर दृष्टान्त में ''रथादिप्रवृत्तिवत्'' कह कर रथस्वामी को ही अधिष्ठान कह दिया है । वस्तुतः रथस्वामित्व भी क्या है ? रथ को अपना मान लेना व अपने अनुसार, रथ की नियमबद्धता के भीतर, उसे प्रवृत्त करने में स्वातन्त्र्य का बोध । अतः यह भी अध्यासरूप ही मानना पड़ेगा । अन्यथा भाड़े पर आई टैक्सी को 'मेरी टैक्सी' कहना कैसे बनेगा ? हिन्दी व्याख्याता ने सन्निधि को देहादि से तादात्म्याध्यास रूप

बताकर विषय को स्पष्ट किया है । शव में तादात्म्याध्यास के अभाव में व्यापक आत्मा विद्यमान रहते हुये भी सन्निधि वाला नहीं है अतः वहाँ व्यापारवत्ता भी नहीं है यह स्पष्ट हो जाता है । गंभीर विचार करने पर तो भाष्यकार के देह के साथ इन्द्रियादि का कहना ही इसको स्पष्ट कर देता है । आचार्यप्रवर आनन्दगिरिजी "स्थूलसूक्ष्मशरीरं धर्मित्वेन उपादीयते" में इसी तरफ ध्यान दिलाते हैं । सूक्ष्म शरीर तो मुर्दे से निकल गया एवं वही चेतन को आभासित करने में समर्थ है । देह भासक नहीं, सदा भासित है, पंचीकृत स्थूल महाभूतों का कार्य होने से, ईंट पत्थर की तरह–यह अनुमान सूक्ष्म शरीर को भासक व भासित दोनों मानकर ही होता है । सूक्ष्म शरीर साक्षिभास्य ही है क्योंकि सूक्ष्म अपंचीकृत महाभूत प्रत्यक्षभास्य नहीं हो सकते । सूक्ष्मशरीर के साथ इसलिये अध्यास रूपी आभास के सिवाय कोई सम्बन्ध नहीं बन सकता । इस प्रकार मूल का अन्तरंग भाव हिन्दी व्याख्याता ने हृदयग्राही रूप से प्रकट कर अन्वेषकों को उपकृत किया है । इसी श्लोक की व्याख्या में अनित्यता को, जो जगत् की सभी वस्तुओं में सभी को स्पष्ट प्रत्यक्षतः प्रतीत होती है, मिथ्यात्वसिद्धि में हेतु बताकर सामान्य व्यक्ति को भी अन्वयव्यतिरेक युक्ति के माध्यम से हस्तामलकवत् स्पष्ट कर दिया है । अद्वैत सम्प्रदाय के दार्शनिक वादग्रंथों को और भी अनेक स्थलों पर सरलता से समझाने का स्तुत्य प्रयास किया है जो सफल भी हुआ है । ऐसे कई स्थलों पर तो साधकों को मूलग्रन्थ के अध्ययन की ओर प्रवृत्त भी किया है ।

सभी दर्शनों में व विज्ञान-विचार में भी जीव की स्वतंत्रता एवं परतंत्रता का विचार आना स्वाभाविक है । धर्मशास्त्र हो या राजशास्त्र दोनों की दण्ड व पुरस्कार मर्यादायें जीव की स्वतंत्रता को सिद्धवत् मानकर ही हैं । विज्ञान, विशेषतः मानसचिकित्सा-शास्त्र ने जितनी जीव की परतंत्रता को प्रश्रय दिया है, उतनी ही दण्ड-व्यवस्था चरमराई है । वेदान्त की इस विषय में अपनी मान्यता है । इसके अनुसार सभी व्यवस्थाएँ सुन्दर तरह निभ जाती हैं । श्लोक २२ की व्याख्या में पृ. ७५ पर इसका व्याख्याकार ने स्थूल विवेचन भी किया है व सूक्ष्म तात्पर्य को भी प्रकाशित किया है । इस प्रकार का सुलझा विचार उनकी वेदान्त मर्यादाओं के गंभीर अनुशीलन का परिणाम है । ऐसी विलक्षणता अन्यत्र जल्दी नहीं मिलती । जीव की स्वतंत्रता और ईश्वर की सर्वकर्तृता का समन्वय ही हमें पुरुषार्थ व दैव में सामञ्जस्य तथा अपराधिताबोध व प्रमाद के पाश से छुड़ा सकता है । अतः यह विषय जितना गम्भीर है, गूढ है, उतना ही आवश्यक भी है । पृ. १०५ में भी यह विचार आया है । इसी से सम्बन्धित विषय है, साक्षी की विकारहीनता । साक्षी ही बुद्धि की उपाधि से युक्त होकर प्रमाता बन कर अपने को विकारी समझता है, एवं उसी बुद्धि में अपने को बुद्धिसम्बन्ध से रहित समझकर मुक्त हो जाता है । अनित्यत्वहेतु की तरह साक्ष्य

की विकारिता को हेतु बनाकर विद्वान् व्याख्याता ने साक्ष्य का मिथ्यात्व भी इसी प्रसंग में, श्लोक तेईस की व्याख्या में, सिद्ध किया है । साक्षी व साक्ष्य के विवेक से ही साक्षी की निर्विकारता व साक्ष्य की विकारिता सिद्ध होकर, साक्ष्य के मिथ्यात्व को भी सिद्ध कर देती है । जिस प्रकार जड जगत् चेतन शिव से व मिथ्या संसार सत् रूप से प्रकट होता है; उसी प्रकार आनन्द स्वरूप से ही असुख या दुःख रूप प्रपंच प्रतीत होता है । सुख ही असुख का उपादान है, यह अद्वैत वेदान्त का अद्भुत सन्देश है । उपादान कारण कार्य में व्याप्त रहते हुये ही छिपा रहता है, अतः विशिष्ट संस्कारों से उसे ग्रहण किया जा सकता है, अतः प्रपंच दुःखरूप होते हुए भी आनन्द से व्याप्त है, अतः विद्या द्वारा उस आनन्द को व्यक्त करने का प्रयास सफल होता है । आनन्द ही हमारी स्वतंत्रता है । पृ. ८० में इस तत्त्व को सुन्दर हृदयग्राही रूप में उपस्थापित कर व्याख्याता ने साधक को आनन्दमार्ग से तत्त्वज्ञान तक पहुँचने के सोपानों का भी प्रतिपादन कर उसे उपकृत किया है ।

पृष्ठ ८३ में तथ्य की सिद्धि तीन प्रकार से होती है, इस विषय को स्फुट करके अपनी गंभीर चिन्तन प्रणाली के फलस्वरूप प्रामाणिक, यौक्तिक व भावनात्मक प्रकारों का विस्तृत विवेचन किया है । इसी से सम्बन्धित श्लोक २८ में व्याख्या करते हुये श्रद्धा पर गंभीर विचार है । अश्रद्धालु से विचार की व्यर्थता भी बताई है । सर्वज्ञ शंकर ने नास्तिकों के खण्डन के प्रसंग में ब्रह्मसूत्र के दूसरे अध्याय में स्पष्ट किया है कि श्रद्धालु उन युक्तियों से भ्रम में न पड़ जायें, यह उद्देश्य है, न कि वे दुराग्रही सन्मार्गग्राही हो जायें । यह बात दूसरी है कि जो नास्तिक अपने मत में संशयी हैं वे उसकी व्यर्थता को समझ सन्मार्गी बन जायें । यहीं पर वाच्य की उपयोगिता का सूक्ष्म विचार करते हुए सगुणोपासना के त्रिविधभेद और उनकी आवश्यकताओं का निरूपण किया गया है ।

ब्रह्मसूत्र में निरूपित ईश्वर की सभी विशेषतायें पृ. १०५ में संगृहीत कर ली हैं । तात्पर्यानुपपत्ति में तात्पर्य के लिंगों को देकर कुतार्किकों की मनमानी लक्षणा करने की प्रवृत्ति का मुंहतोड़ जवाब पृ. १२१ में दिया गया है । पृ. १२३ आदि में बताया है कि शक्यार्थ-प्रतीति या शक्यार्थ में विरोध-प्रतीति श्रोता की ही है, सार्वजनीन नहीं । इससे "अहम्ब्रह्मास्मि" में लक्षणा न मानने वाले वेदान्तपरिभाषाकार का भी संग्रह व समाधान हो जाता है । श्लोक ५२ में जीवन्मुक्ति पर भी विस्तृत विवेचन है ।

इस प्रकार अतिसंक्षिप्त होने पर भी यह भाष्यकार की अनुपम कृति है । स्वयं विद्यारण्यस्वामी ने पंचदशी में इसे उद्धृत किया है । हिन्दी व्याख्याता ने भी इसके आधार से वेदान्त के विद्यार्थियों

को अनेक तत्त्व समझाने का प्रयास किया है । स्वामी स्वयम्प्रकाशगिरि ने अनेक बृहद्ग्रन्थों का अनुवाद प्रस्तुत किया है । हमें पूर्ण विश्वास है कि दीर्घ व स्वस्थ जीवन प्राप्त कर वे आचार्य शंकर की, जो भगवान् शंकर की ही मानव मूर्त्ति हैं, वाक्पुष्पांजलि से सेवा करते हुये जीवन्मुक्ति का उपभोग करेंगे । उनकी सर्वविध ब्रह्मसंस्थिति ही हमारा उनको आशीर्वाद है ।

शंकर मठ, अर्बुदाचल

श्री शंकर जयन्ती २०५७ वि.

भगवत्पादीय

महेशानंद गिरि

ॐ

॥ श्रीदक्षिणामूर्तये नमः ॥

श्रीशङ्करभगवत्पादाचार्यकृता

वाक्यवृत्तिः

मङ्गलम्

सर्गस्थितिप्रलयहेतुमचिन्त्यशक्तिं

विश्वेश्वरं विदितविश्वमनन्तमूर्तिम् ।

निर्मुक्तबन्धनमपारसुखाम्बुराशिं

श्रीवल्लभं विमलबोधघनं नमामि ॥१॥

श्रीमद्आनन्दगिरिकृत-विवरणम्

तात्पर्येण [०णैव] वेदान्ता यद् वदन्ति परं पदम् ।

तदहं ब्रह्म निर्भेदं सत्यादिपदलक्षितम् ॥

*मुमुक्षुजनानुजिघृक्षया वाक्यवृत्ति-संज्ञितं प्रकरणं प्रारभमाणो भगवान् भाष्यकारो विघ्नोपप्लवोपशमनादि-प्रयोजनसिद्धये परदेवताप्रणामरूपं मङ्गलाचरणं मुखतः सम्पादयन्, प्रकरणप्रारम्भायापेक्षितम् अनुबन्धत्रयं च विषय-सम्बन्ध-प्रयोजनलक्षणं संक्षिप्य प्रतिपत्तिसौकर्यार्थं कथयति–***सर्गस्थितीति** *। तत्र* **श्रीवल्लभं नमामि** *इति सम्बध्यते । श्रियःविद्याशक्तेः, वल्लभः तदाकारः परमात्मा; तं परमात्मानं प्रति वाङ्-मनः-कायप्रणिधानेन प्रह्वीभूतोऽस्मीत्यर्थः ।*

*तस्य तटस्थलक्षणमाह–***सर्गस्थितिप्रलयहेतुमिति** *। 'विश्वेश्वरम्' इत्यादिवाक्यशेषाद् 'विश्वस्य' इति विवक्षितम् । ननु कुतो जगतो निमित्तत्वम् उपादानत्वं च परस्य कूटस्थस्याऽऽस्थातुं शक्यम् ? इत्याशङ्क्य; अनाद्यनिर्वाच्याविद्याशक्तिवशाद् इत्याशयवानाह–***अचिन्त्यशक्तिमिति** *। न च तन्नियमनाऽसमर्थस्य तदीयस्थितिहेतुत्वम् इति विवक्षितत्वात् सर्वनियन्तृत्वं समंजसम् ।* **विश्वेश्वरमिति** *। न च तत्परिज्ञानमन्तरेण तं नियन्तुं स्रष्टुं वा शक्नोतीत्यभिप्रायेणोक्तम्–***विदितविश्वमिति** *। सर्वोपादानत्वप्रयुक्तं सर्वात्मत्वमाह–***अनन्तमूर्तिमिति** *।*

*अथवा तटस्थलक्षणमुक्त्वा स्वरूपलक्षणमाह–***अनन्तेत्यादिना** *। तत्र देशतः कालतो वस्तुतश्च अनन्ता परिच्छेदरहिता मूर्तिः स्वभावः अस्येति व्युत्पत्तिमाश्रित्य अखण्डैकरसघनमुक्तम् ।* **निर्मुक्तबन्धनम्** *इत्यनेन निष्प्रपञ्चत्वं प्रदर्शितम् ।* **अपारसुखाम्बुराशिम्** *इत्यनेन परमानन्दतोक्ता ।* **विमलबोधघनम्** *इत्यनेन कूटस्थदृष्टिस्वभावतोपदिष्टा ।*

'सर्गस्थितिप्रलयहेतुम्' इत्यारभ्य 'अनन्तमूर्तिम्' इत्यन्तेन अज्ञातः परमात्मा शास्त्रप्रतिपाद्यः, तदीयप्रकरणस्यापि विषयः सूचितः । तेन सम्बन्धोऽपि परमात्म-प्रकरणयोः विषयविषयिभावो ध्वनितः । 'निर्मुक्तबन्धनम्' इत्यादिविशेषणद्वयेन सर्वानर्थबन्धननिवृत्तिः अनतिशयानन्दावाप्तिश्च प्रयोजनमुक्तम् । 'विमले' त्यादिविशेषणेन तु प्रयोजनस्य अप्रतिपन्नत्वं प्रत्युक्तम् इति विवेक्तव्यम् ॥ १ ॥

विश्वेश्वरपण्डितविरचितटीका

ब्रह्माऽहमेतद् मयि भाति विश्वं श्रीमाधवप्राज्ञगुरोः प्रसादात् ।
अन्वर्थ-*विश्वेश्वरपण्डिता-ख्यः* तस्याङ्घ्रिपद्मं प्रणतोऽस्मि नित्यम् ॥
श्रुतिस्मृतिपुराणानाम् आलयं करुणालयम् ।
नमामि भगवत्पादं शङ्करं लोकशङ्करम् ॥

परमकृपानिधिः श्रीमच्छङ्कराचार्यभगवत्पादः तापत्रयार्कसन्तप्तानाम् अपरिमितजननादिसंसाराऽध्वश्रमपरिपीडितानाम् आत्मज्ञानशिशिरमधुरजलाकाङ्क्षिणां विदूरशारीरकमीमांसाजलाशयगमनाऽसमर्थानां वाक्यवृत्ति-संज्ञकोपदेशप्रकरण-प्रपापरिकल्पनेन अन्तःशीतलतां विगतक्लेशतां सम्पादयन्; तत्रादौ प्रकरणश्रवणे प्रवृत्तानामधिकारिणाम् अविघ्नेन ब्रह्मप्रतिपत्तितादात्म्यसिद्धये प्रकरणपरिपाट्याऽद्वितीयबोधस्मरणपूर्वकं तन्नमस्कारस्य अवश्यकर्तव्यतां द्योतयन् स्वयं नमस्कुरुते । विमलबोधघनं नमामि इत्यन्वयः । विगतो मलो यस्मादसौ विमलः, विमलश्चासौ बोधश्च विमलबोधः, स च घनं मूर्तिः स्वरूपमिति यावत् । परमात्मनोऽविद्यारहिततया तदविद्याकल्पितस्य घटादिदृश्यस्य अभावेन तदालम्बनरूपो मलो न विद्यतेऽतो विमलो निर्विषयो निर्विकल्पोऽद्वितीयज्ञानम् इति यावत् । ननु अद्वितीयबोधस्य मनसोऽप्यविषयत्वात् कथं नमस्कार-विषयता ? इत्यत आह—विश्वेश्वरमिति । अद्वितीयबोधस्य विश्वस्वामित्वसम्पादनाय शरीरस्वीकरणमेव नोपपद्यत इत्यत आह— अचिन्त्यशक्तिमिति । शक्तिशब्देनाऽत्र मायाऽभिधीयते । सा च बोधात्मनो ब्रह्मणो भिन्नाऽभिन्नत्वादिरूपेण चिन्तितुं नार्हतीति अचिन्त्या ।

अचिन्त्यत्वं मायायाः कथम् इति चेद् ? उच्यते—इयं तु स्वप्रबोधबाध्यत्वात् स्वप्नसदृशी भवति । युक्तिभिर्हीनप्रकाशत्वाद् अस्या मायेति संज्ञा । इयम् (*i*) असती न भवति, दृश्यमानत्वात्, न हि शशविषाणादिकम् असद् दृश्यते ! (*ii*) सती च न भवति । कुतो ? बाध्यमानत्वात्, न हि सन्नात्मा कदाचिद् बाध्यते । (*iii*) आत्मनो न हि भिन्ना भवति, अधिका न [अधिष्ठान-] सत्ताव्यतिरेकेण तस्या मायायाः पृथक् सत्ताभावात्; न हि रज्ज्वामारोपितस्य सर्पस्य तद्भिन्नत्वं, रज्ज्वाद्यभावे तददर्शनात् । (*iv*) न तदभिन्ना भवति । कुतः ? जडत्वात्, न हि जडाजडयोरेकरूपत्वं, वस्तुनो द्वैरूप्याऽसम्भवात् । (*v*) तन्नोभयात्मिका,

विरुद्धत्वात् । (*vi*) नेयं सावयवा, अनादित्वेन स्वकारणावयवाऽभावात् । न स्वकारणं ब्रह्म सावयवं भवति ! (*vii*) नाऽपि निरवयवा, स्वकार्येषु सावयवत्वदर्शनात्, न हि अङ्कुरादिकारणं बीजं निरवयवं भवति । तस्माद् अविचाररमणीया विलासिनीतुल्याऽसत्यभूतैः स्वकार्यविभ्रमैः जीवं मोहयतीव । अतो मायाया अचिन्त्यत्वम् । इदं तु तस्या मायाया दूषणाय न भवति, किन्तु भूषणमेव । एवंभूताऽचिन्त्यशक्तिवशाद् विमलबोधस्य शरीरस्वीकारोऽप्युपपद्यत इति भावः ।

अद्वितीयबोधस्य अचिन्त्यशक्तिवशाच्छरीरस्वीकरणे किं प्रयोजनम् ? इत्याकाङ्क्षायाम्; सार्वभौमस्येव विश्वस्वामित्वेन लीलाप्रयोजनं सूचितमपि लक्ष्मीकान्तत्वेन क्रीडाप्रयोजनं ज्ञापयंस्तस्य विष्णुरूपेणावस्थानमाह—श्रीवल्लभमिति । लोके तस्याः सकलसुन्दरीजनस्य दृष्टान्तभूतसौन्दर्यवत्या इन्दिरायाः प्रसादादेव सुकृतिनां योगिनाम् आकाशगमन-परकायप्रवेशन-बहुरूपस्वीकारादिक्रीडा सम्भवति । तथा च सति तस्या भर्तृबहुशरीरस्वीकारादिक्रीडा सम्भवति इत्यत्र किमु वक्तव्यम् ! इति । शरीरस्वीकरणे क्रीडैव प्रयोजनम् इति 'श्रीवल्लभ'-शब्देन अवगम्यते । ततो विमलबोधस्य श्रीवल्लभरूपेण अवस्थानाद् अपि नमस्कारविषयत्वमुपपद्यत एवेति अर्थाद् लभ्यते ।

ननु विश्वसद्भावे विश्वस्वामित्वं, क्रीडा च सम्भवतः । अतो विश्वं कुत उत्पन्नम् ? इत्याकाङ्क्षायाम्; विमलबोधादेव विश्वोत्पत्तिः इति वक्तुम्; अचिन्त्यशक्तिवशात् तस्य निमित्तकारणब्रह्मरूपेणाऽवस्थानमाह विदितविश्वमिति । विदितं विश्वं सर्वं येन स तथोक्तः, सर्वविदित्यर्थः । सर्वविदो जगन्निमित्तकारणत्वे श्रुतिः 'यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः तस्माद् एतद् ब्रह्म नाम रूपम् अन्नं च जायते' (मुं.१.१.९.) इति । अनुमानमपि — इदं विश्वं विशिष्टविज्ञानवत्पूर्वकम्; कुतः ? विचित्रकार्यत्वात्, चित्रादिवद्—इति । यदा विमलबोध एव अचिन्त्यशक्तिवशात् स्वयम्भूः भूत्वा विविधाकाराकारितमायासाक्षी भवेत् तदा विश्वमुत्पन्नं स्याद् इति वेदितव्यम् । ननु उपादानव्यतिरेकेण केवलं निमित्तं कार्योत्पादकं न भवति, अत्र किमुपादानम् ? इत्यपेक्षायाम्; विमलबोधस्यैव अचिन्त्यशक्तिवशाद् विश्वोपादानत्वमाह—सर्गस्थितीति । यथा लोके कुड्यादिकार्यस्य मृदाद्युपादानाद् उत्पत्तिस्तत्रैव स्थितिस्तत्रैव प्रलयश्च दृश्यते, तथा 'जन्माद्यस्य यतः' इति सूत्रे (१.१.२), 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' (तै. ३.१) इति तद्विषयवाक्ये च ब्रह्मण एव सर्वभूतानामुत्पत्तिस्तत्रैव स्थितिस्तत्रैव लयश्च श्रूयते । अतो विमलबोधस्यैव विश्वोपादानत्वं सिद्धम् इत्यर्थोऽवगम्यते । अत्र यथा ऊर्णनाभिर्जन्तुविशेषः तन्तूत्पादने स्वयमेव निमित्तमुपादानं च भवति तथा विमलबोधश्च, इति कृत्वा 'एकस्यैव निमित्तत्वम् उपादानत्वं च नोपपद्यते' इति शङ्का न करणीया ।

यतो विश्वोपादानं विमलबोधस्ततः तस्य तत्कार्यविश्वरूपेण अवस्थानमाह—अनन्तमूर्तिमिति । अनन्ता मूर्तयो देहा यस्य स तथोक्तः । विमलबोधस्य प्राणिरूपेण अवस्थाने बन्धनप्रसक्तौ, तां परिहरति—निमुर्क्तबन्धनमिति । 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः' (गी. १५.७) इति स्मृतेः आत्मांशस्य मायामूढस्य जीवस्यैव अविद्यातो बन्धो भवति, न तु मायिकस्य अद्वितीयस्य विमलबोधस्य अविद्यारहितस्य स्वमायया प्राणिरूपेण अवस्थितस्य बन्धोऽस्तीत्यर्थः ।

एवं विमलबोधोऽचिन्त्यशक्तिवशाद् विश्वेश्वराद्यनेकरूपेण क्रीडमानोऽपि निर्मुक्तबन्धनश्चेत् तर्हि तस्यैव अनेकरूपावस्थानम् एव वरं तत्तत्सुखसमुद्भवात्, न तु केवलस्वरूपेणावस्थानम् ? इति आशङ्क्य; तत्तत्सुखसद्भावस्य खण्डितत्वाद् न तथेत्याह–अपारसुखाम्बुराशिमिति । **अम्बुराशिरिव अम्बुराशिः, सुखमेवाम्बुराशिः सुखाम्बुराशिः, अपारश्चासौ सुखाम्बुराशिश्चेति स तथोक्तः । 'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते' (तै. ३.६) इत्यादिश्रुतिभ्यः आत्मनं आनन्दरूपत्वावगमाद् विमलबोधस्य अपरिमितानन्दरूपेण अवस्थानमेव वरं, तथापि अनिर्वचनीयमायाशक्तिवशात् स्वेच्छयैवाऽनेकरूपेण अवस्थानलक्षणा क्रीडा सम्भवत्येव ॥१॥**

परमानन्द पाने की अदम्य अभिलाषा मानव की उन सभी चेष्टाओं का स्रोत है जो उसे अन्य प्राणियों से विलक्षण बनाती हैं । अपने स्वरूप को किसी हालत में छोड़ना कोई नहीं चाहता, स्वयं जैसा है वैसा अपने को महसूस करते हुए ही अपनी उपस्थिति रखता है । निज में परिवर्तन किसी को पसंद नहीं, भले ही मजबूरी में करने की कोशिश जरूरी हो जाये । अपनी प्रधानता के बारे में किसी को सन्देह नहीं, चाहे दूसरे उसे न भी समझें । ये स्वभाव मानव को आत्मान्वेषण के लिये बाध्य करते हैं–मैं क्या हूँ ? इसे खोजना जरूरी बनाते हैं । विश्लेषण के बाद कोई इस निर्णय पर भी पहुँच सकता है कि कोई एक वस्तु मैं नहीं या मैं सनातन नहीं, किन्तु अनात्मवादी भी चिन्तन अवश्य इस पर करता है कि व्यक्ति क्या है, वह अविभाज्य इकाई क्या है जो कर्ता-ज्ञाता है, सजीव-निर्जीव की विभाजन-रेखा क्या है । विषयों से आक्रान्त चित्त यद्यपि इस परीक्षण में गंभीरता से तत्पर नहीं हो सकता, जो भी विचारक आत्मजिज्ञासा करते हैं वे अवश्य विषयोन्मुख तो नहीं ही होते, तथापि अपने बारे में आपात निश्चय सभी को रहता है जिसमें अपनी सत्ता, ज्ञातापन, कर्तापन, प्रियता, प्रधानता (शेषिता) और अनुगत निर्विकारस्वरूपता का भान रहता है । मनुष्य की विचारशैली के कुछ मूलभूत आकार हैं जो देश-काल-समाज की सीमायें लाँघकर परिलक्षित होते हैं क्योंकि प्राच्य-पाश्चात्य, पुरातन-नूतन, शिक्षित-अशिक्षित सभी की मनःप्रवृत्ति में एक जैसे उपलब्ध होते हैं । उस शैली से दूर हटते ही दर्शन या जो भी विचारशास्त्र हो, अपनी समाप्ति का प्रारंभ कर लेता है, यदि पुनः उस शैली से तालमेल बैठाने में न सफल हो सके । जैसे कर्तृवर्ग की कार्यशैली से तालमेल न बैठा पाये तो धर्मशास्त्र निरर्थक हो जाता है ऐसे ही विचारकवर्ग की चिन्तनशैली से सामंजस्य के अभाव में दर्शन मूल्यहीन हो जाता है । मानव मनीषा दो अक्षों के सन्दर्भ में प्रवृत्त होती है–प्रत्यक्ष और परोक्ष । अत्यन्त सामान्य मानवीय प्रवृत्ति भी इन दोनों के निर्देश के बिना संभव नहीं; केवल एक अक्ष से मनुष्य का कोई भी व्यवहार नहीं चलता । आत्ममीमांसा भी इसलिये दोनों आयामों की अपेक्षा रखती है, विशेषकर इसलिये कि आत्मविषयक ज्ञान में प्रधान प्रत्यक्षोपाय अत्यंत सीमित सहायता देते हैं और उस ज्ञान के बारे में दो व्यक्ति आपसी विचार करें तो कोई तीसरा तटस्थ प्रत्यक्ष नहीं मिलता जो निर्णायक तथ्य बन सके । केवल आत्मा को विचारविषय बनाने वाला एकमात्र दर्शन वेदान्त है । प्राच्य-पाश्चात्य सभी दर्शन आत्मा पर 'भी' विचार करते हैं किन्तु वेदान्त आत्मा पर 'ही' विचार करता है । यद्यपि इसीलिये संभव है कि अनेक विषयों पर वेदान्त का मत अस्पष्ट हो या अटपटा भी लगे

तथापि इस विशेषज्ञता के युग में इतना तो निर्णीत है कि अन्य सभी से दृष्टि हटाकर आत्ममात्र का विचार करने वाला वेदान्तशास्त्र है । श्रीदक्षिणामूर्ति-शङ्कराचार्य-निजगुरु की अनवरत धारा से प्राप्त शास्त्र न केवल परोक्ष आयाम प्रदान करता है वरन् प्रत्यक्षतुल्य प्रकाश भी डालता है क्योंकि ब्रह्मनिष्ठ आचार्य स्वानुभव के बल से मिश्रित ही उपदेश दे सकते हैं । गुरु का अनुभव हमारे लिये प्रत्यक्ष का कार्य नहीं करता लेकिन प्रत्यक्ष के समकक्ष हो जाता है, नितान्त परोक्ष की कोटि का नहीं होता । आत्मानुसन्धान करने वाले को अनिवार्यतः परोक्ष आयाम चाहिये जो उस शास्त्र से सुलभ है जिसने केवल आत्मा को ही विचार-क्षेत्र बनाया है । श्रद्धा हो/ न हो, किंतु आत्मविशेषज्ञता का शास्त्र होने से उपनिषत् आत्मविचारक के लिये अनुपेक्षणीय होना स्वाभाविक है; उसे छोड़ अन्य किन्हीं भी उपदेशों या विज्ञानों या पुराण-इतिहासों पर निर्भर होकर आत्म-परीक्षा जानलेवा रोग के लिये नीम-हकीमों की शरण जाने जैसा है क्योंकि वे कोई भी मात्र आत्मा के शास्त्र हैं नहीं । वेदान्त आत्मा को समझाते हैं सुस्पष्ट वाक्यों से, वचनों से । वह समझ हमें आये इसके लिये हमारी योग्यता आवश्यक है जिसके उपाय भी वेदान्त सुझाते हैं लेकिन यह निर्णीत है कि साधनों में तात्पर्य अवान्तर ही है, मुख्य नहीं । उपनिषत्-प्रतिपादित तत्त्व का विचार किसी तरतीब से करना पड़ेगा क्योंकि अनेक ढंगों से वस्तु समझायी गयी है जिनसे प्राप्त जानकारी का आपसी सामंजस्य न बैठा तो उसके बारे में निश्चय हो नहीं पायेगा । मान्यतात्मक निश्चय अत्यन्त अयुक्त हो सकता है–प्रायः होता ही है–लेकिन अनुभवात्मक निश्चय यदि प्रमाण पर निर्भर है तो युक्तियुक्तता की अपेक्षा रखता है जिसका प्रमुख अंश है उस प्रमाण से प्राप्त सूचनाओं का सामंजस्य । वाक्य अपने अभिप्रेत अर्थ को प्रकट करने के लिये कैसे प्रवृत्ति करता है, अर्थात् तात्पर्य समझने के लिये वाक्य पर किस तरह विचार करना जरूरी है यह शारीरकमीमांसा में निर्धारित है । वाक्य की प्रवृत्ति वस्तुतः अधिकारी द्वारा किया विचार ही है । विशेषज्ञ की भाँति अवान्तर-अभिप्रायविषयों की उपेक्षा-सी करते हुए मुख्य अभिप्राय-विषय के उपदेशक वाक्यों का कैसे विचार करें कि प्रमा-उत्पादन में वाक्य का व्यापार सफल हो इसके लिये भगवान् भाष्यकार ने 'वाक्यवृत्ति' नाम का प्रकरण रचा है । इसके अध्येता इसे सफलता से समझें इसके लिये ग्रंथमुख में वर्णनीय तत्त्व को महनीय रूप में प्रकट कर उसकी आदरणीयता व्यक्त की है क्योंकि मीमांसा में न केवल विचार, विचारेच्छा या तत्परता, वरन् आदरणीयता भी जरूरी है : आदरणीय के बारे में उसके अनुरूप चिंतन मीमांसा है । बिना आदर के किया विश्लेषण न केवल उसके अननुरूप होगा वरन् मीमांसा भी नहीं हो सकेगा । प्रतिपाद्य केवल आत्मा है जिसकी वास्तविक आदरणीयता उत्कट विवेकी को ही स्फुट होगी, सामान्यतः प्रवृत्त विचारक उसे आदरणीय समझने के लिये कुछ सूचक चाहते हैं, उपाधि चाहते हैं, जैसे विद्वानों के नाम के साथ शास्त्री, आचार्य आदि उपाधि देखकर उनकी आदरणीयता स्पष्ट होती है । सभी को आत्मा आदरयोग्य समझ आये और वे उसकी मीमांसा करें इस उद्देश्य से परम कृपालु आचार्य का यह मङ्गलाचरण है :

उसे नमस्कार है जिसका स्वरूप वह बोध है जिसका कार्य-कारणरूप अविद्या से आत्यन्तिक असम्बन्ध है । अज्ञों के उपकारार्थ उसने विद्याशक्ति का आकार ग्रहण किया है । चिन्तन की सीमाओं में न बँधने वाली सामर्थ्य से युक्त वह विश्व के जन्म-स्थिति-भंग का इकलौता हेतु और सबका अधिपति है । वह सर्वज्ञ ही इन अनन्त रूपों में उपलब्ध है जिसका स्वभाव ही है किसी सीमा वाला न होना । सप्रपंच प्रतीत होते हुए ही वह सदा सब बंधनों से छूटा है, परम आनन्दस्वरूप है ।

वेदान्तों की मर्यादा है कि आत्मा समस्त का कारण है । इसे संकुचित अर्थों में नहीं समझना है कि कुछेक चीजों का या भावों का कारण है या अनेक कारणों में एक यह भी है, वरन् पूर्ण विकसित अर्थ में समझना है कि सभी का यही इकलौता कारण है । इससे आत्मा की आदरणीयता प्रकट होती है । साथ ही उसकी सामर्थ्य के संमुख अभिभूत हो जाना पड़ता है । जो कुछ प्रतीयमान है उसका निरंकुश अधिष्ठाता आत्मा ही है : अपनी-अपनी सत्ता और व्यवहारयोग्य सामर्थ्यों के लिये बिना अपवाद सभी आत्मा पर आश्रित हैं । आत्मा से कुछ छिपा नहीं है क्योंकि सभी रूप वही धारण किये है । जैसे उसकी प्रपंचशक्ति दुर्विज्ञेय है ऐसे ही उसकी विद्याशक्ति भी जो आत्मा की यह आश्चर्यमय वास्तविकता अनावृत करती है कि निःसीम नित्य आनंद वह कभी सापेक्ष नहीं होता !

शास्त्रीय परिपाटी से यहाँ जगज्जन्मादिहेतुत्व, नियमन, प्रवेश और तिरोभाव-आविर्भाव बताकर परम आत्मा का वह लक्षण कहा है जो उसका स्वरूप न होने पर भी केवल उसी का ज्ञान करा देता है । अचिन्त्यशक्ति कहकर तिरोभाव, अनन्तमूर्ति कहकर प्रवेश और श्रीवल्लभ से आविर्भाव बताया है यह आनंदगिरीय वृत्ति का अभिप्राय है । जगत् के निमित्त व उपादान दोनों तरह का कारण एक आत्मा ही है यह बताने से अद्वैत स्फुट हो गया : कार्य-कारण में परस्पर द्वैत संभव नहीं, कारण अनेक हों तो उनमें द्वैत हो सकता है पर जब कारण भी वह अकेला ही है तो सद्वयता कौन संपन्न करे ! अतः आत्मा का जो स्वरूप है, जिसे समझने से अनात्मा से असंपृक्त उसका बोध प्राप्त होता है, वह भी यहाँ व्यक्त किया : अनंतमूर्ति का निष्कर्ष है कि वह हिस्सों और कमोबेश से रहित सस्वरूप वस्तु है । बंधनहीन अर्थात् निष्प्रपंच है । वह किसी परले किनारे होने वाला नहीं वरन् प्रत्यक् है, 'उस' पार वाला नहीं 'इसी' पार है ! अपरिवर्तनीय चेतना और परम आनंद आत्मा का स्वरूप है ।

इससे अतिरिक्त मंगलश्लोक में व्यक्त किया कि वेदांतशास्त्र और इस प्रकरण ग्रंथ का प्रतिपादनीय विषय वह परम आत्मा है जिसे हम सही की जगह गलत तरह से जान रहे हैं क्योंकि उसकी वास्तविकता से परिचय नहीं है । सभी अनर्थात्मक बंधनों से, अपेक्षाओं से छूट कर असीम सुखलाभ वह प्रयोजन है जिसे हमें दिलाना इस ग्रंथ का करुणामय प्रवर्तक है । विमलबोध आत्मा को कहने से स्पष्ट है कि अभी हम समलबोध रूप से उसी को जान रहे हैं; यही आत्मा का सामान्य ज्ञान है जो हमें उसके असामान्य साक्षात्कार की ओर जाने का प्रथम कदम बनता है । यदि सर्वथा अज्ञायमान हो तो आत्मजिज्ञासा असंभव होगी ।

विश्वेश्वरपण्डित ने इस श्लोक में 'विश्वेश्वरम्' से महेश, 'श्रीवल्लभम्' से विष्णु और 'विदितविश्वम्' से ब्रह्मा का उल्लेख कर उन्हें प्रणाम माना है । लौकिक क्रीडायें भी श्रीकृपा से ही हो पाती हैं तो साक्षात् श्री के भर्ता अनेकानेक रूप धारण करें इसमें क्या आश्चर्य ! समष्टि जीवस्वरूप नारायण हैं, सभी जीवों का रूप धरे वे ही उपस्थित हैं, यह उनकी क्रीडा है । प्रजापति ने सृष्टि की क्योंकि वे सारे विश्व के जानकार हैं अतः वे विदितविश्व हैं; उनमें ब्रह्म का जगत् के प्रति निमित्त रूप प्रकट है । अखण्ड 'विमल-बोध' ही संसार का उपादान व निमित्त है और वही शासक एवं शासित है, उसके तत्तत् व्यापार के अभिप्राय से विभिन्न नामरूपों का उससे संबंध कहा-समझा जाता है । अनन्त जीवरूप मूर्तियों में वही है लेकिन अपनी अचिन्त्य माया शक्ति से अतः जीवरूप से बद्ध लगता हुआ ही अपने स्वरूप से सदा निरस्तबन्धन ही है । जीवता ही वह कल्पित पदार्थ है जो दुःखादि मूढता प्रकट करता है, उस पदार्थ की सापेक्षता से ही संसरण है न कि केवल अज्ञान से, अतः एक ब्रह्म मुक्त व बद्ध दोनों हो जाता है; वास्तव में मुक्त ही रहता है, कल्पित बंधन वाला होता है और अपने एक कल्पित रूप में भी व्यावहारिक मुक्तता प्रदर्शित कर देता है । सर्वज्ञात्ममुनि ने (२.१७३-२०८) विस्तार से इस विषय को सुस्पष्ट किया है । यद्यपि संसारदशा में भी परमात्मा अपार सुखरूप ही है तथापि जीव को वह आनंद अनावृत नहीं अतः वह मुमुक्षु हुआ उसे प्रकट करना चाहे यह संगत है ।

— १ —

यस्य प्रसादादहमेव विष्णुः

मय्येव सर्वं परिकल्पितं च ।

इत्थं विजानामि सदात्मरूपं

तस्याङ्घ्रिपद्मं प्रणतोऽस्मि नित्यम् ॥२॥

*'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ' (श्वे. ६.२३) इति श्रुतेः इष्टदेवताभक्तिवद् गुरुभक्तेरपि विद्याप्राप्तौ अन्तरङ्गसाधनत्वमस्ति इति शिष्यशिक्षार्थं विशेषणसङ्कीर्तनपूर्वकं गुरुचरणसरोजं प्रणमति— **यस्येति** । **नित्यमिति** भक्तिश्रद्धयोरतिरेकोपवर्णनम् ॥२॥*

एवं सर्वैर्वेदान्तैः ज्ञेयत्वेन उपास्यत्वेन च निर्दिष्टं गुरूपदिष्टं सोपाधिकं निरुपाधि च ब्रह्मरूपमभिधाय, नमस्कृत्य; प्रतिपत्तिसिद्धये स्वगुरुनमस्कारं कुरुते—यस्य प्रसादाद् इति । **आचार्यप्रसादाद् अविद्यानिवृत्तौ तदविद्यापरिकल्पितदेहेन्द्रि-याद्युपाध्यवच्छेदापगमाद् उपाधिनिर्मुक्तघटाकाशवत् परिपूर्णतां प्रतिपद्य ज्ञात्वा स्वयमेव विष्णुत्वं विदित्वाह—**अहमेवेति । **तर्हि विश्वभ्रमाधिष्ठानत्वं तवाऽस्ति किम् ? अस्त्येव इत्याह—**मय्येवेति । **ननु जीवस्य विष्णुत्वम्**

अनुपपन्नं, प्रत्यक्षविरोधाद्; अतो भावनामात्रं तद् ? इत्याशङ्क्य; न हि जीवो नाम कश्चित् परमार्थतो ब्रह्मव्यतिरेकेण अस्ति अतो ब्रह्मैव स्वस्मिन् परिकल्पितमायया जीवरूपेण विवर्तते । तथा च सति तस्य जीवस्य वेदान्तवाक्यश्रवणादिना ब्रह्माऽपरोक्षज्ञाने सति अज्ञाननिवृत्त्या तत्कार्यभूताऽब्रह्मत्वनिवृत्तौ सत्यां ब्रह्मत्वम् उपपन्नं स्यात् । इति इममर्थं मनसि निधायाह—इत्थं विजानामीति । आत्मस्वरूपमहम् इत्थम् 'अहं ब्रह्म' इत्यपरोक्षतया जानामीत्यर्थः । न च ब्रह्मणोऽपि अवाङ्मनसगोचरत्वात् कथं ज्ञानविषयत्वम्—इति वाच्यम्; फलव्याप्तित्वेन विषयत्वाभावेऽज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तेः अपेक्षितत्वेन अखण्डाकारान्तःकरणवृत्तिविषयत्वात् ।

न च जीवस्य ब्रह्मत्वे प्रत्यक्षविरोधः । 'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं, प्रकाशयति तत् परम्' (गी. ५.१५-१६) इत्यन्तेन भगवद्गीतायाम् अज्ञानावृताद्वयानन्दरूपस्य अत एव जीवत्वदुःखित्वादियुक्तस्य ब्रह्मत्वानुपपत्तिः स्यात् । यस्य जीवस्य पुनः ज्ञानेन अज्ञानं निवृत्तं भवति तस्य अद्वयानन्दादिब्रह्मरूपप्रकाशसद्भावेन ब्रह्मत्वोपपत्तिः स्याद् । इति कर्तृभेदेन ब्रह्मत्वानुपपत्त्युपपत्त्योः प्रतिपादितत्वात् । न हि एकस्य अज्ञानिनो ब्रह्मत्वानुपपत्त्या अन्यस्यापि तदनुपपत्त्या भवितव्यम् इति नियमोऽस्ति ! तथा चोक्तं वाशिष्ठे 'अज्ञस्य दुःखौघमयं ज्ञस्याऽऽनन्दमयं जगत् । अन्धं भुवनमन्धस्य प्रकाशं तु सुचक्षुषः ॥' इति । अस्यार्थः—यथैकमेव जगद् अन्धापेक्षया तमोरूपेण अवभासते, अनन्धापेक्षया प्रकाशरूपेणावभासते, एवम् अज्ञस्य दुःखराशिरूपेण जगद् भासते, ज्ञस्य तु तदेव जगत् सच्चिदानन्दमयं प्रकाशत इति । अतोऽज्ञस्य दृष्ट्या ब्रह्मत्वमनुपपन्नमपि तत्त्वदृष्ट्या (°त्त्वज्ञदृ°) ब्रह्मत्वमुपपन्नम् इति भावः ।

तद्विज्ञानस्य कादाचित्कत्वशङ्कां परिहरति—सदेति । मायिकदेहपातपर्यन्तं स्वरूपमनुभवामीत्यर्थः । अथ वा; देहेन्द्रियादिपरिच्छिन्नत्वाभिमानयुक्तस्य जीवस्य अपरिच्छिन्नब्रह्माकारत्वम् अनुपपन्नम् । स चाभिमानो ब्रह्मापरोक्षज्ञानदार्ढ्यादेव निवर्तते । तच्च ज्ञानदार्ढ्यम् 'आवृत्तिरसकृदुपदेशाद्' इति (४.१.१) अधिकरणन्यायेन चिरकालकृतवेदान्त-श्रवणमनननिदिध्यासनाभ्यासादेव भवति । अतो देहादिपरिच्छिन्नत्वाभिमाननिवर्तकब्रह्माऽपरोक्षज्ञानदार्ढ्याय सर्वदाऽऽत्मस्वरूपम् अनुभवामि इत्याह—इत्थं विजानामि सदात्मरूपमिति । सदा यावज्ज्ञानदार्ढ्यम् इत्थम् 'अहं ब्रह्मैव' इति आत्मरूपं स्वस्वरूपं विजानामि अपरोक्षतयाऽनुभवामि । एतेन—यस्य कस्यचिद् अपरोक्षज्ञाने जातेऽपि अपरिच्छिन्नस्य परिच्छिन्नत्वविषयाऽसम्भावना-विपरीतभावनानिरासकतया ज्ञानदार्ढ्याय शमादियुक्तः सन्, विजातीयप्रत्ययनिराकरणपुरःसरम् 'अहं ब्रह्मैव' इति सर्वदाऽऽत्मचिन्तनं कुर्याद्—इत्युक्तं भवति । 'अहमेव विष्णुर्मय्येव सर्वं परिकल्पितम्' इत्यनेन अपरोक्षज्ञानसद्भावः सूचितः । 'इत्थं विजानामि सदात्मरूपम्' इत्यनेन असम्भावनानिवर्तकाऽपरोक्षज्ञानदार्ढ्यं चाऽस्तीति सूचितम् ।

अतोऽस्य श्लोकस्याऽयमर्थः—यस्य गुरोः प्रसादाद् अपरोक्षज्ञानं निःशेषदेहादिपरिच्छिन्नाभिमाननिवर्तकज्ञानदार्ढ्यं च निरन्तराऽनुभवेन सिद्धं तस्य अङ्घ्रिपद्मम् प्रणतः अस्मि नित्यम् इति । स्वस्य विष्णुत्वकथनं स्वकीयग्रन्थस्य अनायासेन ब्रह्मापरोक्षज्ञानजनकत्वप्रदर्शनार्थं, गुरूत्कर्षार्थं च; न च स्तुत्यर्थं ! देहव्यतिरिक्तात्मनिष्ठस्य देहाभिमानाऽसम्भवाद् देहनिबन्धनमूलकस्तुत्याद्यपेक्षाऽनुपपत्तेः ॥२॥

बुद्धि स्वभावतः प्रमाण को अत्यधिक महत्त्व देती है लेकिन मन का अधिक आकर्षण जीवित व्यक्तियों की ओर होता है । यदि कोई कह दे 'मैं स्वयं अनुभव कर चुका हूँ' तो प्रमाणों से विरुद्ध लगने पर भी मन उसकी बात मानना चाहता है, भले ही बुद्धि सोचती रहे कि इसका अनुभव यथार्थ नहीं भी हो सकता, आगुन्तक कारणों से प्रभावित हो सकता है इत्यादि । जब प्रमाण और वैयक्तिक अनुभव का सामंजस्य उपलब्ध हो तब तो जिज्ञासु को स्वानुभव से पूर्व ही वह निश्चय हो जाता है जो साक्षात्कारपर्यन्त प्रयत्न में उसे प्रेरित करता रहता है । आत्मा के बारे में प्रमाण वेदान्त हैं और आत्मवेत्ता गुरु वह व्यक्ति है जिसके अनुभवानुसारी वचन मन को उस तथ्य में स्थिर करते हैं । अपने में अनुभव का महत्त्व नहीं क्योंकि वह तो सही और गलत दोनों हुआ करता है लेकिन प्रमाणानुसारी अनुभव का बड़ा महत्त्व है क्योंकि वह प्रमाण में श्रद्धा बढ़ाता है । यद्यपि सत्यापित तो अनुभव को प्रमाण करता है तथापि प्रमाण पर निष्ठा अनुभव से होती है । आत्मा को शास्त्र जैसा बताते हैं वैसा उसे गुरु अनुभव कर समझाता है तभी शिष्य को आत्मबोध होता है, केवल शास्त्र श्रवण से अपरोक्ष अप्रतिबद्ध साक्षात्कार दुर्लभ है । केवल गुरु के उपदेश से आत्मज्ञान संभव है क्योंकि शिष्य को उसमें प्रमाणबुद्धि हो सकती है । सौभाग्य से सदुपदेष्टा मिले तब तो आत्मप्रमा हो जायेगी किंतु दुर्भाग्य से स्वयं भ्रान्त उपदेष्टा हो तो शिष्य भी भ्रम में ही पड़ेगा । इसीलिये उभयतः सुरक्षा की पद्धति मानी गयी है कि प्रमाण और ब्रह्मनिष्ठ दोनों पर आश्रित हो आत्मा का अनुसन्धान करना चाहिये । जो उपदेशक स्वयं को सत्यवेत्ता समझते हैं लेकिन उनका उपदेश वेदान्तों से तालमेल न रखकर उनके प्रतिकूल है वे स्वयं भ्रम में हैं यह आत्मजिज्ञासु निर्णय कर सके इसलिये प्रमाण को निरपेक्ष रखा गया । वे उपदेष्टा धूर्त हों ऐसा नहीं, जैसा उनका अनुभव है, निश्चय है वैसा बताते हैं लेकिन खुद ही सही नहीं समझे हैं इसलिये जो उपदेश देते हैं वह भी गलत होता है । आत्मबोध उपासनामार्ग नहीं है, विचारमार्ग है अतः जिज्ञासु परीक्षा से मुँह नहीं मोड़ सकता : प्रमाण का तात्पर्य निश्चित करना और गुरु तदनुसार कह रहा है या नहीं यह निर्धारित करना जिज्ञासु का कर्तव्य है जिसे पूरा किये बिना वह शिष्य नहीं बन पायेगा । अतः ग्रंथारंभ में ही आचार्य स्वानुभव प्रदर्शित करते हैं और उसके लिये गुरु के प्रति कृतज्ञता प्रकट कर यह इंगित करते हैं कि यथाप्रमाण अनुभव रखने वाले गुरु के प्रति भक्ति चित्त में हो तभी वेदान्तों का अर्थ प्रतिभात हो सकता है । आनंदगिरिस्वामी ने गुरुभक्ति को विद्याप्राप्ति का 'अन्तरंग' साधन घोषित किया है अर्थात् कर्मादि की तरह यह चित्त शोधन में ही उपाय नहीं है वरन् व्यंजक है, ज्ञानोत्पत्ति के लिये अनिवार्य उपाय है । जैसे प्रतिबिंब की प्रशंसा का बिम्ब की स्तुति में तात्पर्य होता है ऐसे शिष्य की सुयोग्यता का वर्णन

उसके गुरु की स्तुति के लिये ही होता है; यदि किसी विद्यालय के छात्र विशेष उपलब्धियाँ करते हैं तो उन छात्रों के उल्लेख से प्रशंसा विद्यालय की की जाती है । इसी प्रकार अपने श्रीगुरु के चरणकमलों में प्रणाम करते हुए कहते हैं –

जिनकी कृपा से मैं यह अनुभव कर रहा हूँ कि मैं ही व्यापक चिन्मात्र हूँ और स्वरूप व संसर्ग दोनों तरह से सब दृश्य मुझ ही पर अध्यस्त हैं, सनातन आनंद स्वरूप मैं ही हूँ; उनके चरणकमल के संमुख मैं हमेशा श्रद्धा-भक्ति से अवनत हूँ ।

गुरुकृपा का परिचय यही है कि दृश्यमात्र की तुच्छता भास जाये, अपनी निरपेक्ष परिपूर्ण स्वप्रकाश आनंदरूपता निरावृत हो जाये । दृश्यों की उपलब्धि सद्गुरु की कृपा नहीं समझनी चाहिये; कृपा समझें भी तो उसे उनका प्रसाद नहीं कह सकते क्योंकि दृश्य प्रदान करने में उन्हें प्रसन्नता नहीं होती । अधिक नशाखोर जीवित रहने के लिये कुछ नशा चाहता है, नशा छुड़ाने वाले को उसे उतना नशा देना भी पड़ता है लेकिन वह देने में उसे प्रसन्नता नहीं होती क्योंकि जानता है कि नुकसानदेय है; ऐसे ही निर्विषय करने को तत्पर गुरु जो कुछ विषय देता है वह क्लेश से ही, न कि खुशी से । जब साधक का मन गुरु के बारे में निःशङ्क होगा, उनके अनुभव की सचाई के सम्बन्ध में संदेह आदि की हलचल नहीं रहेगी तभी उनका उपदेश कारगर हो सकता है । यह विश्वासमात्र से साध्य नहीं है, परीक्षा, विचार, विश्लेषण से साध्य है । इस मनःस्थिति को बिना पाये शिष्य गुरु का प्रसाद ग्रहण नहीं कर सकता । जो अद्वैत उपनिषदों द्वारा प्रतिपाद्य है वही गुरूपदेश से प्राप्य अनुभव है जिसमें दृश्य न केवल ऐसा लगे कि मुझसे असंबद्ध है वरन् यह भी स्पष्ट हो कि दृश्य है ही नहीं और अपनी व्यापक ज्ञानरूप अवस्थिति का भान बना रहे । जीव का शोधित रूप स्पष्ट अनुभव में आये इसके लिये प्रधान व्यापार गुरु के उपदेश का है, वह रूप ही परमात्मा है यह विज्ञान कराने के लिये प्रधान व्यापार शास्त्र का है । श्लोकाक्षरों में कहा 'मुझमें ही सब परिकल्पित है'–'दृश्य' तो फलितार्थ है–क्योंकि न केवल दृश्य वरन् द्रष्टृतया भासमान उपाधि भी अध्यस्त समझानी है; मेरा भी जो मैं-पना, अहंकार है वह भी मुझमें–'मैं' से लक्ष्य होने वाले में–अध्यस्त ही है । द्वैतमिथ्यात्वपूर्वक ही अद्वैत का प्रतिभान होता है इस वेदान्तमर्यादा को यहाँ हेत्वर्थक 'च' से कहा–क्योंकि सब मुझमें कल्पित है इसलिये मैं ही विष्णु हूँ । कल्पना साधिष्ठान ही संभव है इसके स्मारणार्थ अपना अधिष्ठानरूप से उल्लेख किया, न कि आत्मा की कल्पनासहितता को अनिवार्य बताने के लिये । अतएव निरध्यास सद्-आत्म-स्वरूप का कथन कैवल्यदशा का द्योतक है । वास्तव में प्रत्यक् स्वरूप सन्मात्र है, प्रारब्धवश सबकी प्रतीति उसी के विलास रूप से है । अंतरंग होने से फलकाल पर्यंत गुरुभक्ति रहना जरूरी है । वस्तुतस्तु

गुरु के नित्य पादपद्म में प्रणति है : ब्रह्मवित् ब्रह्म होता है, अत एव ब्रह्म को ब्राह्मण कहकर उसकी न घटने न बढ़ने वाली महिमा उपनिषत् में बतायी है और विधान किया है कि उसी का 'पदवित्' होना चाहिये क्योंकि उसे जानकर ही कर्मबंधन से छुटकारा मिलता है । गुरु अर्थात् ब्रह्म का नित्य चरण एक ही है, अज ही एकपात् है,–तुरीय; तन्मात्र रूप से अवस्थान सनातन प्रणाम है ।

विश्वेश्वरपण्डित ने स्पष्ट किया कि जीव कल्पित है अतः तत्त्वज्ञान से अपनी परिच्छिन्नता का बाध कर वह स्वयं को व्यापक समझे यह संगत है । परमात्मा यद्यपि ज्ञेय नहीं तथापि उसके बारे में जो अज्ञान है वह शास्त्रजन्य ज्ञान से हटता है जिससे परमात्मा का स्वरूप सुस्पष्ट भासने लगता है । आत्मा एक होने पर भी उपाधिभेदवश प्रमाता अनेक हैं अतः बहुतेरे मुक्तों और असंख्य बद्धों की प्रतीति उपपन्न है क्योंकि ये प्रतीतियाँ प्रमाताओं को विषय करती हैं । आत्मा का अनुभव अविद्या हटाने के लिये दृढता चाहता है जिसके लिये बहिर्मुखता छोड़कर निरन्तर आत्मा के श्रवण-मनन-निदिध्यासन में ही तत्पर रहना आवश्यक है क्योंकि तभी 'अद्वैत संभव नहीं' यह भाव हटेगा और द्वैतचिन्तन रूप विपरीत भाव आने का मौका नहीं पायेगा । आचार्य ने यह कहा कि 'मैं सदा इसी भाव में रहता हूँ' ताकि शिष्य भी समझ ले कि उसे भी उस भाव में लगातार रहने की कोशिश करनी पड़ेगी क्योंकि अध्यात्मशास्त्र में सभी जगह सिद्ध का जो स्वभाव बताया जाता है वह साधक के लिये प्रयत्नपूर्वक अनुष्ठेय होता है ।

विषय-सम्बन्ध-प्रयोजन पूर्वश्लोक में बताये थे, इस श्लोक में अधिकारी बता दिया कि जो हमेशा गुरु के चरण में प्रणाम करता है, हमेशा के लिये उन्हें अपना अहंकार भेंट करने को तैयार है, वही इस प्रकरण से सफल बोध पा सकता है ।

– २ –

अधिकारी

तापत्रयार्कसन्तप्तः कश्चिदुद्विग्नमानसः ।

शमादिसाधनैर्युक्तः सद्गुरुं परिपृच्छति ॥३॥

*इदानीं सुखप्रतिपत्तये शिष्याचार्योक्तिप्रत्युक्तिव्याजेन प्रकरणम् अवतारयन्नधिकारिणं साधनचतुष्टयविशिष्टमनूद्य तदीयप्रश्नम् उत्थापयति–**तापत्रयार्केति** । आध्यात्मिकं ज्वरादिकृतम्, आधिभौतिकं व्याघ्रादिजनितम्, आधिदैविकं चातिवातादिप्रसूतं तापत्रयमुच्यते । **कश्चिद्** इत्यधिकारिदुर्लभताऽभिधीयते । **शमादीति** अत्र आदिशब्देन दमोपरतितितिक्षासमाधानश्रद्धा गृह्यन्ते, उक्तानाम् अनुक्तोपलक्षकत्वात् ॥३॥*

'आचार्यवान् पुरुषो वेद' (छां. ६.१४.२) इत्यादिश्रुतिभ्य आचार्याच्छिष्यस्य विद्यालाभदर्शनात् शिष्याचार्यप्रश्नोत्तररूपेणैव तत्त्वं निरूपयितुं प्रथमं तावच्छिष्यस्य लक्षणमाह—तापत्रयेति । तापत्रय-शब्देन आध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकस्ताप उच्यते । (*i*) आत्मानं देहमधिकृत्य प्रवर्तत इति अध्यात्मम् । अध्यात्मशब्देन श्रोत्रादिज्ञानेन्द्रियपञ्चकं, वागादिकर्मेन्द्रियपञ्चकं, प्राणादिवायुपञ्चकं, मनआद्यन्तःकरणचतुष्टयं चोच्यते । तत्सम्बन्धी ताप आध्यात्मिकः—व्याध्यादिः, कामादयश्च । (*ii*) भूतानि पृथिव्यादीनि अधिकृत्य भवतीति अधिभूतम् । अधिभूतशब्देन इन्द्रियगोचर उच्यते । प्राणिहिंसकाः चोरव्याघ्रनक्रादयः अभिप्रेताः । तत्सम्बन्धी तापः उपप्लव आधिभौतिकः । (*iii*) अधिदैवशब्देन 'दिग्वातार्कप्रचेतोऽश्विवह्नीन्द्रोपेन्द्रमित्रकाः । चन्द्रो विष्णुश्चतुर्वक्त्रः शम्भुश्च करणाधिपाः ॥' इति निर्दिष्टा इन्द्रियाधिदेवता उच्यन्ते । तत्सम्बन्धी ताप उपप्लव आधिदैविकः—अतिशीतोष्णवात-वर्षादिः । अत्युग्रतापहेतुभूतग्रीष्ममध्यन्दिनाऽर्कवदसह्यत्वात् तापत्रयमेवार्कः तेन सन्तप्तः ।

उद्विग्नमानस इति । व्याकुलितमना इहामुत्रार्थफलभोगाद् विरक्त इत्यर्थः । ननु विषयजनितसुखस्यैव सर्वैः प्रार्थ्यमानत्वात् कथं तत्त्यागो घटत इति चेत् ? न । कर्मसाध्यस्य कुस्यादेरिवाऽनित्यत्वेन विषयसुखानामपि साधनपारतन्त्र्य-क्षयिष्णुत्वदर्शनाद् अल्पसुखापेक्षया बहुतरदुःखसम्भवाच्च विषयसुखाभासेभ्यो युक्तिमतां विरक्तिरेव स्यात् ।

न च—भिक्षुभिया पचनकरणाऽभाववद्, मृगभिया शाल्यादिकृष्यनारम्भकरणवद्, मत्स्यग्रहे केशकण्टकादिसहितमत्स्यादिकं गृहीत्वा हेयांशत्यागेन उपादेयांशग्रहणवद्, विषयसुखस्य दुःखभूयस्त्वेऽपि दुःखांशपरिहारेण च सुखपरिग्रहणम्—इति वाच्यम् । विषमिश्रितमध्वादिवद् दुःखपरिहारेण सुखग्रहणाऽसम्भवात् तत्त्याग एव युक्तः । तर्ह्यत्र विषयसुखस्याऽनित्यत्वेन दुःखमिश्रत्वेन च त्याज्यत्वेऽपि 'अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति' (श. ब्रा. २-६-३-१) 'अपाम सोममृता अभूम' (अथर्वशिर. ३) इत्यादिश्रुत्या स्वर्गादिभोगस्य नित्यत्वप्रतिपादनात्, 'यत्कृतकं तदनित्यम्' इति युक्त्यनुगृहीतदुःखमिश्रितत्वाऽभावाच्च तत्त्यागः कथमिति चेत् ? न । 'तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयत एवमेवाऽमुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते' (छां. ८.१.६) इत्यादियुक्त्यनुगृहीतश्रुत्या स्वर्गादिभोगस्य अनित्यत्वप्रतिपादनात्, क्षयिष्णुत्वाऽनित्यत्वसातिशयत्वादिजनितदुःखस्यापि अनिवार्यत्वात्, तत्त्यागोऽपि युक्त एव । नित्यत्वप्रतिपादिकाया श्रुतेः का गतिरिति चेत् ? 'आभूतसम्प्लवस्थानममृतत्वं हि भाष्यते' (बृ. वार्ति. ६.२.१४३) इत्यापेक्षिकनित्यत्वप्रतिपादनपरत्वात् । तस्माद् उभयविधसुखाद् विराग एव श्रेयान् ।

शमादिसाधनैर्युक्त इति । शमादि-शब्देन शम-दम-क्षान्त्याऽऽर्जव-समचित्तत्वादयः (गी. १८.४२; १३.९) अभिप्रेताः । शमः—अन्तःकरणोपरमः । दमः— बाह्यकरणस्य आत्मज्ञानविरोधिबहिर्व्यापारोपरमः । क्षान्तिः—परापराधेऽप्यविक्रिया । आर्जवम्—ऋजुभावः कायवाङ्मनसाम् एकरूपता । समचित्तत्वम्—प्रियाऽप्रियप्राप्तिषु हर्षविषाद-राहित्यम् ।

सद्गुरुं सम्यग्दर्शनरूपसम्पन्नं (°पसत्सं°) वेदान्तशास्त्रपरिज्ञानिनं मोक्षकामः सन् वेदान्तमहावाक्यतो विशेषतः स्वरूपजिज्ञासया परिपृच्छति; पृच्छतीति पदं प्रणिपातसेवयोः उपलक्षणम्, 'तद्विद्धि प्रणिपातेन' (गी. ४.३४) इति भगवद्वचनेन गुरुशिष्यलक्षणयोर्दर्शितत्वात् ।

ननु मोक्षसिद्ध्यर्थम् आत्मविचाराय गुरुमुपसृत्य प्रष्टुं शिष्यः प्रवर्तत इत्युक्तमिदम् अनुपपन्नम् । 'अविप्रतिपन्ने निश्चिते वा न्यायो विचारो न प्रवर्तते, किन्तु विप्रतिपन्ने सन्दिग्धे' । अत्रात्मनि (*i*) विप्रतिपत्तिर्नास्त्येव, अहं कर्ताऽहं भोक्ताऽहं गच्छामि अहं तिष्ठामि इति कर्तृत्वभोक्तृत्वाद्याकारेण अनवरतमनुभूयमानत्वात् । (*ii*) प्रयोजनाभावादपि न विचारमर्हति । न च तज्ज्ञानात् संसारनिवृत्तिः प्रयोजनमिति वाच्यम्; कर्तृत्वादिरूपात्मज्ञानेन सह संसारावस्थानस्य दृष्टत्वेन उभयोर्विरोधाभावात् । न च—अनध्यस्तात्मविज्ञानात् तत्र अध्यस्तस्य संसारस्य निवृत्तिः स्याद्—इति वाच्यम्; (*iii*) अध्यास एव दुर्निरूपत्वेन तदसम्भवात् । न हि कज्जलमुकुरयोरिव जडाजडयोः अत्यन्तविलक्षणयोः आत्माऽनात्मनोः परस्परं तादात्म्यं सम्भवति । तस्माद् अध्यासाऽनिरूपणाद्, आत्मनि सन्देहाभावात्, संसारनिवृत्तिरूपप्रयोजनाऽभावाच्च आत्मविचाराय गुरूपसदनं न कर्तव्यमिति चेत् ?

(*iii*) न । वस्तुतस्तु आत्माऽनात्मनोः परस्परतादात्म्याभावेऽप्यत्यन्तविलक्षणयोः दुर्घटकारिण्यचिन्त्य-शक्त्याऽऽवृतत्वेन विवेकाभावे सति अन्यस्मिन्नन्यारोपं कृत्वा 'अहं मनुष्यो ब्राह्मणः क्षत्रियो ममायं पुत्रः पशुः' इत्याद्यनादिमिथ्याव्यवहारः सम्भवति । इदमेव प्रपञ्चस्य अध्यस्तत्वम् नाम यदुत अन्यस्मिन्नन्यबुद्धिता । 'अध्यासो नाम अतस्मिंस्तद्बुद्धिः इत्यवोचाम' इति भाष्यकारैरुक्तत्वात् । अध्यासकारणभूतमायाया अनिर्वचनीयत्वेन तत्कार्य-भूताऽहङ्काराद्यध्यासस्याऽपि अनिर्वचनीयत्वम् । विस्तरभयाद् वादिनामध्यासान्तरचतुष्टयमत्रानूद्य न निरस्तमिति द्रष्टव्यम् । सर्वेषां मतेऽपि 'अन्यस्य अन्यधर्मावभासता न व्यभिचरति' । न च—अन्यत्र सतः सर्पादेः अन्यत्र आरोपो दृष्टः, अत्र तु आत्मव्यतिरिक्तस्य सर्वस्याऽसत्त्वेन अन्यत्र सत्त्वाभावात् कथमध्यासः—इति वाच्यम्; पूर्वदृष्टावभासमात्रस्यैव अध्यारोपोपयोगित्वं, न तत्सत्तायाः, पूर्वदृष्टस्य सत्त्वाभावापराधेन भ्रमाऽनुदयाऽदर्शनात् । 'स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः' इत्यध्यासलक्षणे पूर्वदृष्टत्वमात्रस्यैव अध्यासोपयोगित्वेनाऽङ्गीकारात् । तस्मात् पूर्वभ्रमजनितसंस्कारस्य उत्तरभ्रमजनकत्वं स्यात् । पूर्वभ्रमस्याऽपि ततः पूर्वभ्रमसंस्काराज्जनिः इति अन्धपरम्परयाऽनाद्यनिर्वाच्याऽहङ्काराद्यध्यासः सम्भवत्येव । मायिकस्य अध्यासस्य दुर्निरूपत्वम् अलङ्कारायैव ।

(*i*) किं च 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै. २.१), 'आनन्दो ब्रह्म' (तै. ३.६), 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा । कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' (श्वे. ६.११), 'निष्कलः (द्र. श्वे. ६.१९) निरञ्जनः (मुं. ३.१.३) निर्विकल्पः (द्रष्ट. ब्रह्मविं. ८) निराख्यः (द्र. नाराय. २)', 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' (बृ. ४.३.१५) इत्यादिश्रुतयः, कर्तृत्वभोक्तृत्वविवर्जितम्, अद्वितीयं, जातिगुणक्रियाषडूर्मिषड्भावादिदोषानुषङ्गरहितं, सत्यज्ञानानन्दस्वरूपं, सर्वव्यापिनं, सर्वसाक्षिणम् आत्मानं लक्षयन्ति । अतः तादृग्भूतात्मनः सन्दिग्धत्वात् ।

(ii) 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मुं. ३.२.९), 'तरति शोकमात्मवित्' (छां. ७.१), 'भिद्यते हृदयग्रन्थिः' (मुं. २.२.८) इत्याद्यनेकरूपश्रुत्या तदपरोक्षज्ञानाद् विधिना कल्पितस्य मिथ्याभूतस्य संसारस्य निवृत्तिसम्भवात् साधनचतुष्टयसम्पत्त्यनन्तरं वेदान्तवाक्यतः स्वात्मविचाराय गुरुमुपसृत्य तं परिपृच्छति इत्येतद् उपपन्नमेव ।

संसारिणां विषयलुब्धानां विषयार्जनरक्षणनाशेषु तापत्रयं सम्भवति । तेन तेन तापेन सन्तप्तानां तेषां मध्ये कश्चिद् एतज्जन्मनि जन्मान्तरे वा काम्यनिषिद्धवर्जनपुरःसरम् ईश्वरार्पणबुद्ध्याऽनुष्ठितनित्यनैमित्तिक-प्रायश्चित्तसगुणोपासनादिकर्मभिः प्रक्षालितान्तःकरणः, विषयाणां सुखाधिकतरदुःखहेतुत्वदर्शनाद् अनित्यत्वात् च उद्विग्नमानसो भवति । ततः शमादिसाधनैर्युक्तः सन् बन्धनिवृत्त्यर्थम् आत्मविचाराय गुरुं पृच्छति इति भावः । तापत्रयोद्वेगशमादीनां पूर्वपूर्वस्य उत्तरोत्तरं प्रति हेतुहेतुमद्भावो द्रष्टव्यः ।

'तापत्रयार्कसन्तप्तः कश्चिदुद्विग्नमानस' इत्यनेन विरक्तिहेतुप्रतिपादकः 'अतः'—शब्दार्थो निर्णीतः । 'शमादिसाधनैर्युक्त' इत्यनेन आनन्तर्यार्थस्य 'अथ'-शब्दस्य अर्थो निर्णीतः । 'सद्गुरुं स्वरूपविचाराय परिपृच्छति' इत्यनेन ब्रह्मज्ञानाय वेदान्तमहावाक्यार्थविचारकर्तव्यता दर्शिता । अतो 'ब्रह्मजिज्ञासा'-शब्दार्थो निर्णीतः । एवमनेन श्लोकेन 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (१.१.१) इति प्राथमिकाधिकरणन्यायो निरूपित इति द्रष्टव्यम् ॥३॥

महत्त्व पाना मनुष्य की स्वाभाविक चाह का विषय है । परिस्थितियों से खुद बँधे बिना उन पर अपना नियन्त्रण रखना सभी चाहते हैं, यही व्यावहारिक दृष्टि से 'मोक्ष' है । अपनी सामर्थ्य पहचान कर इसकी ओर प्रवृत्ति को संसार में 'प्रगति' कहते हैं और अपनी सामर्थ्य को नजरन्दाज कर इस मोक्ष के लिये प्रयास ही पागलपनपर्यन्त सारे मनोरोगों के रूप में प्रकट होता है । अपने निरपेक्ष स्वरूप को सही-सही समझकर ही यह संभव है कि हम 'प्रगति' भी करें और मनोविकारों से बच भी जायें । परिस्थितियों का हम पर प्रतिबंध, हमारा उन पर अनियंत्रण और इन दोनों विरोधों का सामना करते हुए जीना—ये तीनों हमें सन्तप्त करते हैं, दुःख देते हैं, हमारे मानस को उस लचीली स्थिति में पहुँचा देते हैं—जैसे गर्मी लाख को – जिसमें वह अपने बल की सीमा पहचान कर प्रमाण का अनुसरण करने को तैयार हो जाता है । लौकिक चेष्टा में भी पहले अपनी समझ से चला जाता है, जब अनेक तरह से कोशिश कर भी सफलता नहीं मिलती तब अन्य का अनुविधान होता है । धार्मिक क्रियाओं में भी प्रवृत्ति इसी आधार पर है : दृष्ट निमित्त निर्धारित न हो सकने से ही सुख-दुःख का निमित्त अदृष्ट मानकर उसके उपार्जन की कोशिश की जाती है । अतएव इसी लोक में फल देने वाले अदृष्टव्यापारक कर्मों की सफलता-असफलता पर अधिकतम लोगों की श्रद्धा निर्भर करती है । मोक्षक्षेत्र में भी प्राथमिकता स्वतंत्र प्रयास को मिलती है, उससे फल न मिलने पर ही शास्त्र के प्रामाण्यानुसार चेष्टा की जाती है । जिसने अपनी शक्ति की निःसारता निर्णीत नहीं कर ली—चाहे प्रयासों से और चाहे विवेक से—वह शास्त्रानुसार प्रवृत्ति के परायण नहीं होगा, भले ही 'कामचलाऊ श्रद्धा' से थोड़ा-बहुत सत्प्रयास कर ले । सन्तप्त

स्थिति वाला ही आचार्योपदेश शिरोधार्य करेगा, अन्यथा उसे एक अजीब-सी संभावना मानकर मनोविनोद का उपाय समझते हुए यथावसर उसे मानस में उद्बुद्ध कर सन्तोष करता रहेगा । वैराग्य का भी बीज यही है : विषय से सुख की क्षीणतम भी यदि आशा है तो संसार से वैराग्य संभव नहीं, निर्विषय मोक्ष में उपादेयताबुद्धि संभव नहीं; जब यह आशा छूटे, उस ओर जाने की प्रेरणा समाप्त हो जाये, तभी मोक्ष-उपायों के अनुष्ठान में प्रवृत्ति हो सकती है । शरीर-वाणी-मन से पर्याप्त सात्त्विक तप कर जब मन ओजस्वी हो जाता है तभी अपनी वर्तमान स्थिति से असंतुष्ट होकर उस हल-चल वाला बनता है जिसमें वे सब मापदण्ड चरमरा जाते हैं जो सांसारिक बंधन दृढ-दृढतर करने के ही उद्देश्य से माने गये हैं और बाध्य करता है ऐसे उपाय के लिये जो उस बवण्डर को शान्त ही करे । इस रहस्य को सूचित करते हुए आचार्य ग्रंथारंभ करते हैं –

तीन ताप रूप अर्क से तपा, व्याकुल मन वाला और शम आदि सम्पत्ति वाला कोई ही ऐसा होता है जो सद्गुरु से परिप्रश्न करता है ।

जिसमें तादात्म्याध्यास है उससे, दृष्ट हेतुओं से और अदृष्ट हेतुओं से अथवा स्पष्टतः चेतन निमित्तों से तथा जो स्पष्टतः चेतन नहीं उन निमित्तों से होने वाले कष्ट तीन ताप रूप में प्रसिद्ध हैं । अर्क से सूर्य, आग व बिजली की चमक तीनों कहे जाते हैं । अपने तादात्म्य का आस्पद सूर्य की तरह हमेशा तपाता है, दृष्ट या स्पष्ट चेतन निमित्त आग की तरह प्रायः तपाते हैं और अदृष्ट या अस्पष्ट चेतन निमित्त बिजली चमकने की तरह कदाचित् तपाते हैं । वस्ततस्तु, 'अर्चते वै मे कमभूदिति तदेवार्कस्यार्कत्वम्' (बृ. १.२.१), विचाररूप श्रम का सद्यः प्रभाव अर्क है; बिना विचारे संसार सुरम्य ही है, यत्किंचित् परिवर्तन इसी में अभिलषित है, वह चाहे ऐहिक हो, आमुष्मिक हो या वैकुण्ठादि में हो । बंधन के ताप पर विचार की गंभीरता का ही प्रभाव होता है कि कोई दुर्लभ व्यक्ति मुमुक्षु बनता है । अथवा ताप या तप आलोचना को भी कहते हैं । प्रमाता, प्रमाण व प्रमेय विषयक आलोचना के निष्कर्ष से द्रवीभूत चित्त ही इन परिच्छेदों को लाँघने का संकल्प करता है । दुःख अतिसुलभ होने पर भी उसके आत्यंतिक निवारण के बारे में सोचने वाला अतिदुर्लभ इसीलिये है कि अकेला दुःख इस योग्य नहीं कि मन को इतना कोमल बना दे कि वह उस सूक्ष्म दुःख के प्रति संवेदनशील हो जाये जो सुखरूप में आता है; इसके लिये दुःख की आलोचना अनिवार्य है ।

उत्तम को पाने के लिये प्रवर्तक दृढ निश्चय 'उद्वेग' है । बृहदारण्यक में मैत्रेयी इस उद्वेग से व्याकुल कही गयी है, उसे लगता था 'मैं उससे क्या करूँ जिससे मैं अमृत नहीं हो सकती ।' उसके चित्त को उद्वेलित करने वाले प्रश्न आचार्य शङ्करानन्दजी ने स्फुट किये हैं : मैं कौन हूँ ? मेरा स्वरूप क्या है ? इस लोक में क्यों हूँ ? मेरी स्थिति क्या है ? मरने पर मेरा क्या होगा ? पति-पुत्रादि क्या हैं ? सुख-दुःख क्या हैं ? इत्यादि । उपनिषद्रत्न आत्मपुराण

में मैत्रेयी की उद्विग्न-मानसता का मार्मिक वर्णन है । वैसा उद्वेग ही मुमुक्षा का आधायक है । जीव-जगत्-ईश्वर-प्रकृति के बारे में तीव्र जिज्ञासा के बिना अन्य साधन रहते भी ज्ञानसंभावना नहीं यह अपरोक्षानुभूति (श्लो. १०-१२) में समझाया गया है । न्याय-वैशेषिक-मीमांसा आदि की मर्यादायें हों या आधुनिक विज्ञान-समाजवाद-उपभोक्तावाद की, सभी अस्वाभाविक पद्धतियों को छोड़कर अपने निश्चयात्मक अनुभव को ही आधार बना सकना मानस की उद्विग्नता है । मुमुक्षुव्यवहार में उद्वेग रजोगुणी विकार नहीं है क्योंकि उसका उपयोग जिज्ञासा में संभव नहीं । अतः यहाँ मन में उद्वेग होने पर स्वाभाविक प्रवृत्ति है शमादि साधन एकत्र करने में ।

सभी अनित्यों से विरक्त, दृश्यगोचर आकर्षण से रहित, सांसारिक फल पाने के उपाय भी जो छोड़ चुका, मन-इंद्रियों पर नियंत्रण वाला, दयालु, बाहर-भीतर की सफाई वाला, शास्त्र में प्रसिद्ध शिष्योचित गुणों वाला ब्राह्मण जब जन्म-कर्म-गुण-शील-विद्या-सम्बन्धियों की दृष्टि से परख लिया जाये तभी गुरु द्वारा बारम्बार समझाने लायक शिष्य होता है ऐसा उपदेशसाहस्री में बताया है । निर्वाण प्रकरण-उत्तरार्ध में (सर्ग. ४७) योगवासिष्ठकार ने विस्तृत क्रम का प्रदर्शन किया है : व्यक्ति को पहले-पहल कुछ विवेक होता है, संसार से 'परे' कुछ है जो पाना चाहिये यह लगता है । वह साधु लोगों का साथ करता है, संसार-प्रवणों से दूर हटता है । यथाविधि स्नान, दान, तप, यज्ञ आदि करते हुए अपना व्यवहार कोमल, निष्कपट और ऐसा बनाता है जो परिणाम की हितकारिता को सामने रखे । सभी के हित में संलग्न हो वह पवित्र कर्मों में रुचि वाला बनता है और शास्त्र के अर्थ को हृदयंगत करता है जिससे उसमें सत्प्रज्ञा की उन्नति होती है । वह विषयों के मिथ्यापन को समझने लगता है, सज्जनता अपने जीवन में लाता है और भोग त्यागता है; यद्यपि भोगों से द्वेष करना भी उसे अच्छा नहीं लगता तथापि राग-द्वेष से दूर होने का आवश्यक उपाय जानकर वह विषय-भोगों से बचता ही है । शास्त्ररहस्य में अधिकाधिक निमग्न होकर वह शनैः शनैः भोग ही नहीं भोग के साधन धनादि भी छोड़ देता है । यों सर्वस्वत्यागी तत्त्वबोध को पाने योग्य होता है । यह वहाँ क्रम कहा है । उसका वहीं संग्रह है –

'संसारनिर्वेददशाम् उपेत्य सत्सङ्गमं शास्त्रम् उपेत्य तेन ।
शास्त्रार्थभावेन निरस्य भोगान् वैतृष्ण्यदार्ढ्यात् परमार्थमेति ॥'

वासिष्ठ के प्रसिद्ध चार साधन हैं शम, विचार (सच्छास्त्र को समझना), सन्तोष और साधु-संगम । पूर्वोक्त क्रम इनसे ही विकसित होता है । आचार्यचरण ने 'वेदो नित्यमधीयताम्' आदि श्लोकपंचक में अत्यंत विस्तृत कार्यक्रम निर्धारित किया है जिसके हर कदम को लेता चले तो साधक अवश्य मोक्षद्वार में प्रवेश पा जायेगा । अपरोक्षानुभूति में अपने-अपने वर्णाश्रम धर्म, तप और परमेश्वर की भक्ति से वैराग्यादि साधनसंपत्ति की सिद्धि बतायी है । मनुस्मृति के अनुसार वेदस्वाध्याय, तपस्या, वेदार्थबोध, इंद्रियनियंत्रण, अहिंसा और गुरुसेवा–इन धर्मों वाला सदधिकारी है –

'वेदाभ्यासस्तपो ज्ञानमिन्द्रियाणां च संयमः ।

अहिंसा गुरुसेवा च निःश्रेयसकरं परम् ॥' (१२.८३)

इससे भी कम विशेषण उन्होंने वहीं आगे (श्लो. ९२) कहे हैं कि आत्मा को जानने में, करण-उपशम में और वेद के अभ्यास में ही जो यत्नशील हो जाये उसके लिये अन्य धर्म करना आवश्यक नहीं । भगवान् श्रीकृष्ण ने कुछ 'ब्रह्मकर्म' बताये हैं जो ऐसे हैं कि ब्रह्मप्राप्ति के लिये आवश्यक योग्यता दिलाने में पर्याप्त है : इन्द्रियों का व मन का संयम, तप, भीतर-बाहर की स्वच्छता, क्षमा (सहनशीलता), आर्जव (सीधापन, अकुटिलता), शास्त्रबोध, शास्त्रीयार्थ को अनुभव में उतारना और शास्त्राचार्य पर श्रद्धा :

'शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।

ज्ञानं विज्ञानम् आस्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥' (१८.४२)

यद्यपि ये वर्णकर्म के रूप में कहे हैं तथापि इन्हें ब्रह्मप्रापक भी मानना उचित है । इनमें से अनेक का अनुवाद कर विवेकचूडामणि में भी आवश्यक धर्मों का संग्रह किया है –

'मोक्षस्य काङ्क्षा यदि वै तवास्ति त्यजातिदूराद् विषयान् विषं यथा ।

पीयूषवत् तोष-दया-क्षमाऽऽर्जव-प्रशान्ति-दान्तीः भज नित्यमादरात् ॥' (श्लो. ८४)

स्वयं श्रीकृष्ण ने तो बीस साधन 'ज्ञान' नाम से प्रचारित किये ही हैं :

१. अमानिता – विद्यमान या अविद्यमान गुणों के उल्लेख से अपनी प्रशंसा न करना, न अन्य से कराना ।

२. अदम्भिता – लाभ, पूजा, ख्याति आदि के लिये यह प्रदर्शित न करना कि 'मैं धार्मिक हूँ' ।

३. अहिंसा – शरीर, वाणी व मन से किसी प्राणी को पीडा न पहुँचाना । मनु के संग्रह में भी अहिंसा आयी है ।

४. क्षान्ति – अन्यों के अपराध और शीतोष्णादि सहन करना ।

५. आर्जव – किसी को ठगने की कोशिश न करना ।

६. आचार्योपासना – आत्मविद्या के उपदेष्टा की सेवा-शुश्रूषा करते हुए उनके निकट रहना ।

७. शौच – अपने परिवेश, वस्त्र, शरीर आदि को स्वच्छ रखना और विषयों में दोष देखते हुए उनके प्रति रागादि हटाना; द्वेष हटाना भी समझना चाहिये ।

८. स्थिरता – मोक्षमार्ग पर टिककर चलना; व्यावहारिक कठिनाइयों से विचलित नहीं हो जाना ।

९. आत्मविनिग्रह – मन को वश में करना । काम-क्रोधादि विकार मन से विचार एवं हठ या ताडन द्वारा हटाने चाहिये और मनोराज्य में खोने की प्रवृत्ति को दीर्घप्रणव-उच्चारण आदि पूर्वक ध्यानाभ्यास से हटाना चाहिये । यह पंचदशी में स्पष्ट किया है ।

१०. ऐन्द्रिय विषयों से वैराग्य – चित्त की वह वृत्ति जो राग का विरोध करती है, जिसका आकार ही 'न चाहना' होता है, उसे वैराग्य कहते हैं । तत्तद् भोगों में और तत्तद् मनोभावों में बार-बार दोषालोचन करते रहने से विषयादि के प्रति वितृष्णा बनती है । केवल समझ लेने मात्र से नहीं, पुनः पुनः अभ्यास से विषय दोष के संस्कार पड़ते हैं । योगवासिष्ठ में एक रहस्य और खोला है कि पहले अभ्यास करना चाहिये कि दूसरों की चीजों के बारे में 'यह मुझे मिले, मैं इससे भोग करूँ' इस वृत्ति को रोके । इसमें कामयाब होने पर अपनी चीजों से भी उपरत होने की कोशिश सफल होगी–

'परार्थादानविरतिं पूर्वमभ्यस्य यत्नतः ।
आहर्तव्या विवेकेन ततः स्वार्थेष्वरक्तता ॥'

वैराग्य के हेतुओं में पंचदशीकार ने दोषदृष्टि, छोड़ने की इच्छा (संकल्प), और भोगों की कमी से स्वयं को दीन न समझना–इन्हें मुख्य माना है ।

११. अनहंकार – मन में यह न समझना कि मैं श्रेष्ठ हूँ ।

१२. जन्मादि में दोषदर्शन – जन्म-मृत्यु-जरा (बुढ़ापा)-रोग-दुःखों में उन दोषों के प्रति जागरूक रहना जिनसे मन में दृढ हो कि जन्मादि न होना ही अच्छा है ।

१३. असक्ति – 'मेरा है' एतावता उसके प्रति प्रेम न हो जाना । विविध दोषादि से जो प्रेम के अयोग्य निश्चित हो वह भी 'मेरा पुत्र है' आदि के कारण ही प्रिय बना न रहे । इसे उपरति का रूप समझना चाहिये जिसमें यमादि, बुद्धिनियंत्रण और व्यवहार की कमी से सहायता मिलेगी ।

१४. पुत्रादि में अभिष्वंग न होना – पुत्रादि में तादात्म्य से उसके सुखादि से स्वयं सुखी आदि न होना । दूसरे की खुशी में खुश होना तो सज्जनता है किन्तु अभिष्वंग में वह तटस्थ खुशी नहीं वरन् उत्तेजनात्मक सुख (और दुःख आदि) होता है मानो वह दूसरे का नहीं, मेरा ही सुख (-दुःखादि) है ।

१५. इष्टलाभादि में सदा समचित्तता – इष्ट-प्राप्ति से हर्ष में और अनिष्ट-प्राप्ति से विषाद में न डूब जाना । स्वयं को धन्य या नष्ट समझकर कर्तव्य की ओर प्रमाद करना हर्ष-विषाद में डूबना है ।

१६. अनन्ययोग से ईश्वर में अव्यभिचारी भक्ति – 'भगवान् से परे कुछ नहीं' यह निश्चय रख उनमें भेददृष्टि छोड़कर हमेशा उनसे प्रेम करना ।

१७. विविक्त देश में रहना – स्वच्छ, शुद्ध और सत्पन्दों वाले स्थान पर नियतरूप से रहना ।

१८. जनसंसत् में अरति – सांसारिक लोगों के समूह में रहने के प्रति रमणीयता-बुद्धि न होना ।

१९. अध्यात्मज्ञाननित्यत्व – त्वम्पदार्थ के शोधन में तत्पर होना । आत्मबोधक शास्त्रों के अभ्यास में लगे रहना ।

२०. तत्त्वज्ञानार्थदर्शन– प्राप्तव्य मोक्ष का सदा चिंतन करना ताकि चरम लक्ष्य भुला न जाये ।

इस प्रकार नाना सूचियाँ प्रचलित हैं जिनमें वे साधन गिने हैं जो अधिकारी में चाहिये । संख्या में तो कोई तात्पर्य है नहीं । 'शमादिसाधनैर्युक्तः' से इस प्रकार के सभी सद्गुण विवक्षित हैं जिनसे साधक आत्मबोध शीघ्र पाने के लायक बनता है । इन साधनों से 'युक्त' अर्थात् जैसे योगी यम-नियमादि का अनुष्ठान निष्ठापूर्वक करते हुए आगे बढ़ता है वैसे इनका अभ्यास करने में संलग्न रहकर जिन्होंने इन्हें अपनी आदत बना लिया है; अब इन धर्मों के लिये जिन्हें जागरूक प्रयास नहीं करना पड़ता ।

स्वयं की बुद्धिसामर्थ्य की सीमा जान ली होने से जिज्ञासु को सद्गुरु की शरण लेनी पड़ती है । स्थूल विषय भी चेतन शिक्षक के बिना केवल ग्रंथों से नहीं सीखे जाते तो सूक्ष्मतम आत्मा को समझने के लिये सद्गुरु चाहिये इसमें क्या कहना ! आचार्य ने साहस्री में आचार्य की भी विशेषतायें बतायी हैं : ऊहापोह में समर्थ हो, सांप्रदायिक ज्ञान प्राप्त कर उसे याद रखे हो, शम-दम-दया-अनुग्रहादि से युक्त हो, (दया मन में और अनुग्रह यत्नरूप होता है), वेद पढ़ चुका हो, भोगों से आकृष्ट न होता हो, संन्यासी हो अर्थात् सभी कर्म और उनके साधन छोड़ चुका हो, महावाक्य के अर्थ से परिचित हो, उस अर्थ में निष्ठा रखे, सदाचारी हो, दम्भ-अभिमान-वंचकता-निष्ठुरता-अयथाहृदय-व्यवहार-दोषदर्शनशीलता-झूठ-अहंकार-ममता आदि दोषों से रहित हो, केवल शिष्य पर अनुग्रह करना चाहे और स्वयं प्राप्त विद्या योग्य अधिकारी में प्रतिष्ठित करना चाहे । ऐसे दुर्लभ आचार्य से अधिकारी 'परिप्रश्न' करे तो निश्चय ही उसे साक्षात्कार हो जायेगा । परिप्रश्न का स्वरूप अगले श्लोक से बताने जा रहे हैं ।

विश्वेश्वरपण्डित ने ब्रह्मसूत्रों के प्रथम अधिकरण का विचार इस श्लोक में अभिप्रेत माना है । सर्वप्रथम स्पष्ट किया कि आत्मा के बारे में हमारा वर्तमान अनुभव, वादियों का कथन और वेद की घोषणा में असामंजस्य होने से आत्मा विचारणीय है और आत्मज्ञान से प्रयोजन यह सिद्ध होगा कि अध्यासरूप बंध निवृत्त हो जायेगा । अध्यास अर्थात् आत्मा जैसा नहीं वैसा उसे समझना और संसार को भी भ्रमवश सत्य, सुख आदि समझना । यद्यपि इस गलतफहमी के बारे में नाना दार्शनिक मत हैं तथापि 'जो जैसा नहीं उसे वैसा समझना' यह भ्रम कहलाये इसमें मतभेद नहीं । आत्मा ही सत्य है पर भ्रम से हम संसार भी देख रहे हैं । इस भ्रम की अनादि शृंखला चल रही है; एक भ्रम से अगला भ्रम होता जा रहा है । क्योंकि यह अध्यास है इसलिये बंधन आत्मज्ञान से हटता है । सामान्यतः भले ही लोग भोगरसिक हों पर कुछ विचारशील भोगों से विरक्त हो नित्य आत्मा के आकांक्षी भी होते हैं । ऐसे लोग कर्मों से फल पाने में प्रवृत्त न होकर शमादि एकत्र कर सद्गुरु से आत्मबोध प्राप्त करते हैं । यह उस अधिकरण का विषयसंक्षेप पण्डितजी ने दिखाया है । सूत्र में 'अथ' शब्द से साधन संपत्ति बतायी है जिसे श्लोक में शमादि के उल्लेख से कह दिया है । 'अतः' से सूत्र कहता है कि वैराग्य होना योग्य है जिसे श्लोक में प्रथमार्ध से व्यक्त किया । ब्रह्मज्ञानार्थ वेदान्तविचार करना चाहिये यह 'ब्रह्मजिज्ञासा' का अर्थ है जो श्लोक के अंतिम चरण द्वारा बताया । इस प्रकार पण्डितजी ने इस पद्य को अतिगंभीर बना दिया है । भाष्यकार अध्यासरूपता सूचित कर अधिष्ठानोपदेश देते हैं । यहाँ महावाक्य का ही विश्लेषण है अतः भूमिका रूप में अध्यास विवक्षित ही है । तत्पदार्थशोधन के प्रसंग में वे स्वयं इसे सूचित करेंगे । वैसे इस प्रकरण में उपाधि छोड़कर चेतन का स्वरूप समझते हुये अद्वैत में प्रतिष्ठा का ही उपदेश क्रम है, संसार की ओर तो वैराग्यवश दृष्टि डालना अधिक आवश्यक नहीं समझा गया है यह विशेषता याद रखनी चाहिये, अर्थात् अध्यारोपापवाद का यथानुभूति निर्वाह किया है, प्रसिद्ध क्रम से नहीं ।

— ३ —

परिप्रश्नः

अनायासेन येनाऽस्माद् मुच्येयं भवबन्धनात् ।
तन्मे सङ्क्षिप्य भगवन् ! केवलं कृपया वद ॥४॥

*अधिकारिणि साधनचतुष्टयवति प्रष्टरि सिद्धे तदीयप्रश्नं प्रकटयति–**अनायासेनेति** । **येन** साधनेन **अनायासेन** अयत्नलभ्येन अनुभवसिद्धाद् अनर्थराशेः मम विश्लेषो भवति **तद्** मुक्तिसाधनं मदर्थं कथनीयमित्यर्थः । अङ्गैरुपाङ्गैश्च उपबृंहितं मुक्तिसाधनम् अन्यत्र प्रपञ्चितम् ? इत्याशङ्क्य आह–**सङ्क्षिप्येति** । आचार्यं पूजयन्निष्टकथने तस्य शक्तिं व्यनक्ति–**भगवन्निति** । प्रत्युपकारनिरपेक्षतया दीनजनानुजिघृक्षा कृपाऽभिलप्यते । शिष्यं शिक्षयतो गुरोः अनुग्रहातिरेकाद् अतिरिक्तं नास्ति फलम् इति विवक्षित्वोक्तम्–**केवलमिति** ॥४॥*

'सद्गुरुं परिपृच्छति' इत्युक्तम् । किं परिपृच्छति ? इत्याकाङ्क्षायाम्; बन्धनिवृत्तिसाधनं परिपृच्छतीत्याह– अनायासेनेति । न विद्यत आयासो यस्मिंस्तत्तथोक्तम् । येन मुक्तिसाधनेन । अस्माद् इति पदेन भवबन्धस्य प्रत्यक्षसिद्धं दुःखभूयस्त्वमुच्यते । भवबन्धनाद् भवः संसारः स एव वन्धनमिव बन्धनं तस्माद् मुच्येयं मुक्तः स्याम्; तद् मुक्तिसाधनं सङ्क्षिप्य अविस्तीर्य 'इदम् इदम्' इति वद इत्यर्थः ।

येन संसारान्मुक्तः स्यां तद्वदेत्युक्तम् । तत्र वक्तव्यं–किं शुद्धात्मनः संसारः ? आहोस्विद् अहङ्कारात्मनः ? नाद्यः, द्वितीयाभावात् । न द्वितीयः, लिङ्गभूताऽहङ्कारस्य कुड्यादिवद् अचेतनत्वेन प्रवृत्त्यसम्भवाच्च । तर्हि न कस्यापि संसारः ! इति न वाच्यम्, प्रत्यक्षापलापाऽसम्भवात् । तस्मात्प्रतीयमानः संसारः किंनिष्ठ इति चेद् ? उच्यते–वस्तुतस्तु अहङ्कारात्मनः त्वदुक्तरीत्या संसाराऽसम्भवेऽपि निर्विकाराऽयस्कान्तसंनिधिवशाद् अचेतनलोहप्रवृत्तिवत् केवलचैतन्यसांनिध्यवशादेव देहेन्द्रियादियुक्ताहंकारस्य चिदाभासाऽनुप्रवेशबलात् प्रवृत्तिरूपः संसारः सम्भवति । स च साभासाहङ्कारगतसंसारो मिथ्याऽज्ञानेन आत्माऽहङ्कारयोर्भेदस्य आवृतत्वेन तदविवेकात् साक्षिचैतन्ये रोप्यते । यावत् स्वरूपसाक्षात्काराद् अज्ञाननिवृत्त्या तदावरणाऽपायो न स्यात् तावद् मिथ्याभूतोऽपि संसारोऽज्ञानिनां सत्य इव भातः सन् पुत्रभार्यादिषु नष्टेषु पुष्टेषु 'अहमेव नष्टः पुष्टः' इति स्वस्मिन् बाह्यधर्माध्यासद्वारा सुखदुःखमोहादिकं प्रयच्छत्येव ।

यथा मिथ्याभूतोऽपि रज्ज्वामारोपितः सर्पो धावनपादभञ्जनभयकम्पादिहेतुः भवति एवं मिथ्यासंसारस्याऽपि अनर्थकारित्वात् तन्निवृत्तिसाधनम् अन्वेषणीयमेव । अतः–संसारस्यैवाऽभावाद् 'येन संसारान्मुक्तः स्याम् तद्वद' इति प्रश्नः अनुपपन्नः–इति शङ्का प्रत्युक्ता । एतत् सर्वं 'देहेन्द्रियादयो भावा' इत्यादिश्लोकत्रयेण (१८-२०) आचार्यास्तु तत् प्रव्यक्ती करिष्यन्ति । 'बोधाभासो बुद्धिगतः कर्त्ता स्यात् पुण्यपापयोः । स एव संसरेत् कर्मवशाल्लोकद्वये सदा ॥ साक्षिणः पुरतो भातो लिङ्गं देहेन संयुतम् । चितिच्छायासमावेत्ता जीवः स्याद् व्यावहारिकः ॥ अस्य जीवत्वमारोपात् साक्षिण्यप्यवभासते । अवृत्तौ [आवृतौ ?] तु विनष्टायां भेदे भाति प्रयाति तत् ॥ व्यापृतेष्विन्द्रियेष्वात्मा व्यापारीवाऽविवेकिनाम् । दृश्यतेऽभ्रेषु धावत्सु धावन्निव यथा शशी ॥ आत्मचैतन्यमाश्रित्य देहेन्द्रियमनोधियः । स्वकीयार्थेषु वर्तन्ते सूर्यालोकं यथा जनाः ॥ सुप्तेऽहमि प्रदृश्यन्ते [न दृ ?] दुःखदोषप्रवृत्तयः । अतस्तस्यैव संसारो न मे संसृतिसाक्षिणः ॥' (   ) इत्यादि पूर्वाचार्यैः प्रतिपादितबहुग्रन्थः तस्मिन्नर्थे प्रमाणम् । अतः कल्पितसंसारनिवृत्त्यर्थं साधनप्रश्न उपपन्न एव इति सिद्धम् । अनेनाऽपि जिज्ञासाऽऽक्षेपसमाधानं द्रष्टव्यम् ।

मुक्तिसाधनस्यापि 'अनायास'-विशेषणेन यज्ञदान-तपआदि ज्ञानोत्पत्तिसाधनं समस्तं निरस्तं स्यात्, 'सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेः अश्ववत्' (३.४.२६) इत्यधिकरणन्यायेन यज्ञादीनाम् अन्तःकरणशुद्धिद्वारा विविदिषोत्पादकत्वमन्तरेण साक्षाद् मुक्तिहेतुत्वाऽसम्भवात्; ज्ञानं तु अज्ञानविरोधित्वेन स्वतो मुक्तिसाधनम् इति भावः ।

भगवच्छब्दप्रयोगेण 'वेदान्तकृद् वेदविदेव चाहम्' (गी. १५.१५) इति वेदान्तार्थवित्पुरुषोऽहमेवेति भगवतोक्तत्वाद् आचार्यस्य भगवत्त्वं तात्त्विकमेवेति विदित्वाऽऽचार्यमुद्दिश्य हे भगवन् ! हे स्वामिन् ! हे महादेव ! इति परमेश्वरवाचकानि वचनानि शिष्येण वक्तव्यानीति ज्ञापयति । केवलं कृपया वद इत्यस्य गुरोः स्वरूपनिष्ठतया निरपेक्षत्वेन दृष्टप्रयोजनाऽपेक्षाऽभावाद् उपदेशकारणं कृपैवेति मत्वा शिष्येण आचार्यकृपोत्पादकानि वचनानि वक्तव्यानि इति ज्ञापयति ॥५॥

उपदेशपंचरत्न में वेदाध्ययन, कर्मानुष्ठान से ईश्वरार्चना, काम्य चेष्टाओं से विरति, पापप्रक्षालन, सांसारिक सुखों में दोषदृष्टि, आत्मलाभ की दृढ इच्छा, घरेलू वातावरण से हटकर सत्संग, भगवान् की दृढ भक्ति, शमादि का अभ्यास, कर्मत्याग, ब्रह्मनिष्ठ के निकट जाकर उनकी सेवा करना–इतने कदम पार कर चुकने के बाद उनसे ब्रह्मोपदेश की प्रार्थना करने के लिये कहा है । कारण है कि भगवान् ने कहा है (१८.३०) कि बंधन और मोक्ष पर विचार करना, उनकी यथार्थता समझना सात्त्विक बुद्धि के लिये ही संभव है; जब तक दीर्घ काल तक उक्त क्रम से सांसारिक संस्कार क्षीण कर ऐश्वर संस्कार दृढ न कर लिये जायें तब तक यह दृश्यमान प्रिया-ऽप्रिय जगत् हेय लगता ही नहीं कि इससे छूटने की क्षीण-सी भी इच्छा हो । राग रहते तो यहाँ सियार बनकर भी रहना उससे बेहतर लगता है जिस स्थिति में अपने से अन्य जड-चेतन कुछ भी नहीं होगा । वह अद्वैत ही अकेलेपन का डर पैदा करता है; आचार्यों ने बताया है कि योगी अर्थात् साधक भी उस स्थिति से डर जाते हैं । अतः वस्तुतः बंधन समझने का मतलब यह महसूस करना है कि देहादि जगत्–अर्थात् मैं-मेरा जो कुछ है, द्रष्टा-दृश्य सभी–वैसे ही छोड़ने लायक है जैसे सिर पर पड़ा जलता अंगारा । श्रीकृष्ण ने अर्जुन को भी समझाया था कि प्रणिपात और सेवा से संपुटित परिप्रश्न द्वारा ब्रह्मतत्त्व का वेदन करना चाहिये । शिष्यलक्षणों से युक्त होना और सद्गुरु पाना ही दुर्लभ है, उनका नैकट्य पाकर विद्यार्थी–ब्रह्मज्ञान चाहने वाला–बनना और भी दुर्लभ है । पूर्वश्लोक में बताये परिप्रश्न को ही स्वयं ग्रंथकार स्पष्ट करते हैं –

हे भगवन् ! केवल कृपा कर बिना विस्तार किये मुझे उस साधन का उपदेश दीजिये जिससे मैं इस भवबंधन से अनायास छूट सकूँ ॥४॥

ब्रह्मविद्या का उपदेष्टा स्वयं ब्रह्मरूप होने से उनके लिये 'भगवन्' सम्बोधन युक्त है । श्रीगुरु को परमेश्वर ही समझना चाहिये यह श्रुति-स्मृति-पुराण-प्रकरणग्रंथ-शिष्टाचार सभी प्रमाणों से सिद्ध है । 'वेत्ति विद्यामविद्यां च' इस लक्षण से विद्या-अविद्या के सही जानकार को भगवान् कहा जाये यह संगत है । ज्ञान-वैराग्य की पूर्णता वाला होने से ब्रह्मनिष्ठ भगवान् ही है । आचार्य से विद्या पाने की प्रसिद्ध रीति भी है 'अधीहि भगवो ब्रह्म'–(तै. ३.) 'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति' (मुं. १.१.३) 'कथं नु भगवः स आदेशो भवति' (छां. ६.१.३), 'अधीहि भगव' (छां. ७.१) 'अधीहि भगवन् ! ब्रह्मविद्यां वरिष्ठाम्' (कै. १.१) । यह केवल बोलने का लहज़ा नहीं है, शिष्य को चाहिये कि गुरु में ईश्वरदृष्टि पर्याप्त स्थिर कर ले तब प्रश्न करे, तभी उनका महावाक्योपदेश फलेगा, अन्यथा नहीं । अन्यत्र भी कहा है 'श्रीगुरौ ब्रह्मदृष्ट्या तु साक्षाज्ज्ञानमवाप्यते' ।

गुरु उपदेश देते हैं यह एक आश्चर्य तो है ही, उनकी कृपा का ही परिणाम भी है । नष्ट होते व्यक्ति को बचाने के लिये जो उसकी ओर जाया जाता है, जिसके पीछे उससे बदले में कुछ भी पाने का भाव नहीं होता, वह कृपा कहलाता है । कृतकृत्य, प्राप्तप्राप्तव्य आचार्य शिष्य से कुछ भी दृष्ट-अदृष्ट लाभ नहीं पा सकता । शिष्य की रक्षा के लिये वह भेददृष्टि अंगीकार कर जो उपदेश प्रदान करता है वह करुणाप्रयुक्त होकर ही । जैसे माता शिशु को आग में गिरने से बचाने के लिये अपने प्राण संकट में डालती है केवल वात्सल्य से न कि उस बच्चे से किसी भी प्रकार के उपकार की आशा से, ऐसे गुरु शिष्य को अज्ञान में डूबने से बचाने के लिये कृपा से प्रवृत्त होते हैं । शिष्य इस तथ्य को समझे यह जरूरी है क्योंकि इसे समझे बिना वह गुरु के कथन पर श्रद्धा नहीं कर सकता । इसीलिये यहाँ 'केवल' भी कहा अर्थात् शिष्य कह रहा है कि आपकी कृपा व्यक्त होगी इससे अन्य कोई फल आपको मिलने वाला नहीं ! उसे समझ आ चुका है कि दृष्टादृष्ट कोई दृश्य गुरु से सम्बद्ध होने योग्य नहीं और द्रष्टा वे स्वयं हैं तो उनसे सम्बन्ध का प्रश्न ही नहीं । उपदेशफल अविद्यानिवृत्ति भी गुरु को सिद्ध ही है, वह भी उनके लिये प्राप्य नहीं है । शिष्य आदि द्वैत बाधित है अतः उससे निरूपित भी कोई विशेष उन्हें होगा नहीं । लेकिन शिष्य स्वयं दुःखानुभव कर रहा है अतः उसकी उपदेशार्थ प्रार्थना है । 'वद' से वह कह रहा है कि भगवान् श्रीदक्षिणामूर्ति आदि की तरह अतिसूक्ष्म उपदेश ग्रहण करने में मैं सक्षम नहीं अतः व्यक्त रूप से कहें ताकि मैं समझ सकूँ और 'संक्षिप्य' से बता रहा है कि शास्त्रों में बताये ढंग को भी मैं हृदयंगत करने में असमर्थ हूँ, उतने परिष्कार समझने की योग्यता नहीं है अतः जो मोक्ष के लिये जानना अनिवार्य हो केवल वे ही बातें मुझे समझाइये । गुरु की यह विशेषता है कि जैसे हजारों फूलों से रस लाकर मक्खी शहद तैयार कर लेती है ऐसे वे सारे शास्त्रों का सार ग्रहण कर वह विषयवस्तु तैयार कर लेते हैं जो शिष्य को सारे शास्त्रों से ग्राह्य बात एक ही प्रयत्न में प्राप्त करा देती है । गाय पालकर दूध-दहीपूर्वक घी तैयार करना अतिश्रमसाध्य है; गुरु वही कर हमें घृतस्थानीय रहस्य समझाते हैं जो हम स्वयं खोजने जाते तो कभी नहीं प्राप्त कर सकते थे जैसे घी खाने वाले गाय पालने से प्रारंभ करें तो घी खाने तक पहुँचना दुर्लभ होता है । उस प्रक्रिया में ही समय धन आदि इतना व्यय हो जाता है कि घी खाना संभव नहीं होता । बल्कि बहुधा तो ग्वालों को दूध भी भरपेट नहीं मिलता ! इस ग्रंथ में आचार्य वेदान्त का चरम उपदेश ही देंगे, उसी का उतना ही खुलासा करेंगे जितना स्वानुभव-आधारित चिन्तक को निःसंशय बोध करा सके ।

परिप्रश्न का स्वरूप बताते हुए भाष्यकार ने कहा है 'बंधन कैसा है, क्यों होता है ? मोक्ष क्या है, कैसे होता है ? ज्ञान-अज्ञान क्या हैं ?'–यह परिप्रश्न है । अन्य व्याख्याताओं ने इसमें यह भी जोड़ा है 'बंधन किसका है ? मैं क्या हूँ ? यह दृश्य क्या है ?' कुछ का कहना

है कि ऊहापोहपूर्वक संसारबंध से छूटने का तरीका पूछना परिप्रश्न है । विवेकचूडामणि (श्लो. ५१), सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह (श्लो. २७२-७) आदि में शिष्य प्रश्न का यही स्वरूप है । बाह्य प्रपंच से दृष्टि हटकर स्वयं अपने बारे में जो प्रश्न उठते हैं वे ही परिप्रश्न हैं– दृश्य का 'परि'-त्याग कर उत्पन्न होने वाले प्रश्न । अध्यासनिरूपण में अत एव जीव के कर्तृत्वादि का उल्लेख है, घटादि या आकाशादि के कल्पितत्व का नहीं, क्योंकि कर्तृत्वादि अनर्थ से छूटना पुरुषार्थ है, घट आदि से नहीं । आधुनिक काल के रमण महर्षि भी इसीलिये 'मैं कौन हूँ ?' के विचार पर ही सर्वाधिक बल देते रहे । यह परिप्रश्न पहले अपने अंदर उठे, इसके पहलुओं का चिन्तन हो, तभी इसे आत्मविश्वास से गुरु के संमुख रख सकते हैं; उससे पूर्व गुरु से पूछना भी एक शाब्द व्यायाम ही है । दूसरे से ही नहीं खुद से भी पूछा जाये यह प्रश्न का परितस्त्व है ।

बन्धन क्या है ? ऋषियों ने सरल कर इसे समझा दिया है : 'ईश्वररूप आत्मा देहादि अनात्मपदार्थों को 'मैं' समझता है–यह अभिमान आत्मा का बंधन है' यह सर्वसारोपनिषत् में कहा है । निरालंबोपनिषत् ने संक्षेप में बताया है 'सङ्कल्पमात्र-संभवो बंधः'–केवल संकल्प से बंधन का स्वरूपलाभ हो जाता है । वहाँ विस्तार भी किया कि 'मैं पैदा हुआ हूँ' यह संकल्प बंधन है; ममतास्पद संसार अपने पर ओढना बंधन है; स्वयं को कर्ता आदि मानना बंधन है; ऐश्वर्य की आशा बंधन है; अपने से अन्य को खुश करूँ ऐसा संकल्प बंधन है; योगादि अभ्यास से सामर्थ्य पाऊँ यह संकल्प बंधन है; नाना विषयों का ज्ञान पाने का संकल्प बंधन है; यहाँ तक कि मोक्ष की चाहना रखना भी बंधन ही है ! संकल्प की बंधनता पर वासिष्ठ में अधिक प्रकाश डाला गया है । मुक्तिकोपनिषत् में कहा है कि कर्तृत्वादि क्लेशात्मक चित्तधर्म बंधन हैं । अन्यत्र विषयासक्त मन को बंधनिदान बताया है । इस प्रकार स्पष्ट है कि अपने स्वरूप की गलतफहमी ही बंधन है । इसीलिये प्रकृत श्लोक में 'अस्मात्' यों बन्धन को अनुभूयमान कहा है; स्वयं को कर्तादि समझना ही हमें अव्यवधान से अनुभव में आ रहा है, बाकी तो इस अहंकार के व्यवधान से पता चलता है । एवं च अहंकार–चिज्जडग्रन्थि–ही यहाँ बंधन विवक्षित है क्योंकि अध्यात्मशास्त्र उसी से छुड़ाने में समर्थ है । क्योंकि यही सबसे पहले 'होता' है (अविद्या तो हमेशा ही है, वह 'होती' नहीं) और आगे सारे बंधन इसी से 'होते' हैं, इन दोनों कारणों से अहंकार 'भव' कहलाता है । चूडामणि (श्लो. २९९) में सुस्पष्ट शब्दों में बताया है

'सन्त्यन्ये प्रतिबन्धा पुंसः संसारहेतवो दृष्टाः ।
तेषामेकं मूलं प्रथमविकारो भवत्यहङ्कारः ॥'

इसी से छूटने के तरीके का यहाँ प्रसंग है । वेदान्तशास्त्र इसी ग्रंथिविमोचन के लिये प्रवृत्त है । यह प्रारंभ में अहंकारटीका के निवेश से पञ्चपादिकाकार ने स्पष्ट किया । अहन्ता-ममता के ग्रह-अतिग्रहों से परिसीमित न रह जाना मुक्ति है । 'मुझे समझाइये' से शिष्य ने कहा कि

मेरे उपयोग का ज्ञान दीजिये, मैं बहुश्रुत होने या अन्यों को शिक्षित करने के लिये नहीं पूछ रहा । कदाचित् एक जिज्ञासु को निमित्त बनाकर सभी अधिकारियों के लिये भी उपदेश होता है जैसा गीता में है किंतु उससे सामान्य जिज्ञासु अपने लिये साधननिर्धारण नहीं कर पाता अतः यहाँ प्रार्थना है कि विशेषकर मेरे लिये उपदेश दें । यद्यपि निर्विशेष मोक्ष आत्मरूप है जिससे शिष्य पूर्णतया परिचित नहीं तथापि अहन्ता-ममता से छूटने की संकल्पना रखकर पूछ रहा है । जैसे बँधा बछड़ा छूट जाता है अर्थात् रस्सी से नियंत्रित नहीं रहता वैसे अहन्ता-ममता से या, पूर्वोक्त रीति से, अहङ्कार से नियंत्रित न रहूँ ऐसे उपाय की जिज्ञासा है । अन्यों का मुझ पर अधिकार और मेरा दूसरों पर अनधिकार—यों दो तरह बंधनानुभव पहले कहा था तदनुसार यहाँ 'अस्मान्मुच्येयम्' और 'भवबंधनान्मुच्येयम्' ये दो वाक्य हैं जिनमें क्रमशः अपने पर डाली जाने वाली रुकावटों से एवं अन्यों पर अपनी प्रभावहीनता दोनों के निवारण का उपाय पूछा है । प्रश्न उपाय का है न कि आत्मस्वरूप का क्योंकि साक्षात् अभिलषित मोक्ष और उसके व्यवधान से उसके साधन की अभिलाषा होना स्वाभाविक है । अत एव ज्ञान और उसके जनक प्रमाण वाक्य का ही विश्लेषण उत्तर में किया जायेगा । किंतु अधिकारी के लिये श्रुतिनिर्देश है कि वह यह निर्धारण कर ले कि कर्मों से मोक्ष नहीं होता 'नास्त्यकृतः कृतेन' । अतएव यहाँ शिष्य बता रहा है कि वह निश्चय उसे है तभी कहा 'अनायासेन' । आयास अर्थात् यत्नसाध्य कर्म । शरीर से किये जाने वाले और मन से किये जाने वाले दोनों तरह के कर्म आयास हैं । जैसे बाह्य कर्म जन्य अतः परिच्छिन्न फल देता है ऐसे उपासना भी अस्थिर फल ही देगी । यथा-अर्थ उपासना भी क्योंकि यत्नसाध्य है अतः आयास है और वह भी यदि चित्त को ज्ञानयोग्य बनाकर प्रमा नहीं दिला पाये तो कैवल्यप्रद नहीं होगी यही आचार्यसंमत है । प्रमाण-प्रमेय का अनुसरण करने वाली प्रमा ही अनायास होती है । यद्यपि ज्ञान पाने के लिये अनेक आयास जरूरी हैं तथापि ज्ञान पाते ही जो निश्चय हो जाता है उसे रखने के लिये कोई आयास नहीं चाहिये जबकि उपासना तभी तक हो सकती है जब तक कोशिश करते रहें, योगज समाधि भी तभी तक रहती है जब तक निरोध करें । बाह्य कर्म यद्यपि करते रहना नहीं पड़ता तथापि उसका फल क्षयिष्णु है यह युक्ति व शास्त्र से सिद्ध है अतः नित्य मोक्ष का वह उपाय नहीं । आयास-सापेक्ष मोक्ष अवश्य अस्थायी होगा; वस्तुस्थिति आयास-निरपेक्ष होती है अतः स्थायी होती है । अतः शिष्य कह रहा है कि जिस अनायास से मैं मोक्षात्मक वस्तुस्थिति में प्रतिष्ठित हो सकूँ वह बतायें । इस तरह अनायास से नैष्कर्म्यरूप संन्यास विवक्षित है क्योंकि अध्यासमात्र रूप आयास का परित्याग ही वह संन्यासरूप उपाय है जो बंधन से मुक्त कराता है । यह अनायासता अधिष्ठानबोध से ही प्राप्य है अतः गुरु उसका उपदेश देंगे ।

विश्वेश्वर पण्डित ने प्रसंगवश विचार किया है कि बंधन किसका है और निष्कर्ष निकाला है कि अहंकार से अपने को एकमेक समझते आत्मा का ही बंधन है क्योंकि यद्यपि आत्मसंनिधि से चेतन-सा हुआ अहंकार बद्ध है तथापि उससे पृथक् कर समझा न होने से आत्मा स्वयं को बँधा मान रहा है । अहंकार के बिना बंधन नहीं क्योंकि गहरी नींद में वह नहीं रहता तो बंधन भी रह नहीं जाता । 'अनायास साधन' का अभिप्राय है कि ज्ञान के प्रति जो उपाय हैं यज्ञादि उन्हें न बतायें वरन् जो साक्षाद् मोक्षोपाय है वह अज्ञानविरोधी ज्ञान ही समझायें ।

— ४ —

परिहारः

साध्वी ते वचनव्यक्तिः प्रतिभाति वदामि ते ।

'इदं तद्' इति विस्पष्टं सावधानमनाः शृणु ॥५॥

तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थं यज्जीवपरमात्मनोः ।

तादात्म्यविषयं ज्ञानं तदिदं मुक्तिसाधनम् ॥६॥

*वक्ष्यमाणे समाधाने श्रोतृबुद्धेः सुखप्रवृत्त्यर्थं प्रकृतं प्रश्नं स्तौति–**साध्वीति** । प्रलोभनमात्रमेतदिति मा भूद् बुद्धिः ! इत्यभिप्रेत्याह–**वदामीति** । न च मुक्तिसाधनं परोक्षत्वेन उच्यते किन्तु तद् जिज्ञासितम् **इदम्** इत्यपरोक्षं वदामीत्याह–**इदमिति** । एकाग्रचेतसा श्रुतमेतत् ज्ञातुं शक्यम्, अन्येन तु श्रुतमपि दुर्ज्ञानम् इत्याह–**सावधानेति** ॥५॥ एवं पातनिकां कृत्वा मुक्तिसाधनं सप्रमाणं सविषयमुपन्यस्यति–**तत्त्वमस्यादीति** ॥६॥*

साध्वीति । विस्पष्टं वदामि **इत्यनेन स्पष्टत्वाद् इत्थम्** आचार्यधर्म **इत्युक्तम् । 'सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववद्' इति तृतीयाध्यायचतुर्थपादस्य षड्विंशं परमार्षं सूत्रम् । तदर्थश्चैवम्–यथाऽश्वस्य लाङ्गलादावयोग्यत्वेऽपि रथादौ विनियोगो योग्यत्वात् तथा ब्रह्मविद्याऽपि अयोग्यत्वात् स्वजन्यफले कर्माऽनपेक्षाऽपि स्वोत्पत्तौ तदपेक्षैव, पापक्षयादिद्वारा तदपेक्षाया योग्यत्वात् । 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' (बृ. ४.४.२२) इति विविदिषां विद्यां चोद्दिश्य यज्ञाद्याश्रमधर्ममात्रविधानाच्च । कथं विधिरिति चेद् ? यज्ञादिनिष्ठविविदिषादिसाधनत्वस्य अपूर्वत्वाद्, 'विविदिषन्ति' इत्यस्य लेडन्तत्वाच्च । वेदाध्ययनं वर्णिनो धर्मः । यज्ञदाने गृहस्थस्य । तपो वानप्रस्थस्य । यतिनोऽनाशकं कर्तव्यतयोत्तराऽविरोधि; यद्वाऽनाशकम् इत्यत्र 'अनुदरा कन्या' इतिवद् अल्पार्थको नञ्, तथा च हितमितमेध्याशनमिति भिक्षुधर्मोऽयम् इत्येवं पूर्वैः क्षुण्णोऽयं पन्थाः ।**

सावधानमनाः शृणु **इत्यनेन एकाग्रचित्तत्वं शिष्यधर्म इति सूचितम् ।** इदं तद् इति । **इदमेव मुक्तिसाधनमिति ॥५॥ 'तत् किम् ?' इति बुभुत्साऽभिमुखीभूताय शिष्याय तदेवाह**–तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थं **वाक्यश्रवणजन्यं जीवब्रह्मतादात्म्यविषयम्; उभयोरपि स एवात्मा–जीवस्य य आत्मा स्वरूपं स एव परमात्मनः, परमात्मनो य आत्मा स्वरूपं स एव जीवस्य इति–तदात्मा, तस्य भावः तादात्म्यम् एकत्वमित्यर्थः । तदेव विषयो यस्य ज्ञानस्य तत्तथोक्तम् । तत्त्वमस्यादिवाक्येन जीवब्रह्मतादात्म्ये प्रतिपादिते सति तत्प्रतिपादकवाक्यश्रवणजन्यं जीवब्रह्मतादात्म्यविषयं यज्ज्ञानमस्ति** तदिदं मुक्तिसाधनम् इति भावः । **'तदिदम्' इति तस्यैव वाक्यज्ञानस्य एतत्प्रकरणजन्यत्वमुक्तं, तत्त्वमस्यादिवाक्यस्यैव व्याख्यानत्वाद् अस्य ग्रन्थस्य, तयोरेकार्थत्वोपपत्तेः । पूर्वमुक्तं 'भवबन्धनाद्' इति, अनेन बन्धनिवृत्तिकामोऽधिकारी सूचितः । इदानीं प्रकरणस्य जीवपरमात्मतादात्म्यं विषयः; तादात्म्य-प्रकरणयोः प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभावः सम्बन्धः; मुक्तिः प्रयोजनम् इति । अतो विषयप्रयोजनसम्बन्धाधिकारिसद्भावात् प्रकरणानारम्भशङ्काऽपास्ता ॥६॥**

परिप्रश्न के लिये परिहार होना ही युक्त है । प्रश्न समेत उसके हेतुभूत दुःख व अज्ञान का भी जो त्रैकालिक हरण करे वही परिहार है । आचार्य ऐसा ही परिहार करने जा रहे हैं । यद्यपि आचार्य कृतकृत्य होते हैं तथापि करुणावश सम्प्रदायरक्षा के लिये सही तरह निवेदन करने वाले साधनसंपन्न शिष्य को परमार्थ का उपदेश प्रदान करते ही हैं । भाष्यकार ने अनेक जगह इस श्रुतिसूचित आचार के पालन के लिये विद्वानों को प्रेरित किया है । उत्तर देने से पूर्व शिष्य की जिज्ञासा की आदरणीयता प्रकट करना वैदिक रीति है जिसका यमराज, प्रजापति, याज्ञवल्क्य आदि ने पालन किया और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इसका पर्याप्त महत्त्व है क्योंकि शिष्य इससे उस आत्मविश्वास को प्राप्त करता है जिससे वह विद्या ग्रहण करने में अविचलित रहता है । मनु महाराज ने (२.१५९ आदि) विशेषकर आचार्य और सामान्यतः सभी के लिये नियम किया है कि कल्याण की शिक्षा देने में हिंसा का उपयोग नहीं करना चाहिये और वाणी ऐसी बोलनी चाहिये जो मीठी हो–प्रसन्नता दे–और ऊँचे स्वर आदि द्वारा कर्णकटु न हो ।

'अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोनुशासनम् । वाक्चैव मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममिच्छता ॥'

मनु का सभी को निर्देश है : मन-वाणी शुद्ध हों और निषिद्ध प्रवृत्तियों से सदा दूर रहें तभी वेदान्तों में कहा फल प्राप्त होता है । पीडितावस्था में भी ऐसे वचन नहीं बोलने चाहिये जो किसी का मर्म पीडित करें । इस शिष्टता का आचार स्थापित करते हुए यहाँ आचार्य विद्यार्थी के प्रश्न की प्रशंसा करते हुए प्रत्यक्ष भवबंधन से मोक्ष दिलाने वाले उपाय को परिभाषित करते हैं –

प्रिय शिष्य ! तुम्हारी शब्दबद्ध जिज्ञासाभिव्यक्ति भली लगती है । 'यही वह साधन है' यों निःसंदिग्ध रूप से मैं समझाता हूँ, ध्यान देकर सुनो : 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों से उत्पन्न जो ज्ञान जीव और परमात्मा के अभेद को विषय करता है वही यह मोक्ष का निरायास उपाय है ॥५-६॥

भगवान् ने बताया है कि 'मैं'-पद के लक्ष्यार्थ को ही जो भजे, अन्य का भजन न करे, उसका क्योंकि निश्चय, क्रतु, समुचित है इसलिये वह साधु है और जल्दी ही वह शाश्वत शान्ति पायेगा (गी.९.३०-१) । यहाँ शिष्य ने जो मुमुक्षा व्यक्त की उससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह सब उपाधियों से छूटे आत्मतत्त्व से अतिरिक्त कुछ नहीं चाहता; अन्य से उसे कोई प्रसन्नता नहीं है और न ही वह औपाधिक रूपों का सेवन करते हुए बंधनावर्त में परिभ्रमण को तैयार है । इसलिये उसकी बात को साध्वी (भली) कहा । हृदय तालाब है जिससे निकली नहर वाणी है ऐसा वेद में बताया है; वाणी साध्वी है तो पता चलता है कि हृदय में साधुता भरी है । यद्यपि दृश्य-प्रसंगों में बहुधा मन-वाणी में वैरूप्य दीखता है तथापि वह किसी दृश्यभूत फल के लिये कामनादि से प्रयुक्त होता है; निर्विशेष की प्रार्थना के पीछे कोई हीन अपेक्षा संभव नहीं अतः यह हृदय की साधुता द्योतित करती है । गुरु को शिष्य की साधुता मालूम पड़नी चाहिये तभी वे उसके परीक्षण से उसकी योग्यता का निर्णय करेंगे अतः साधुता होना ही पर्याप्त नहीं, गुरु को उसका प्रतिभान हो यह भी जरूरी है । कदाचित् जिज्ञासा व्यक्त भर कर देने से यद्यपि गुरु को भान तो हो जाता है कि इसे तत्त्व जानने की इच्छा है किन्तु 'प्रतिभान' तभी होता है जब शिष्य अन्य सब जिज्ञासा आदि इच्छाओं को निरुद्ध कर न केवल मुख से वरन् सभी संभव तरहों से व्यक्त करे कि वह आत्मजिज्ञासु है । अतएव वचनमात्र को साधु कहने की जगह वचनव्यक्ति की साधुता का उल्लेख किया । शिष्य में जब तक आत्मा जानने की इच्छा ही प्रधान नहीं होगी तब तक गुरु उसे महावाक्य सुनाकर भी असफल रहेंगे । इस प्रधानता का निर्धारण कर गुरु उपदेश की प्रतिज्ञा करते हैं । यद्यपि हमेशा ही उनका उपदेश निश्चयजनन के उद्देश्य से होता है तथापि यहाँ कथन 'विस्पष्ट' होगा क्योंकि सांगोपांग शास्त्रोपदेश का वर्णन किये बिना वे मोहनिवारक साक्षात् उपाय ब्रह्मविद्या के उत्पादक महावाक्य का ही खुलासा करेंगे और इसमें संशय लाने वाले हेतुओं को हटाते हुए पदार्थ-वाक्यार्थ का प्रतिपादन करेंगे । वस्तुतस्तु शिष्य को कहा जा रहा है कि 'तू सावधानी से साफ-साफ समझ ले, ऐसा समझ कि कोई संदेहादि न रह जाये ।' उसने संक्षेप की प्रार्थना की थी इसलिये कहना पड़ रहा है कि क्योंकि बहुतेरी बातें जो सहायक रूप से कही जाती हैं वे यहाँ नहीं कहेंगे इसलिये कोई अस्पष्टता न रह जाये इस तरह सावधानी से सुन, न समझ आये तो पूछ ले । गुरु का उपदेश स्वानुभव और प्रमाण से मेल खा रहा है या नहीं इसकी परीक्षा ही सावधानी है क्योंकि प्रमाण-अनुभूति से समंजस होने पर ही वह ज्ञानं अज्ञान को मिटा सकता है । यों जो विस्पष्ट नहीं सुनता अर्थात् सुन तो लेता है पर अनुभव-प्रमाण से तालमेल नहीं बैठाता अतः सब संदेह नहीं मिटा पाता, उसे उपदेश से पूर्ण लाभ नहीं प्राप्त होता । चित्त में एकाग्रता हो—दृश्य अनेकों की ओर विरक्ति से उनके प्रति ध्यान न देकर एक दृङ्मात्र का स्वरूप समझने में तत्परता हो—तभी वाक्योपदेश सुनकर ज्ञान उत्पन्न होता है । अतएव आत्मदर्शन की प्रधान इतिकर्तव्यता समाधान है; उसे पाने के उपाय शमादि हैं । सावधानी

कहते हैं अप्रमाद को । सुनने में प्रमाद है पदार्थों को व उनके सम्बंध को समझने की प्रमाणानुसारी कोशिश न करना । प्रसंग आदि के अनुसार वाक्यों का अर्थ होता है । तात्पर्यावधारण स्वयं या गुरु आदि से पूछकर किया हो तो शब्दों का विवक्षित अर्थ व संबंध पता चलता है, अन्यथा पूर्वाग्रहों से ग्रस्त हो ऐसे मनमाने अभिप्राय निकलते हैं जो सुनने में भले ही रमणीय लगें पर वेदार्थ न होने से अविद्या नहीं मिटा पाते और प्रायः तो जो उन आग्रहों वाले नहीं ऐसे सामान्य साधकों को सुनने में भी रमणीय नहीं लगते । अतः श्रवण के प्रति सावधानी का आचार्य विधान कर रहे हैं । 'विस्पष्टं' से मनन और 'सावधानमनाः' से निदिध्यासन इन सहकारियों सहित अङ्गी श्रवण का 'शृणु' से विधान है यह तो व्यक्त ही है ।

जिज्ञासित साधन को परिभाषित किया कि बिना आयास के मोक्ष का साधन वह ज्ञान है जो शास्त्रीय महावाक्य से उत्पन्न है और जीव-ईश्वर के अभेद को विषय करता है ।

प्रमा को दो तरह समझाया जाता है–प्रमाण से जन्य होना प्रमा होना है यह एक ढंग है । प्रमेय (या अबाध्य विषय) के अनुसार होने वाला ज्ञान प्रमा है यह दूसरा ढंग है । करण या विषय की दृष्टि से निरूपण करने पर ज्ञान को प्रमा समझा जाता है । यद्यपि विषयानुसारिता प्रधान है तथापि निःसंदिग्धता या निश्चय के लिये प्रमाणजन्यता की आवश्यकता अनुभवसिद्ध है । जिसे हम प्रमाण नहीं मानते उस साधन से अर्थानुरूप ज्ञान हो जाये तो भी संदेहास्पद ही रहता है जब तक हमें मान्य प्रमाण उसे सत्यापित न कर दे । यहाँ भी मोक्षसाधन ज्ञान प्रमारूप निश्चय चाहिये अतः उसके बारे में दोनों बातें कहीं कि वह प्रमाणजन्य हो, विषयानुसारी हो । यद्यपि सिद्धान्त में छह प्रमाण माने हैं : (१) प्रत्यक्ष–विषय-इंद्रिय सम्बंध से जो सम्बद्धविषयक अनुभव होता है वह प्रत्यक्ष है । अथवा विषयजन्य प्रमा के साधन को प्रत्यक्ष कहते हैं । (२) अनुमान–हेतु जानकर पक्ष को साध्य वाला समझना अनुमान है । अन्वय-व्यतिरेक भी अनुमानरूप ही माने जाते हैं । (३) शास्त्र–प्रमाणान्तर से न समझे गये और अबाधित अर्थ के बारे में शब्द समझने से हुआ ज्ञान । लौकिक शब्द भी प्रमाहेतु होता है किन्तु शास्त्र तो प्रमा का अव्यभिचारी हेतु है । शास्त्र का मुख्य अर्थ अपौरुषेय वेद है और तदनुसारी स्मृत्यादि गौणरूप से शास्त्र कहे जाते हैं । (४) उपमान–सदृश पदार्थ के ज्ञान से असंनिकृष्ट पदार्थान्तर का ज्ञान उपमान होता है जैसे चित्र से व्यक्ति जाना जाता है । (५) अर्थापत्ति–उपपाद्य (या कार्य) से उपपादक (या कारण) का ज्ञान । (६) अनुपलब्धि–योग्यानुपलब्धि से होने वाला अर्थाभाव का ज्ञान । योग्यानुपलब्धि साक्षिग्राह्य होती है । – यों छह प्रमाण स्वीकृत हैं; तथापि जीवेश्वराद्वैत में इकलौता शास्त्र ही प्रमाण है । शास्त्रानुसारी विद्वदनुभवादि इसके उपोद्बलक भले ही हों, स्वतंत्र प्रमाण अद्वैत में शास्त्र ही है । आत्मा ऐंद्रिय न होने से प्रत्यक्ष व तन्मूलक प्रमाणों के अयोग्य है अतः शास्त्र ही उसके बारे में प्रमा दे सकता है । जो स्वतः सिद्ध ज्ञान आत्मा के विषय में है वह क्योंकि शास्त्र से बाधित और युक्तिविरुद्ध है अतः प्रमाण नहीं, चाहे आत्मानुसन्धान का अनिवार्य मार्ग हो !

जैसे प्रमाता ही परीक्षित होने पर पाप्मदोषादि से वर्जित भासता है वैसे वर्तमान आत्मानुभव का ही गलत हिस्सा हट जाने पर वही अखण्डानुभव है । अतः यह ज्ञान भी अजन्य कहा जाता है, केवल इसके प्रमाणविरुद्ध या अयथार्थ अंश का निवारण किया जाता है । शास्त्र के कर्मप्रसंग तो चित्त को आत्मग्रहण के योग्य बनाने के उपाय बताते हैं और उपनिषदें आत्मस्वरूप का परिचय देती हैं । उनमें भी प्रधान उपदेश अद्वैत का है जिसे कहने वाले वाक्य महावाक्य हैं जिनमें छान्दोग्यगत 'तत्त्वमसि' अधिक चर्चित है यद्यपि सभी महावाक्य समान प्रधानता वाले हैं । समन्वयाधिकरण के अनुसार यद्यपि सभी समान प्रसंग विचारणीय हैं और एक ही बात बताने वाले अनेक वाक्य एकत्र हों तो उनमें कोई एक ही प्रमाण एवं अन्य अनुवाद होते हैं तथापि अधिकारी के लिये उसकी शाखा में आया वाक्य प्रमाण एवं अन्य वाक्य अनुवाद या अभ्यासरूप लिंग हो जाते हैं यह व्यवस्था है । अतः तत्तत् स्थल पर सभी महावाक्य समझाये गये हैं और चार प्रधान वाक्य पंचदशी आदि में एकत्र भी स्पष्ट किये हैं । किन्तु वेदान्ताचार्य मौके पर महावाक्य के रूप में तत्त्वमसि का ही विशेष आदर करते हैं, भगवान् शंकराचार्य ही यह परंपरा स्थापित कर गये हैं । अनेक प्रकरण ग्रन्थों में उन्होंने इसका विस्तार किया है । अर्थतः तो वह सारा विस्तार किसी भी महावाक्य में घटाया जा सकता है पर आचार्यों को इस वाक्य के प्रति रुचि है यह तो स्पष्ट है । यहाँ भी महावाक्यों का प्रतिनिधि तत्त्वमसि ही लिया है । जीव-ईश्वर का अभेद बताने वाले सभी वाक्य महावाक्य हैं । विश्वेश्वर पंडित ने समझाया है कि प्रकृत प्रकरण स्वयं महावाक्य है क्योंकि इससे वही ज्ञान होगा जो तत्त्वमसि से होता है । जिन्हें वेद समझना अपनी सामर्थ्य से परे लगता है या अन्यान्य हेतुओं से वेदाध्ययनपूर्वक वेदार्थ का विचार नहीं कर सकते उन पर विशेष कृपा कर आचार्यों ने स्वयं 'उपनिषदों' की अर्थात् ब्रह्मविद्याबोधक ग्रंथों की रचना की है जिन्हें समझना अपेक्षाकृत सरल भी है और जो ग्रंथ सभी को सुलभ हैं । अतः प्रकृत और ऐसी रचनाओं का मूल्य अपार है । यद्यपि 'तत्त्वमस्यादि' में आदि-पद से अन्य महावाक्य ही विवक्षित हैं तथापि आगे के ग्रंथ से स्पष्ट होगा कि आचार्य पदार्थबोधक अवान्तर वाक्यों को भी मन में रखकर यहाँ 'आदि' कह रहे हैं क्योंकि उनसे पदार्थ समझे बिना महावाक्यार्थ का कुछ पता चल नहीं सकता । जिनका अभेद है उन जीवस्वरूप व ईश्वरस्वरूप के प्रतिपादक वाक्य अवान्तर वाक्य कहे जाते हैं । महावाक्य में आये पदों के अर्थ तो अवान्तर वाक्यों से ज्ञेय हैं, उन अर्थों का जो अभेदरूप *संबंध* है वही महावाक्य का अर्थ है । जीव का जो निजी रूप है वही ईश्वर का निजी रूप है जैसे घटाकाश व महाकाश का स्वरूपभूत आकाश एक ही पदार्थ है या बिम्बत्व-प्रतिबिम्बत्व धर्मों वाला मुखादि एक ही होता है । यह एकता, अभेद ही यहाँ 'तादात्म्य' शब्द का अभिप्राय है । इसके बारे में जो संशय और विपर्यय से रहित निश्चय होता है उसी को मुक्ति का निरायास साधन कहा जाता है क्योंकि वह ज्ञान होते ही भेद का बाध हो जाता है, किसी बाह्य-आभ्यंतर आयास की अपेक्षा नहीं रह जाती । आचार्य ने 'यही मुक्तिसाधन है' यों निर्णीत कर महावाक्य बता दिया कि शिष्य परिपक्व हो तो यह सुनकर अखण्ड साक्षात्कार पा लेगा व उसमें प्रतिष्ठित रहेगा और यदि परिपक्व न हुआ तो स्वतः प्रश्न उठायेगा एवं यथावश्यक स्पष्टीकरण कर देंगे ।

— ५-६ —

प्रश्नचतुष्टयम्

को जीवः कः परश्चात्मा तादात्म्यं वा कथं तयोः ।
तत्त्वमस्यादिवाक्यं वा कथं तत् प्रतिपादयेत् ॥७॥

तत्र प्रश्नचतुष्टयमुत्थापयति–**को जीव इति** *। (१)* **जीवो** *देहादीनामन्यतमो वा ? तदतिरिक्तो वा ? (२)* **परश्चात्मा** *सप्रपञ्चो वा ? निष्प्रपञ्चो वा ? (३) अनयोश्च* **तादात्म्यं** *तथैवावस्थितयोः ? अन्यथास्थितयोर्वा ? (४)* **वाक्यं च तत्** *तादात्म्यं पदयोः मुख्यया वा लक्षणया वा वृत्त्या कथं प्रतिपादयति ? इति प्रष्टुरभिप्रायः ।*

एवं शिष्येण पृष्टम् आयासरहितमुक्तिसाधनं जीवपरमात्मनोः तादात्म्यविषयं ज्ञानमित्युक्तम् । इदानीं तत्रानुपपत्तिं शिष्यश्चोदयति । जीवं परमात्मानं च न जानामि, अज्ञानतः; तयोस्तादात्म्यं कथं **ज्ञायते ? परस्परविलक्षणयोः जीवेश्वरयोः कथमैक्यं घटते ?** तत्त्वमस्यादि वाक्यं वा तद् **अज्ञातपदार्थतादात्म्यं** कथं प्रतिपादयेद् ? **इत्यर्थः ॥७॥**

सत्य अभिव्यक्त करना जितना सरल है उसे आत्मसात् कर पाना उतना ही कठिन है । लौकिक सत्यों को भी बताने वाले लाखों मिलेंगे पर उन्हें मानकर अपना जीवन ढालने वाले इक्के-दुक्के ही मिल सकते हैं । असत्य में एक अजीब आकर्षण होता है जिसे उसकी गैरसच्चाई की जानकारी भी मिटा नहीं पाती बल्कि वही उस जानकारी को नज़रन्दाज़ करने को मज़बूर करता है । बाह्य जगत् की तरह मानस जगत् की भी यह स्थिति है : हमारे मन में सत्याधारित भाव न उठता हो ऐसा नहीं किंतु झूठ पर टिके भाव अभिव्यक्त करने का आकर्षण प्रबल पड़ता है, चाहे इस द्वन्द्व में हम मनोविकारों से और फलतः देहविकारों से भी ग्रस्त होते चले जाते हैं । वास्तविकता में वह 'सौंदर्य' नहीं होता जो मन को लुभा सके । स्वरूपभूत सत्यता ही सत्य का सौन्दर्य है जिसकी ओर शिक्षित बुद्धि ही उन्मुख हो पाती है । मनोरम सुन्दरता तो झूठ का ही विलास हो सकता है; झूठ चाहे ऐहिक हो या पारलौकिक, धर्मविरुद्ध हो या धर्मानुरूप । सारे झूठ के आवरण हटाकर सत्य का दर्शन कठोर मनोनिग्रही ही कर सकता है । आचार्य ने सूत्र रूप में महावाक्य सुना दिया । उसका आपात अर्थ भी अद्वैत ही है, जैसा श्रीहर्ष ने भी कहा है 'आपाततो यदिदमद्वयवादिनीनाम् अद्वैतमाकलितमर्थतया श्रुतीनाम्', लेकिन अपने–और परमेश्वर के–झूठे आवरणों का मोह हमें वह अर्थ स्वीकारने नहीं देता, अर्थान्तरों की संभावना कराता है, यथाश्रुत अभेद की असंभवता में अनेक हेतु प्रकट करता है । वेदार्थ झुठलाने के प्रयास में कई वादी तो स्वानुभव का ही अपलाप करने लग जाते हैं, अप्रामाणिक मान्यतायें, कल्पनायें, आशाएँ एकत्र करते चले जाते हैं केवल इसलिये कि औपनिषद अद्वैत सिद्ध न हो । शिष्य यद्यपि यों पूर्वाग्रहग्रस्त नहीं है

तथापि सहज में वह अद्वयता अंगीकार नहीं कर पाता क्योंकि अपने और परमेश्वर के बारे में उसे जो कोई जानकारी है वह इसमें आड़े आती है । अतः आचार्य महावाक्य से जिनका अभेद बता रहे हैं वे हैं कौन—क्या मैं जिन्हें जानता हूँ वे ही हैं या अन्य कोई ? अभेद भी किस ढंग का है ? इत्यादि जिज्ञासा उसे प्रश्न करने को बाध्य करती है —

गुरुवर ! जीव कौन है ? और परमात्मा कौन है ? उन दोनों का तादात्म्य कैसे है ? किं च 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य उनके तादात्म्य को कैसे बताता है ?

प्रधानतः यहाँ चार प्रश्न हैं : (१) जीव कौन है ? यहाँ आक्षेप भी निहित है कि जीव कोई वस्तु है भी या नहीं ? कई वादी आत्मा, अतः जीवात्मा भी मानते नहीं । मानने वालों में भी कोई शरीरादि दृश्य पदार्थों को ही जीव मानते हैं, कोई दृश्य व अदृश्य पदार्थों के सम्मिलित रूप को जीव मानते हैं, कोई उसे कर्ता-भोक्ता तो कोई केवल भोक्ता मानते हैं, किन्हीं को वह ज्ञान वाला लगता है, अन्य उसे ज्ञानाश्रयरूप से भासने वाला कहते हैं, कोई उसे अणु, कोई मध्यम परिमाणी तो कोई विभु स्वीकारते हैं, किसी को वह क्षणिक, कुछ को यावज्जीवन स्थायी और कुछ को सनातन मान्य है । इस प्रकार जिसके बारे में विचारकों का भी ऐकमत्य नहीं उसे आचार्य परमेश्वर से एक कह रहे हैं तो शिष्य को स्वाभाविक है कि जिज्ञासा हो कि क्या इनमें से कोई स्वरूप जीव का है या अन्य ही कुछ अर्थ जीवशब्द का समझकर वे उसका अभेद कह रहे हैं । यद्यपि जीव-ईश्वर का अभेद कहा 'तत्त्वमसि' से जिसमें 'तत्' शब्द प्रथम है अतः ईश्वर सम्बंधी प्रश्न पहले पूछना चाहिये तथापि क्योंकि मोक्ष जीव का ही होना है इसलिये वही प्रधान है और उक्त वाक्य से हुआ बोध जीव के अपरोक्षानुभव के विरुद्ध लगता है इसलिये भी उसके स्वरूप का निर्धारण पहले करना संगत है । यद्यपि उपनिषत् का प्रधान क्रम ईश्वर से प्रारंभ होता है, इसीलिये शारीरकशास्त्र भी ब्रह्मजिज्ञासा, ब्रह्मलक्षण से आरंभ हुआ है तथापि कहीं-कहीं उपनिषत् भी जीव से प्रारंभ करती है—जैसे माण्डूक्य, ऐतरेय, मैत्रेयी ब्राह्मण आदि—और जीव हमें प्रत्यक्ष होने से इसके बारे में अनुपपत्ति भी पहले उपस्थित हो जाती है अतः अनेक प्रकरणों में जीवात्मा के स्वरूप के शोधन से ही आरंभ किया है । आचार्य श्रीसुरेश्वर ने मुखतः यही कहा है कि जीवस्वरूप की गैरसमझी से ही महावाक्य का अर्थ समझ नहीं आता—'श्रावितो वेत्ति वाक्यार्थं न चेत् तत्त्वमसीत्यतः । त्वम्पदार्थानभिज्ञत्वाद् अतस्तत्प्रक्रियोच्यते ॥'नै. सि. २.१॥ इस तरह शिष्य का प्रथम प्रश्न संगत है कि जीव कौन है ।

(२) द्वितीय प्रश्न ईश्वरविषयक है : जिससे मुझ जीव को अभिन्न कह रहे हैं वह 'तत्' कहलाने वाला परमेश्वर कौन है ? है भी या नहीं ? सांख्यवादी तो जड प्रकृति से ही सृष्टि-प्रक्रिया रच लेते हैं, ईश्वर मानते ही नहीं। चार्वाक आदि तो नहीं मानते इसमें कहना ही क्या ! जीव से अत्यन्त भिन्न शक्तियुक्त चेतन ईश्वर है यह आगमानुसर्ता मानते हैं । उनमें कुछ

जीव से किसी खास तरह का अभेद भी ईश्वर में बताते हैं । किन्हीं की मान्यता है कि वह सर्वज्ञ किन्तु परिणामि-नित्य है अर्थात् वह बना तो सदा रहता है पर उसमें बदलाव आते रहते हैं क्योंकि जैसे समुद्र तरंगादिरूपों में बदलता रहता है ऐसे ईश्वर ही जीव-जगत् रूप में बदल जाता है । न्याय दर्शन में नित्यज्ञानादि वाला किंतु जीव से अत्यंत भिन्न ईश्वर माना जाता है जो जगत् का केवल निमित्त कारण है । योगी भी जीवेतर ईश्वर स्वीकारते हैं क्योंकि शास्त्र में वह वर्णित है (भले ही उसके होने-न-होने से कोई अंतर न पड़ता हो !) वेदादिसच्छास्त्र मानने वालों में मीमांसक, सांख्य आदि ईश्वर मानते ही नहीं और इन शास्त्रों को न मानने वालों में अनेक हैं जो ईश्वर स्वीकारते हैं अतः उसे केवल शास्त्रीय पदार्थ कहना नहीं बनता और ईश्वर भी इसीलिये युक्ति से समझना आवश्यक हो जाता है । प्रत्यक्षसिद्ध वह नहीं है यह कहना भी सरल नहीं क्योंकि अनेक महापुरुष घोषणा करते हैं उन्हें ईश्वर का साक्षात्कार हुआ; उन सभी को झूठा कहना बनता नहीं । लेकिन वे जब बताते हैं कि उन्हें दृष्ट ईश्वर कौन है, कैसा है तब मतभेद प्रकट होता है अतः सभी को सच्चा कहना भी सरल नहीं ! कोई ईश्वर को सरूप मानते हैं कोई नीरूप; कोई उसमें कुछ गुण-क्रिया स्वीकारते हैं, कोई नहीं; किन्हीं को वह परिच्छिन्न लगता है—कहीं बहिश्त आदि में ही रहने वाला—किन्हीं को व्यापक; इत्यादि इतने अधिक मतभेद हैं कि इनका समन्वय अत्यंत कठिन है । संसार सम्बन्ध ईश्वर में वास्तविक है, अवास्तविक है, सनातन है, कादाचित्क है, स्वाभाविक है, औपाधिक है इत्यादि विवाद भी ईश्वरवादियों में देखा जाता है । जीव कम-से-कम अपरोक्षसिद्ध है, उसके स्वरूप के बारे में ही विप्रतिपत्तियाँ हैं, लेकिन ईश्वर के न केवल स्वरूप वरन् सत्त्व के बारे में भी ऐकमत्य नहीं है । अतः परमेश्वर में क्या प्रमाण—यह भी जिज्ञास्य है । केवल शास्त्र प्रमाण हो तो जिन्हें शास्त्र अधिगत नहीं ऐसे नास्तिक कैसे मान लेते हैं कि ईश्वर है ? किं च शास्त्र मानने वाले भी ईश्वर का अस्तित्व नहीं स्वीकारते । अतः शास्त्रप्रामाण्य-ईश्वरसिद्धि का न अन्वय है, न व्यतिरेक । कुछ विचारक तर्कसिद्ध ईश्वर की चर्चा करते हैं, अन्य उसे सुनना भी नहीं चाहते केवल आगमसिद्ध मानते हैं । आनंदगिरि टीका में प्रश्न दिखाया है कि परमात्मा सप्रपंच है या निष्प्रपंच ? तात्पर्य है कि प्रथमतस्तु प्रपंच है या नहीं ? है, तो उसकी सत्ता-स्फूर्ति ईश्वराधीन है या नहीं ? प्रपंच की सृष्टि आदि पर ईश्वर का नियंत्रण है या नहीं ? इनमें प्रत्येक विकल्प मानने पर अनेक प्रश्न उठते जाते हैं । और यदि प्रपंच है ही नहीं तो ईश्वर स्वतःसिद्ध है या परतः ? स्वतः हो तो जीव से भिन्न है या अभिन्न ? भिन्न हो तो जीव उसे नहीं ही जान सकता अतः वह अप्रामाणिक है । अभिन्न हो तो जीव स्वयं को सप्रपंच कैसे समझ रहा है ? इत्यादि अनेक विकल्प सामने आते हैं । अतः सबका संग्रह शिष्य ने किया यह पूछकर कि परमात्मा कौन है ?

(३) तीसरा सवाल है कि जीव-ईश्वर का तादात्म्य, अभेद है यह कैसे ? जीव और ईश्वर यों विभिन्न कहे-समझे जाने वालों में अभेद कैसे हो सकता है ? उनका स्वरूप ही विभिन्न है– एक सर्वज्ञ सर्वशक्ति प्रशासक नित्यमुक्त सदानंदमग्न स्वतंत्र अपरिच्छिन्न सनातन है और दूसरा अल्पज्ञ अल्पशक्ति प्रशासित हमेशा से बद्ध सदा दुःखी परतंत्र परिच्छिन्न जन्म-मृत्यु वाला है । प्रमाण भी एक को परोक्ष बताते हैं जबकि दूसरा अपरोक्ष है । कर्म भी दोनों के विलक्षण हैं–एक फल देता है, दूसरा केवल पाता है । किं च उनका तादात्म्य है का मतलब क्या ? क्या वे हैं दो और 'तादात्म्य' नामक कोई तीसरी चीज से दो जुड़े हैं ? या हैं दो और दोनों में कोई तीसरी विशेषता तादात्म्य है ? तादात्म्य द्रव्य है, गुण है, क्रिया है, सामान्य है, समवाय है या विशेष है ? अथवा भेदादि किसी का अभाव है ? तादात्म्य के स्वरूप की तरह उसके प्रमाण को भी समझना पड़ेगा । जीवेश्वरतादात्म्य शब्द तभी कहेगा जब तादात्म्य को कहीं लोक में समझा हो । अतः वह कहाँ प्रसिद्ध है, कैसे ज्ञात होता है ? किं च जीव-ईश्वर जैसे हैं वैसे रहते हुए भी उनका तादात्म्य है या किसी परिवर्तन की जरूरत है ? परिवर्तन चाहिये तो एक में या दोनों में ? एक में तो किसमें ? यदि जैसे हैं वैसे ही उनमें तादात्म्य है तो वह तादात्म्य सफल है या निष्फल ? निष्फल हो तो शास्त्र-विषय कैसे और सफल हो, तो सिद्ध है या साध्य ? सिद्ध है तो फलदान के लिये किसी की अपेक्षा रखता है या नहीं ? इत्यादि अनेक शंकाओं का बीज भी श्री आनंदगिरिजी ने टीका में व्यक्त किया है ।

(४) चतुर्थ प्रश्न है कि महावाक्य जीव-ईश्वर का अभेद कैसे बताता है ? प्रत्यक्षबाधित बात की प्रमा शास्त्र से भी होना नामुमकिन है । अपरोक्ष भेद का बाध परोक्ष ज्ञान करेगा नहीं और शब्द से परोक्ष ही ज्ञान होता देखा जाता है । शब्द से अपरोक्ष अनुभव मानें तो युक्ति और दृष्टान्त क्या हैं ? किं च शास्त्रवाक्य क्या प्रतिपांदक अर्थात् ज्ञापक होता है या कारक ही होता है अर्थात् कुछ करने में प्रवृत्त ही करता है ? प्रतिपादक है तो वह अद्वैतप्रतिपादन क्यों करता है, न करे तो हर्ज क्या है (अर्थात् वाक्य को अद्वैतार्थक न मानें तो कौन-सा दोष आयेगा जिससे बचने के लिये उसे अद्वयार्थक मानना अनिवार्य है) ? इस प्रकार के महावाक्यों के सद्वय अर्थ भी संभव हैं या नहीं ? इस प्रतिपादन में वाक्य को युक्ति की सहायता प्राप्त है या नहीं ? वाक्यगत पदों के प्रसिद्ध अर्थ मानकर ही वाक्य से अभेद समझ आता है या अन्य कोई अर्थ मानकर अर्थात् वाच्यार्थों का अभेद है या लक्ष्यार्थों का ? लक्षणा है तो किस पद में ? या दोनों पदों में है ? है तो जहत्स्वार्था है, अजहत्स्वार्था है या जहदजहत्स्वार्था है ? क्या वाक्य 'तादात्म्य' आदि किसी शब्द का उल्लेख कर कहता है कि इनका तादात्म्य है या और किसी ढंग से समझना पड़ता है कि वाक्य इनका अभेद बता रहा है ? यदि किसी कथनरीति से समझा

जाता है तो वह रीति क्या सर्वत्र ऐसा अभेद बताती है या कहीं-कहीं ? कहीं ही बताये तो नियामक क्या ? 'तत्त्वमसि' आदि से अभेदबोध कहा तो क्या आदि से केवल श्रुतिवाक्य अभिप्रेत हैं या अन्य भी ? क्या श्रुतिनिरपेक्ष वाक्य भी अद्वैत बताते हैं या नहीं ? श्रौत वाक्य प्रतिपादन करता है तो किस फल के लिये ? क्या एक बार सुनने से वह वाक्य बोध कराता है या बार-बार सुनना पड़ता है, या जपते रहना पड़ता है : अर्थात् वाक्य से बोध हो इसमें इतिकर्तव्य क्या है ? साथ में कोई कर्म भी चाहिये या नहीं ? इत्यादि बहुतेरे प्रश्नों को संपिंडित कर चौथी जिज्ञासा व्यक्त की गयी है ।

यहाँ यह तात्पर्य नहीं कि इस प्रकरण में इन सभी पहलुओं से विचार होगा क्योंकि पहले ही 'संक्षिप्य वद' कह चुके हैं । इतना ही तात्पर्य है कि अधिकारी को अपने संस्कारानुसार इस तरह के प्रश्न उठा करते हैं जिनका उत्तर उसे गुरु से पाना चाहिये । शास्त्रों में इस तरह के अनंत प्रश्नों के विस्तृत उपपत्ति-प्रमाणयुक्त उत्तर दिये गये हैं, कई वादग्रंथ ऐसे ही उत्तरों के संग्रह हैं । प्रकृत प्रकरण में यथावश्यक उत्तर एकत्र कर आचार्य बतायेंगे ताकि अधिकारी को वाक्यार्थ समझ आ जाये ।

– ७ –

जीवः

अत्र ब्रूमः समाधानं कोऽन्यो जीवस्त्वमेव हि ।

यस्त्वं पृच्छसि मां 'कोऽहं' ब्रह्मैवाऽसि न संशयः ॥८॥

*प्रश्नचतुष्टयस्योत्तरमाह–**अत्र ब्रूम** इति । को जीवः ? इति प्रश्नस्य प्रतिवचनं दर्शयति–जीवो नाम देहादिव्यतिरिक्तः तत्साक्षी त्वंपदार्थः । 'योऽयं विज्ञानमयः पुरुषः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः' (बृ. ४.३.७) सिद्धः । न तु कश्चित्त्वत्तोऽन्यो देहादिर्जीवः, तस्य दृश्यस्य द्रष्टृत्वानुपपत्तेः वक्ष्यमाणत्वाद् इत्यर्थः । योऽहं जीवशब्दार्थः सोऽहं ब्रह्मणो भिन्नोऽभिन्नो वा ? इति पृच्छन्तं प्रत्याह–**यस्त्वमिति** । मां प्रति **यस्त्वम् 'अहं कः** स्याम् ?' इति **पृच्छसि, त्वं ब्रह्मैवाऽसि; न** त्वस्मिन्नेव वाक्यार्थे कश्चित् प्रतिबन्धोऽस्तीत्यर्थः ॥८॥*

एतानाक्षेपान् क्रमेण समाधातुमाचार्य आह । अत्र त्र्याक्षेपेषु प्राथमिकस्य उत्तरत्वेन चैतन्यस्य जीवत्वं मत्वाऽऽह– अन्यो जीवः क **इति चेत् ? चेतनादन्यो जीवो नास्तीत्यर्थः । ननु तथाऽपि चेतनस्य ज्ञेयस्य अभावाद् अज्ञातत्वं तथैव अवतिष्ठते ? इत्यत** आह–त्वमेवेति **। चेतनस्य जीवत्वाऽभावेऽपि स्वव्यतिरिक्तान्तःकरणादिसाक्षित्वेन**

स्वस्यैवानुभवसिद्धत्वाद् ज्ञातत्वमस्तीति भावः । हि-शब्दो हेत्वर्थे; वाच्ययोस्तादात्म्यं न सम्भवतीति यतः ततः कारणात् लक्ष्ययोः तादात्म्यं संभवतीति कृत्वा नानुपपत्तिः इत्यर्थः । तृतीयाक्षेपसमाधानेन चतुर्थाक्षेपस्याऽपि समाधानं जातमिति द्रष्टव्यम् । चेतनो जीव इत्युक्तम्; चेतनस्य जीवत्व उपपत्तिमाह—यस्त्वं पृच्छसीति **। अचेतनस्य प्रष्टृत्वानुपपत्तेः जीवस्य चेतनत्वमुपपन्नम् इत्यर्थः । देहेन्द्रियादीनामपि चेतनसान्निध्याच्चेतनवद् अवभासमानत्वमेव, न तु चेतनत्वम्; अपि तु तत् साक्षिणः, 'तत्त्वमसि' (छा. ६.८.७), 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृ. १.४.१०), 'अयमात्मा ब्रह्म' (मां. २) इत्यादिश्रुतिभ्यः । ब्रह्मत्वाभ्युपगमाच्चेतनत्वं सिद्धम् । इत्येतदर्थं हृदि निधायाचार्य आह—**ब्रह्मैवासीति **। प्रथमप्रश्ने जीवपरयोर्लक्षणस्य पृष्टत्वात् समाधानावसरे जीवस्यैव लक्षणमुक्तं, न परस्य—इति न शङ्कनीयम्; 'ब्रह्मैवासि' इत्यनेन देहेन्द्रियादिसाक्षिणश्चेतनस्य जीवस्य ब्रह्मताऽभिधानात् सर्वसाक्षी चेतनः परमात्मेत्युक्तमेव ॥८॥**

वाक्योपदेश होने पर उसे समझने के लिये सब जरूरी बातें पूछी गयीं अतः आचार्य उत्तर देते हैं—

इस प्रसंग में हम शंकाओं का निराकरण करते हैं : तुम से अन्य जीव कौन है ! जो तुम हमसे पूछ रहे हो 'मैं कौन हूँ ?' वही तुम जीव हो और वास्तव में तुम ब्रह्म ही हो इसमें कोई संशय नहीं ॥८॥

आनंदगिरि स्वामी ने स्पष्ट विषयविभाजन दिखाया है कि यहाँ से प्रथम प्रश्न का उत्तर है, श्लोक २८ से दूसरे का, श्लोक ३७ से तीसरे का और श्लोक ४२ से चौथे का ।

भगवान् शंकराचार्य पारिभाषिक आडम्बर से दूर रहकर सीधे ढंग से तत्त्व व्यक्त करने में माहिर हैं । कर्ता-भोक्ता जीव है, देहेन्द्रियसंघात में अभिमानी जीव है, स्वयं को परिच्छिन्न समझता चेतन जीव है, अवस्थात्रय वाला जीव है, पाँच कोशों वाला जीव है आदि सभी परिभाषायें जीव की हैं और आचार्य ने सभी को स्पष्ट किया है लेकिन यहाँ प्रष्टा शिष्य को आत्मानुसन्धान में प्रेरित करने के लिये, उपाधिप्राधान्य की अपेक्षा प्रत्यक्प्राधान्य से विचार कराने के लिये वे उत्तर दे रहे हैं : 'तू ही जीव है !' उसने पूछा था 'जीव कौन है ?' उसमें आक्षेप भी निहित था । प्रश्न व आक्षेप दोनों को एक ही सरल ढंग से निपटा दिया यह कहकर कि 'तू ही जीव है' । इतना सीधा उत्तर अन्यत्र प्रकरणों में दुर्लभ है । उपदेशसहस्री गद्य भाग में अवश्य इस विषय को ऐसी ही सहजता से समझाया है । जैसे याज्ञवल्क्य ने सीधा कहा था 'एष त आत्मा सर्वान्तरः' (बृ. ३.४), यहाँ वैसे ही आचार्य ने शिष्य से कहा है । सूत्रभाष्य (४.१.३), गीताभाष्य (१३.२) आदि स्थलों पर 'अविद्यावान् कौन ?' इस प्रश्न का भी भाष्यकार ने ऐसा ही सहज उत्तर देकर शास्त्रार्थ को आनुभविक बनाया है । हम जिसे 'मैं' समझ रहे हैं उस पर एकाग्र

हो चिंतन करना चाहिये जो हम करते नहीं । स्थूल-सूक्ष्म शरीरों को और इन वाले को एवं कभी-कभी उसे जो कम-से-कम स्थूल शरीर तो अवश्य छोड़ने वाला है व प्रतीतितः तो सूक्ष्म भी छोड़ेगा, हम 'मैं' समझते रहते हैं । सूक्ष्म शरीर का देहान्तरगमन शास्त्रसिद्ध है लेकिन सामान्य व्यक्ति ऐसा नहीं समझता कि इंद्रियादि साथ जायेंगी और वादियों में–आस्तिकों में भी–इस पर मतभेद भी है कि साथ क्या-क्या जाता है । इस तरह विभिन्न पदार्थ 'मैं' समझते रहने पर भी हमें अपनी परिभाषा करनी पड़े–'मैं कौन हूँ ?'–तो सामान्य व्यक्ति से लेकर महामहोपाध्याय पर्यन्त प्रायः सभी निर्णय कर कुछ कह नहीं पायेंगे ! प्रारंभ अध्यात्मसाधना का यहीं से है कि हम विवेकपूर्वक निर्धारण करें 'मैं' कौन हूँ ? यद्यपि आचार्य ने कह दिया 'तू ही जीव है' तथापि शिष्य समझ नहीं पाया यह अगले श्लोक से पता चलता है । हम अपना व्यवहार करते जरूर हैं, अन्य 'व्यक्तियों' से भी व्यवहार करते हैं लेकिन एक अविचारित समूह को ही 'मैं, तू' आदि मानकर काम चलाते रहते हैं अतः 'मैं ही जीव हूँ' यह समझना भी असंभव हो जाता है क्योंकि इसमें आये 'मैं'-शब्द का ठीक-ठीक अर्थ पता नहीं है । इसीलिये आगे आचार्य विवेक द्वारा स्पष्ट करेंगे कि 'मैं' कौन है जो जीव है ।

शारीरकशास्त्र के द्वितीयाध्याय-तृतीयपाद में जीव पर विचार किया गया है । सर्वप्रथम बताया है कि जन्म-मरण शरीर का होता है, आत्मा या जीव का नहीं, भले ही कह दिया जाता है कि जीव पैदा हो गया आदि क्योंकि शरीर संबंधी होने से शरीरधर्मों का जीव में उपचार हो जाता है । तदनंतर स्पष्ट किया कि शरीरेन्द्रियों के पींजरे में कर्मफल भोगने वाला जीव आत्मा है अतः इसकी उत्पत्ति हो नहीं सकती और शास्त्र में कही भी नहीं गयी है । बल्कि उसे नित्य ही बताया है । कुछ वादी वासुदेव आदि से जीव की उत्पत्ति मानते हैं, वह शास्त्र-युक्ति से विरुद्ध है । लोकायत भी भूतमेलन से जीव की उत्पत्ति कहते हैं वह भी गलत है । भूतमेलन से शरीर बन सकता है, सूक्ष्म शरीर भी बन जाये तो कोई आश्चर्य नहीं जैसे विश्वामित्र आदि ने स्थूल-सूक्ष्म शरीर महिष आदि के बनाये थे, किंतु उनमें तादात्म्याध्यास करने वाला आत्मरूप जीव उत्पन्न नहीं होता जैसे घटजन्म से उसके भीतर का आकाश नहीं 'पैदा' होता । फिर बताया है कि जीवात्मा हमेशा चेतन है, ज्ञानरूप है । उसके बाद जीव के परिमाण की चर्चा कर उसे विभु सिद्ध किया है । वहीं समझाया है कि जीव की प्रधान उपाधि बुद्धि है, उसी के धर्मों का स्वयं पर अध्यास कर हम स्वयं को संसारी अर्थात् कर्ता-भोक्ता समझ रहे हैं । जब तक आत्मसंबोध नहीं होगा तब तक बुद्धि में तादात्म्य मिटेगा नहीं और हम जीव, संसारी बने रहेंगे । वास्तविकता पूछी जाये तो 'परमार्थतस्तु न जीवो नाम बुद्ध्युपाधिसम्बन्धपरिकल्पितस्वरूपव्यतिरेकेण अस्ति' (२.३.३० भाष्य) बुद्धितादात्म्य से अध्यस्त ही जीव है अतः परमात्मा से अलग वह कोई वस्तु नहीं । संसर्गाध्यास की दृष्टि से जीव अध्यस्त पदार्थ है जैसे आकाश से पृथक् समझा जाता घटाकाश अध्यस्त पदार्थ है । बुद्धिरूप उपाधि से सम्बंध मिथ्या अज्ञान के कारण ही है यह तो प्रसिद्ध ही है । उपाधि वाला हुआ वह कर्ता बन जाता है । अविद्या से उपस्थित किये द्वैत से मिल-जुलकर स्वप्न व

जाग्रत् में आत्मा कर्ता व दुःखी बनता है तथा यह थकान मिटाने के लिये कार्यकरणसंघात छोड़कर सुषुप्ति में अपने स्वरूप से रहते हुए अकर्ता व सुखी हो जाता है । विद्याप्रकाश से अविद्यान्धकार मिट जाने पर अद्वैत रूप आत्मा ही सच्चिदानंद बना रहता है जिसे मुक्त कहते हैं । इस प्रकार ये सब अवस्थायें जीव प्राप्त कर लेता है । आगे समझाया है कि कर्तृत्व-भोक्तृत्व ईश्वर की अनुज्ञा से ही संपन्न होता है और उन्हीं के अनुग्रह से विज्ञान प्राप्त होने पर मोक्ष मिलता है । जैसे चिनगारी को आग का 'हिस्सा' कहा जाता है वैसे ही जीव ईश्वर का अंश कहलाता है; ऐसा नहीं कि ईश्वर कपड़े जैसा कोई अंशी हो और जीव धागों की तरह उसके अंश ! 'देहादि यह संघात ही मैं हूँ' यों अपने बारे में विपरीत निश्चय होना ही देहसंबंध है जिससे वह निश्चय वाला आत्मा 'अंश' बन गया है । इसे यों भी समझ सकते हैं कि जीव ईश्वर का आभास अर्थात् प्रतिबिंब है । अतएव आत्मा एक ही रहते अनन्त जीव अनुभव में आ रहे हैं जैसे सूर्य एक है और विभिन्न दर्पण, जल आदि में उसके अनेक प्रतिबिंब पड़ जाते हैं । इस प्रकार दसवें से सत्रहवें अधिकरण तक किये विचार का सार है (१) व्यवहारसिद्ध जन्म-मृत्यु शरीर के हैं, हर जन्म-मृत्यु पर आत्मा (जीव) जन्मता-मरता हो ऐसा नहीं । (२) आत्मरूप होने से जीव नित्य है, उसका जन्म-नाश हो भी नहीं सकता । (३) वह ज्ञानरूप है । (४) जीव है तो विभु पर बुद्धिप्रधान उपाधि में तादात्म्याध्यास से परिच्छिन्न बना हुआ है । (५) उपाधियुक्त हुआ वह कर्ता है । (६) जाग्रदादि अवस्थायें उपाधिनिरूपित ही हैं । उपाधिबाध होने पर जीव ही मोक्षावस्था पाता है । (७) जीव को संसरण के लिये भी ईश्वर की अनुज्ञा चाहिये और मोक्षहेतु ज्ञान के लिये भी उनकी कृपा चाहिये । (८) जीव को ईश्वर के अंश या आभास के रूप में समझा जा सकता है ।

'तू ही जीव है' में 'तू' से किसे कह रहे हैं इसमें संदेह न रह जाये—क्योंकि कभी गौणात्मा को भी 'तू-मैं' कह देते हैं जैसे देशादि के खिलाड़ी हारते-जीतते हैं तो 'तुम हारे-जीते' ऐसा सारे देशवासियों को कह देते हैं—इसलिये आचार्य ने स्पष्ट किया कि जो पूछ रहा है उसे 'तू' कह रहे हैं । ऐतरेयक में 'प्रज्ञानं ब्रह्म' महावाक्य है जिसमें 'प्रज्ञान'-शब्द से जीव को कहा है और प्रज्ञान का अर्थ बताया है कि विषयों को जिससे देखते, सुनते, सूँघते, कहते, चखते आदि हैं वह प्रज्ञान है । 'जिससे' अर्थात् जिस चेतन से; इंद्रियों द्वारा निकले अंतःकरण की वृत्ति से उपहित चेतन से ही विषयज्ञान होता है यह वेदांतदर्शन में प्रसिद्ध प्रक्रिया है । उसी तरह यहाँ पूछने वाले को जीव समझाया है । बृहदारण्यक में (३.४) प्रश्न उठा कि व्यक्ति किस प्रकाश में व्यवहार कर सकता है ? कई कोटियों के बाद उत्तर निकला कि आत्मा ही वह प्रकाश है । तब आकांक्षा हुई कि देह-इंद्रिय आदि सभी आत्मा लगते हैं, प्रकाश किसे कहा जा रहा है ? उस पर बताया कि जो यह विज्ञानमय है—बुद्ध्युपाधि वाला है—प्राणों में प्रविष्ट हो उन्हें कार्यकारी बनाता है, हृदय में प्रधानतः प्रकट होता है, स्फुरणरूप है, जगने व सोने की अवस्थाओं में आता जाता है, बुद्धि

की शांति-अशांति से शांत-अशांत प्रतीत होता है, सपना देखता है, मरकर अगले शरीर में जाता है—वही आत्मा है । इस प्रकार 'त्वं'-शब्द का वाच्य अर्थ बताते हुए उसके उस अर्थ का भी प्रदर्शन किया है जो महावाक्य में अभिप्रेत है : 'स्फुरणरूप है' तक बताया स्वरूप तो महावाक्य में ग्राह्य है, अवस्था आदि वाला रूप उसी के परिचय के लिये है । देह-इंद्रिय संघात का साक्षी ही यहाँ 'जीव'-शब्द का तात्पर्यार्थ है । संघात से एकमेक हुआ चेतन 'जीव'-शब्द का प्रायः समझा जाने वाला अर्थ है, उसी अर्थ का विश्लेषण करने पर पता चलता है कि मैं संघात से एकमेक नहीं वरन् इसका द्रष्टा हूँ । उस द्रष्टा को ही यहाँ आचार्य ने 'तू ही जीव है' कहा । 'तू ही' यों 'ही' शब्द से सारी उपाधियों का निराकरण किया : जो कुछ मैं 'भी' हो सकता है वह नहीं वरन् जो मैं 'ही' हूँ वह जीव है—यह शिष्य को समझना है । वेद ने भी मोक्ष का यही मार्ग बताया है कि जो केवल मैं हूँ उसे जानना है 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति' । अन्यत्र भी बताया कि आत्मा को ही मैं समझ ले तो इच्छा-कामना नहीं रहती, अनुताप को स्थान नहीं मिलता (बृ. ४.४.१२) ।

श्लोक में 'यस्त्वं पृच्छसि मां, त्वमेव हि जीवः, अन्यः कः !' यह गुरु ने समाधान दिया तो शिष्य ने पूछा 'अहं कः ?' जिसका जवाब है 'ब्रह्मैव असि, संशयः न ।' अर्थात् 'हमसे पूछने वाला तू ही जीव है' यह गुरु ने कहा तो शिष्य ने प्रश्न किया 'मैं कौन ?' गुरु ने बताया 'तू ब्रह्म ही है, इसमें सन्देह नहीं ।' पूर्व श्लोक में 'जीव और परमात्मा कौन हैं ?' यों पूछा था जिसके पीछे भाव था कि ये दो पृथक् व्यक्ति हैं । उत्तर में उस भाव की ही गलती व्यक्त करने के लिये स्पष्ट किया कि दो नहीं हैं, जो पूछने वाला है वही प्रत्यगात्मा ब्रह्म है । 'मैं' की पूर्ण परीक्षा हो जाये तो वह ब्रह्म ही समझ आता है । अतएव साहस्री (१८.१०१) में कहा है —

'अहंशब्दस्य निष्ठा या ज्योतिषि प्रत्यगात्मनि ।
सैवोक्ता 'सदसी' त्येवं फलं तत्र विमुक्तता ॥'

जीवविचार में सूत्रभाष्य अनेक स्थलों पर यह स्पष्ट करता है कि ब्रह्म ही जीवरूप में प्रतीयमान है : (१) 'बुद्ध्युपाधिनिमित्तं त्वस्य प्रविभागप्रतिभानम्' (२.३.सू.१७); (२) 'परमेव ब्रह्म अविकृतम् उपाधिसंपर्कात् जीवभावेन अवतिष्ठते' (१८); (३) 'बुद्ध्युपाधिधर्माध्यासनिमित्तं हि कर्तृत्वभोक्तृत्वादिलक्षणं संसारित्वम् अकर्तुः अभोक्तुश्च असंसारिणो नित्यमुक्तस्य सत आत्मनः' (२९); (४) 'न हि नित्यमुक्तस्वरूपात् सर्वज्ञाद् ईश्वराद् अन्यश्चेतनो धातुर्द्वितीयो वेदान्तार्थनिरूपणायाम् उपलभ्यते' (३०); (५) 'न हि विवेकिनां परस्माद् अन्यो जीवो नाम कर्ता भोक्ता वा विद्यते' (४०); (६) 'पर एवैकः सर्वेषां भूतानामन्तरात्मा जीवभावेन अवस्थितः' (४७) । प्रकृत में आचार्य ने कहा कि 'तू ब्रह्म है' इसमें कोई संशय नहीं

क्योंकि भाष्यादि में सभी संशय मिटा दिये गये हैं । यहाँ भी आगे अनेक संशय हटायेंगे । किं च–जिस अंश के बारे में यह संशय हो 'क्या यह मैं हूँ या नहीं ?' वह 'मैं' नहीं ही होता यह जानना चाहिये । जिस सच्चिदानंद के बारे में यह संशय हो नहीं सकता वही 'मैं' हूँ । नैष्कर्म्यसिद्धि (३.३७) में कहा है–

'यत्र स्यात् संशयो नासौ ज्ञेय आत्मेति पण्डितैः ।
न यतः संशयप्राप्तिरात्मनोऽवगतित्वतः ॥'

आत्मा का स्वभाव ही वह है जो संदेहास्पद नहीं होता ।

विश्वेश्वरपण्डित ने पूर्वश्लोकोक्त चारों प्रश्नों के उत्तर इस पद्य में निहित माने हैं । जीव का कथन तो स्पष्ट ही है जो प्रथम प्रश्न का उत्तर है । 'त्वमेव हि' यों 'हि' शब्द से उन्होंने समझा है कि तीसरे-चौथे प्रश्नों का उत्तर है : 'हि' अर्थात् क्योंकि; क्योंकि वाच्य अर्थों में तादात्म्य नहीं हो सकता इसलिये लक्षणा प्रवृत्त होती है, कारण कि लक्ष्य अर्थों में तादात्म्य संभव है । इस प्रकार 'दोनों का तादात्म्य कैसे ?' का उत्तर हुआ कि दोनों का लक्ष्यस्वरूप अभिन्न होने से तादात्म्य है । इसी से चौथे का भी समाधान हो गया कि लक्षणावृत्ति के सहारे वाक्य तादात्म्य समझाता है । द्वितीय प्रश्न परमात्मा के बारे में था । उसका उत्तर अंतिम पाद से दिया । विवक्षित जीव जो साक्षी है वही परमात्मा है–यह उत्तर है । इस तरह बीजरूप से सब उत्तर हो गये, आगे स्पष्टीकरण आयेगा ।

– ८ –

पदार्थजिज्ञासा

पदार्थमेव जानामि नाद्याऽपि भगवन् स्फुटम् ।
अहं ब्रह्मेति वाक्यार्थं प्रतिपद्ये कथं वद ॥९॥

*पदार्थज्ञानस्य वाक्यार्थज्ञानहेतुत्वात् पदार्थस्य च स्पष्टम् अज्ञातत्वाद् न वाक्यार्थप्रतिपत्तिर्मम सम्भवतीति शङ्कते–**पदार्थमेवेति** । आपाततः पदार्थप्रतिपत्तावपि यथावत् प्रतिपत्त्यभावे न वाक्यार्थधीः इत्यभिप्रेत्योक्तम्–**स्फुटमिति** ॥९॥*

शिष्यो गुरुवाक्यश्रवणानन्तरं पदार्थद्वयं सामान्येन विदित्वा स्फुटं विविदिषुराचार्यमाह–अद्यापि **भवति एवम् उक्तवति अपि स्फुटं पदार्थमेव** न जानामि **अतः** 'अहं ब्रह्म' एव इति वाक्यार्थं कथं प्रतिपद्ये ? **अतस्तदर्थं** पदार्थं स्फुटं वद **इत्यन्वयः** । **'अहं ब्रह्मैवेति वाक्यार्थं कथं प्रतिपद्येऽतस्तदर्थं पदार्थं वद' इत्यनेन पदार्थज्ञाना-दर्वाचीनकाले वाक्यार्थज्ञानस्य असम्भवात् पदार्थज्ञानमेव दृढी क्रियताम् इत्ययमर्थोऽवगम्यते ॥९॥**

आचार्य ने जिस सीधे ढंग से बताया कि जीव कौन है वह ढंग उसी को सही अर्थ समझा सकता है जो एकाग्रतापूर्वक तीक्ष्ण विवेक में कुशल हो, 'मैं ही कौन हूँ ?' यह निर्धारण कर पाये । साधारणतः इतनी बुद्धि साधक में नहीं होती अतः पूछना पड़ता है कि 'तू' से आपका मतलब किससे है ? –

हे भगवन् ! मुझे अभी तक पदार्थ की भी साफ-साफ जानकारी नहीं हो पायी है तो आप ही बताइये कि 'मैं ब्रह्म हूँ' इस वाक्यार्थ को कैसे समझूँ ? इसे समझने के लिये जो पदार्थ जानने ज़रूरी हैं वे आप स्पष्ट कर बताइये ॥९॥

पद अर्थात् शब्द के अर्थ को पदार्थ कहते हैं । अनेक पद मिलकर वाक्य होते हैं जिनका अर्थ तभी समझ आ सकता है जब उनके घटक पदों का अर्थ मालूम हो । भेद, संसर्ग और समन्वय – तीन तरह के वाक्यार्थ होते हैं । समन्वय ही अखण्डार्थ भी कहा जाता है । 'तत्त्वमसि' वाक्य का अर्थ समन्वय है अर्थात् उसमें प्रयुक्त पदों के विवक्षित अर्थों का अभेद ही वाक्यार्थ है । 'तत्त्वमसि' से जो बोध होता है वही 'अहं ब्रह्मास्मि' है । इसके लिये तत्-त्वम् पदों के अर्थ जानने होंगे । पदों के अर्थ जानने के अनेक उपाय हैं–व्याकरण, उपमान, कोश, आप्तवाक्य, व्यवहार, वाक्यशेष, व्याख्या इत्यादि । किंतु समस्या है कि शब्द से अन्य किसी तरह अर्थ पता चले तब उसको शब्दविशेष का अर्थ समझा जा सकता है, घड़ा आँख से दीखे तब बालक को वह दिखा कर समझा सकते हैं कि वह वस्तु घड़ा-पद का अर्थ है । आत्मा–जीवात्मा, परमात्मा– प्रमेय हो, प्रत्यक्षादि से गम्य हो तभी वह तत्-त्वम् पदों का अर्थ समझा जाये । किंतु आत्मा ऐसा है नहीं । किं च पदार्थ जाति, गुण, क्रिया या संबंध वाले होते हैं । आत्मा इनसे रहित है तो पदार्थ कैसे ? और वह यदि पदार्थ नहीं तो दोनों पदार्थों का तादात्म्य वाक्यार्थ भी नहीं हो सकता । इन यौक्तिक सीमाओं को छोड़ दें तब भी जीव-ईश्वर शब्दों से जो लोकसिद्ध अर्थ समझ आता है उसमें वह स्फुटता नहीं जो वाक्यार्थ-ज्ञान कराये । अपरोक्ष भेद का बाध अपरोक्ष ज्ञान ही करेगा जो तब तक संभव नहीं जब तक पदार्थ स्फुट न भासें । यह ठीक है कि आत्मा सर्वथा अज्ञात नहीं, 'मैं' रूप से उसकी जानकारी सदा है, ईश्वर भी किसी ढंग से प्रसिद्ध है, लेकिन न प्रत्यक्स्वरूप का और न ईश्वर का स्पष्ट भान है जो इनके अभेद का साक्षात्कार कराये । सर्वथा अज्ञात होता तब तो विचार का विषय भी न बनता ! अतः स्फुट ज्ञात नहीं– यही कह सकते हैं । पूरा ज्ञात होता तब भी विचार निष्फल होता ! इसलिये यही मान्य है कि गलत ढंग से ज्ञात अतः विचारणीय है, ज्ञेय है और विचार का फल है उसका सही ज्ञान ।

शास्त्र-गुरु-विचार के बिना जीव-ईश्वर के बारे में मुग़ालतों की कमी नहीं, कुछ स्वाभाविक एवं कुछ नाना विचारकों के प्रतिपादनों से ऐसी प्रतीतियाँ होती रहती हैं जो आत्मस्वरूप का ज्ञान नहीं होने देतीं । प्रत्यक् ज्ञानरूप है अतः उसका शुद्ध रूप भासना उचित है लेकिन अज्ञान से छिपा होने से और विविध भ्रमों का विषय होने से वह भास नहीं रहा । गुरु ने कह दिया 'तू ही जीव है' इससे शाब्दबोध भी हुआ 'मैं ही जीव हूँ' किन्तु जैसे किसी को पता न हो वन्ध्या क्या होती है और वह किसी के बारे में सुने कि 'पूर्णवर्मा वन्ध्यासुत है' तो उसे उससे 'ज्ञान' हो जाता है कि वह वन्ध्या का सुत है–चाहे यह भी न पता चले कि 'वन्ध्या'-शब्द बाप को कह रहा है या माँ को !–ऐसे ही हमें समझ आता है 'मैं जीव हूँ' ! 'मैं'-शब्द का एकरूप अर्थ–सभी प्रयोगों में अनुस्यूत अर्थ – ही पता नहीं तो 'मैं जीव हूँ' का क्या भाव मन में बनेगा ? अपरोक्ष प्रत्यक् का यह हाल है तो तत्पदार्थ के स्फुट ज्ञान का अभाव है इसमें कहना क्या ! शिष्य की प्रार्थना है कि उसे पदार्थ स्पष्ट समझाये जायें । प्रधान आयास सही पदार्थ जानने में है : प्रत्यक् समझना इसलिये मुश्किल है कि परिच्छिन्नता अपरोक्ष है । ईश्वर समझना इसलिये मुश्किल है कि हमेशा परोक्ष है ! ये दोनों पदार्थ समझे जायें इसके लिये उपदेश और विवेक पर अत्यधिक श्रद्धा चाहिये । परिच्छेद का अकंप अपरोक्ष त्वम्पदार्थ जीव के साक्षिस्वरूप का निश्चय न होने देने के लिये सदा प्रयासशील है । या तो समाधि की सिद्धि हो तब वह स्वरूप निश्चित हो और या अपने विवेकज ज्ञान पर अत्यधिक भरोसा हो तब शास्त्रोक्त स्वरूप पर निश्चित रहा जा सके । छान्दोग्य में बार-बार श्वेतकेतु पूछता गया, इन्द्र लौट-लौट कर पूछता गया, बृहदारण्यक में जनक पुनः पुनः 'मोक्ष के लिये ही बोलिये' कहता गया–यह सब इसी कारण से कि पदार्थबोध अतिकठिन है । भृगु ने तत्परता से तप किया तब भी अनेक कदमों के बाद ही आत्मा समझ आया । विवेक एकाएक सही पदार्थ नहीं बता पाता वरन् धीरे-धीरे प्रत्यक् की ओर दृष्टि लाता है जिसके अनुसार अपना निश्चय कदम-कदम दृढ करें तभी प्रत्यङ्मात्र तक पहुँच सकते हैं । शास्त्रदर्शित रीति से आचार्य आगे वे कदम ही स्पष्ट करेंगे जिन पर प्रगति करने से पदार्थ पता चले । पदार्थबोध के बाद वाक्यार्थबोध में खास कठिनाई नहीं । जो तो उपनिषदों के अनुसार न चलकर आत्मा को साक्षी समझने की कोशिश करते हैं वे भोक्ता पर ही रुकते हैं अतः वे ईश्वरवादी होकर भी भेदवादी ही रह सकते हैं, अद्वैती नहीं । वेदान्तों के तरीके से पदार्थ समझे जायें तो कठिन बहुत है किंतु पदार्थज्ञान होने पर वाक्यार्थ समझना सहज है । अतः शिष्य ने कहा कि वाक्यार्थज्ञानोपयोगी पदार्थ ही समझाइये ।

वाक्यार्थधीहेतुः

सत्यमाह भवानत्र विगानं नैव विद्यते ।

हेतुः पदार्थबोधो हि वाक्यार्थावगतेरिह ॥१०॥

*पदार्थज्ञानस्य वाक्यार्थज्ञानहेतुत्वम् उक्तम् अङ्गी करोति–**सत्यमाहेति** । अविगीतम् अङ्गीकृतमर्थम् अनुवदति–**हेतुरिति** ॥१०॥*

'मनुष्याणां सहस्रेषु' (गी. ७.३) इति भगवद्वचनाद् मुमुक्षोः पुरुषस्य दुर्लभत्वाद्, प्रश्नानाम् आत्मविषयत्वाच्च पुनः पुनः शिष्यप्रश्नैः गुरोः नोद्वेगः स्यात् किन्तु अनुमोदनमेव । अतः शिष्यम् आत्मावगत्यर्थिनं बोधयितुं प्रथमं तावच्छिष्यस्य प्रश्नमनुमोदते । अत्र **अस्मिन्नर्थे । अविप्रतिपत्तिमाह**–इह **तत्त्वमस्यादिवाक्ये पदार्थज्ञानस्य वाक्यार्थावगतिसाधनत्वम् अन्वयव्यतिरेकसिद्धम् । इत्याह**–हेतुः पदार्थेति । **यत एवमतो** विगानं नैव विद्यत **इति योजना ॥१०॥**

आचार्य आत्मा की दुर्बोधता से सुपरिचित हैं किन्तु शिष्य में जिज्ञासा उठाकर ही उपदेश दे रहे हैं; ऐसा नहीं कर रहे कि प्रश्न सुनते ही सांगोपांग व्याख्यान प्रारंभ कर दें ! इसमें एक कारण तो यही है कि शिष्य ने 'संक्षिप्य' कहने की प्रार्थना की थी । दूसरा भाव यह है कि न जाने कबके संस्कार जग जायें और शिष्य संबोध पा ले अतः परमार्थ-उपदेश पहले दे दिया जाये, अपर्याप्त हुआ तो और समझायेंगे । वस्तुतः शिष्य को उपदेश देने से पूर्व ही उसकी परीक्षा हो चुकती है अतः आचार्य को उसकी मनःस्थिति पता रहती है । समझाने का यह क्रम इसलिये रखा है कि जिस पहलू पर जिज्ञासा एकाग्र हो उसी का वर्णन करने पर शिष्य को समझ आती है । सामान्यतः सारा अध्यात्म ही जिज्ञासित है लेकिन किसी समय कोई हिस्सा ही खास समझने-लायक लगता है । तब उसे बतायें तो वह ग्रहण होगा । अन्य समय वही बात बताने पर भी पूर्ण तत्परता से ग्रहण नहीं होगी । इसी से आचार्य जितना प्रश्न हो उतना उत्तर देते हैं । छांदोग्य की प्रजापति विद्या में यह मर्यादा स्पष्ट है । जनक-याज्ञवल्क्य संवाद में भी यह व्यक्त होती है । किं च शिष्य विचार करे, केवल सुनता न जाये इसलिये भी उसे थोड़ा-थोड़ा बताया जाता है ताकि कुछ संशयस्थान रह जाये जिसके द्वारा उसकी जिज्ञासा जगे । यदि नहीं जगती तो स्वयं आचार्य जगाते हैं, जैसे सनत्कुमार ने नारद को समझाते हुए किया जब नारद प्राणात्मता में स्थिर होने जा रहे थे । यह इसीलिये ज़रूरी है कि प्रत्यक्तत्त्व की वास्तविकता महसूस करनी है, केवल कुछ शब्द नहीं याद करने या कुछ विचार नहीं एकत्र करने । इस प्रक्रिया में अधिक जबर्दस्ती भी संभव नहीं ! अपनी स्थिति के प्रति वैराग्य आये बिना उस उपाधि से विवेक कोई करता

नहीं । धनरसिक को धननिंदा सुन-सुना लेने पर भी धनत्याग की प्रवृत्ति अभिमत नहीं होती । अन्य की दृष्टि से हेय होने पर भी स्वदृष्ट्या हेय न होने तक विवेक की ओर बुद्धि नहीं लगती । इसलिये सहज, उपयोगी, आवश्यक और शास्त्रदर्शित होने से यही प्रक्रिया उपदेश के लिये अनुकूल है । अतः शिष्य की आकांक्षानुसार कहते हैं –

तुम ठीक कह रहे हो । इस विषय में कोई मतभेद नहीं कि वाक्य सुनने पर वाक्य का अर्थ समझ आये इसमें कारण है उस वाक्य में आये पदों के अभिप्रेत अर्थों का ज्ञान ॥१०॥

शिष्य की समस्या को उचित ठहराकर उसका मनोबल बढ़ाया गया है । लोक व वादी सभी में प्रसिद्ध है कि शब्द-अर्थ से अनभिज्ञ को वाक्य सही ज्ञान नहीं देता । एक-आध पद का अर्थ अज्ञात हो तो भी वाक्य से पहले उस पद का अर्थ पता चलता है फिर वाक्यार्थ का, यही अनुभवसिद्ध है । सुरेश्वराचार्य तो कहते हैं कि बहरे को गीत सुनाने की तरह उसे महावाक्य सुनाना बेकार है जो युष्मद्-अस्मत् का विभाग नहीं समझता, अनात्मा से स्वतंत्र हुए आत्मा को नहीं पहचानता । सुन सके, केवल स्वरशास्त्र से अनभिज्ञ हो वह भी मधुर-कर्कश ध्वनियों का भेद समझता है, हर संगीतश्रोता स्वरमर्म जाने यह जरूरी नहीं, गायन मधुर होगा तो अनाड़ी को भी आकृष्ट करेगा ही । इसी तरह जो आपाततः भी केवल आत्मा के बारे में कोई संकल्पना बना पाता है वह तो महावाक्य से कुछ-न-कुछ विचलित होता है, सोचने को मजबूर होता है । बहरे के लिये तो गीत किसी प्रयोजन का नहीं । इसी तरह जिसे उपाधिरहित आत्मा की संकल्पना भी नहीं उसे महावाक्य से कुछ समझ नहीं आता, उसे यह विचार में प्रवृत्त नहीं करता । बल्कि ऐसे घोर अविवेकी तो वाक्यों का ही अन्यथाकरण करते हैं, तत्त्वमसि को अतत्त्वमसि बनाने की कोशिश करते हैं । शिष्य वाक्य समझने के प्रयास में है जो बताता है कि वह बहरा तो नहीं है !

आचार्य ने स्पष्ट किया कि वाक्यार्थ समझने में पदार्थबोध हेतु है । तार्किक उसे व्यापार कहते हैं । प्रकृत में तो अभिप्राय है कि पदार्थज्ञान पर्याप्त कारण है वाक्यार्थज्ञान के लिये । पदार्थों का विवक्षित अर्थ तभी समझा जा सकता है जब पदों का वाक्य में श्रवण हो अतः पदार्थज्ञान से पूर्व ही महावाक्य तो सुना जा ही चुका । इसलिये अब वाक्यार्थ के भान के लिये पदार्थ समझना ही जरूरी है, और कोई सहायता नहीं चाहिये । सारे साधन पदार्थबोध में गतार्थ हो जायेंगे । पदार्थज्ञान से अन्य कुछ अपेक्षित नहीं यह 'हि' से कहा । 'इह' अर्थात् मनुष्यलोक में; लोकांतर में यदि वाक्यार्थज्ञान अभिलषित हो तो उपासनादि की अवश्य जरूरत पड़ेगी, यहीं तत्त्वज्ञान के लिये केवल पदार्थबोध चाहियें । उसके दार्ढ्य के लिये भले की वैराग्य और उपरति की जरूरत हो, बोध के लिये उतना ही चाहिये ॥

त्वम्पदार्थः

अन्तःकरणतद्वृत्तिसाक्षी चैतन्यविग्रहः ।

आनन्दरूपः सत्यः सन् किं नात्मानं प्रपद्यसे ॥११॥

*तर्हि पदार्थव्याख्यानं कृत्वा वाक्यार्थो व्याख्यायताम्–इत्याशङ्क्य; आह–***अन्तःकरणेति** *। साक्षादीक्षणं प्रति कर्तृत्वं साक्षित्वम् इति शङ्कां व्युदस्यति–***चैतन्येति** *। तस्यैव पुरुषार्थरूपत्वेन जिज्ञासितत्वमाह–***आनन्देति** *। अनृतविरोधित्वं दर्शयति–***सत्य इति** *। यथोक्तस्य त्वमर्थस्य अप्रतिपत्तौ नास्ति कारणमित्याह–***सन्निति** *॥११॥*

तस्मात् तत्-त्वंपदार्थौ निरूपयितुं 'प्रसिद्धानुवादेन अप्रसिद्धं निरूपणीयम्' इति न्यायेन प्रसिद्धं त्वमर्थं तावद् निरूपयति–अन्तःकरणेति । अन्तःकरणं **बुद्धिः, तद्वृत्तिः मनः, 'अगमन्मे मनोऽन्यत्र'** (श्लो. २१) **तत्र मनसो धीवृत्तित्वप्रतिपादनात् । आचार्येण तद्वृत्तिग्रहणेन अन्तःकरणस्यैव स्ववृत्तिसाक्षित्वं परिहृतम् ।**

निरालम्बनज्ञानमेव । तस्याऽविद्याकल्पितसाक्ष्यवलम्बनेनैव साक्षित्वम् । तथा सति, आदावेव निर्विकल्पकज्ञानरूपेण आत्मनि प्रतिपाद्यमाने न कस्यापि प्रतिपत्तिः स्याद् ! अतः स्थूलारुन्धतीदर्शनद्वारा मुख्यारुन्धतीदर्शनवद् अन्तःकरणसाक्षित्वेन आत्मानं प्रतिपाद्य, तत्प्रतिपत्त्यनन्तरं साक्षित्वेनैव सिद्धम् आत्मानं निरालम्बनतया दर्शयति–चैतन्यविग्रह इति । **अथ वा–देहेन्द्रियादिसाक्षीति वक्तव्ये किम् अन्तःकरणतद्वृत्तिसाक्षीति ? –उक्तशङ्कायाम्; बुद्ध्या सहैव देहेन्द्रियसाक्षी प्रत्यगात्मा; बुद्धितद्वृत्तिसाक्षी तु स्वयमेव ! इत्यभिप्रेत्य शुद्धात्मानं दर्शयति–**चैतन्यविग्रह इति । **चैतन्यं ज्ञानं विग्रहः स्वरूपं यस्य स यथोक्तः स्वयम्प्रकाश इत्यर्थः ।**

इदानीं ज्ञानरूपत्वेन आत्मनो भोगसाधनावयवाऽभावात् सुखाभावशङ्कायामाह–आनन्दरूप इति । **'को ह्येवान्यात् कः प्राण्याद् यद् एष आकाश आनन्दो न स्याद् ! एष ह्येवानन्दयाति'** (तै. २.७.२), **'सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमसावृतः । स्वस्वरूपं महानन्दं भुङ्क्ते विश्वविवर्जितः ॥'** (वराहोप. २.६२) इति, **'आनन्दो ब्रह्म'** (तै. ३.६) **इत्यादिश्रुतिभ्यश्च । सुषुप्तः पुरुषः प्रबोधकं द्वेष्टि, प्रबुद्धश्च 'सुखमहमस्वाप्सम्' इति कथयति । अतो युक्त्यनुभवाभ्यां च आत्मन आनन्दरूपत्वं सिद्धमित्यर्थः ।**

तर्हि लोके ज्ञानानन्दयोः क्षणिकत्वदर्शनाद् आत्मनो ज्ञानानन्दरूपत्वे क्षणिकत्वेन अनित्यशङ्कायाम् आह–सत्य इति । **अन्तःकरणवृत्तिप्रतिबिम्बितज्ञानानन्दयोरेव क्षणिकत्वं, न स्वरूपानन्दज्ञानस्य, तस्य अवस्थात्रयेऽपि सत्यत्वदर्शनात् । निरवयवत्वेन, रूपरसादिरहितत्वात्, क्रियाश्रयत्वाभावात्, षड्भावविकाररहितत्वाच्च तस्य सत्यत्वं सिद्धमित्यर्थः ॥११॥**

शिष्य की आकांक्षा उचित और सफल ठहरा कर आचार्य स्पष्ट करते हैं कि 'तू ही जीव है' में 'तू' से किसे कहा था–

अंतःकरण और उसके व्यापारों के साक्षी, चेतन-स्वरूप, आनंदात्मक, सत्य होते हुए तुम स्वयं को क्यों नहीं समझ रहे ! ॥११॥

गुरु कुछ आश्चर्य व्यक्त कर रहे हैं, कुछ उलाहना दे रहे हैं और यह भी कह रहे हैं कि आत्मा स्वयं को समझ तो रहा ही है। आत्मा की अज्ञानकालिक आत्मसमझ की यही विलक्षणता है कि वह होती हुई भी नहीं होने जैसी है। जैसे भीड़ में अपने पुत्र की भी आवाज़ सुनाई देती हुई भी न सुनी जैसी होती है, ऐसे अभी हम स्वयं को जानते हुए भी नहीं जान रहे। अतः आचार्य उन खासियतों को निर्दिष्ट करते हैं जिनकी ओर सावधान होना आत्मा समझने का उपाय है – मन नहीं लग रहा, मन बेचैन है, मन रम गया आदि अनुभवों का विषय ही अंतःकरण है। न लगना, बेचैनी, रमना आदि उसके व्यापार हैं। हम मन को जानते हैं, उसके व्यापारों को भी जानते हैं। किंतु मन और व्यापारों को दो तरह से जानते हैं : एक तरह में तो हम मन से एकमेक हुए रहते हैं, उसे अपने से पृथक् नहीं समझते, उसके व्यापारों को अपना ही व्यापार समझते हैं। दूसरी तरह में मन और उसके व्यापार हमें अपने से अलग होकर प्रतीत होते हैं। जब हम मन के परिवर्तन को महसूस कर रहे होते हैं तब यह स्पष्ट है; लेकिन यह केवल परिवर्तनमात्र की जानकारी की बात है। जब तो पूर्व-अपर स्थितियों का अनुसंधान हो तब वह पुनः अंतःकरण का ही ज्ञान है। पारिभाषिक दृष्टि से स्मृति अविद्यावृत्ति होती है तो साक्षी स्मरण करता कहा जा सकता है लेकिन क्योंकि संस्कार चित्त में होते हैं अतः स्मरण अंतःकरणवृत्ति ही है, चाहे चित्तावस्थ अविद्या की हो। अभिप्राय है कि जिस अनुभव में मन केवल विषय बन रहा हो, अनुभव की प्रक्रिया में (विषय होने से अन्य) कोई योगदान न दे रहा हो, वह अनुभव साक्षी का है। मन की सहायता वाला अनुभव प्रमाता का होता है। इस दृष्टि से सुख-दुःखादि व भ्रम भी प्रमाता के अनुभव हैं क्योंकि उन अनुभवों के लिये मन सचेष्ट है, उसका (विषय होने से अतिरिक्त) योगदान है। जिन अनुभवों से हम स्वयं में बदलाव महसूस करें वे प्रमातृकोटि के ही हैं। साक्षी अपने अनुभवों से विकारी नहीं होता। मैं सुखी, मैं दुःखी, मैं भ्रांत, मैं निर्भ्रान्त – यों स्वयं परिवर्तनों वाला प्रमाता ही है। एकाग्रता से या विचार से भी जब इनमें अनुगत को समझते हैं तब भी वह प्रमाता ही है, चिदाभास ही अनुगत हो सकता है। सुषुप्ति से उठते ही या वृत्तियों की संधि पर – एक वृत्ति समाप्त हो चुके, अगली उठी न हो – जो मन को विषय करता अनुभव है वह साक्षी को होता है यदि तब यों न लगे कि मैं जग गया आदि। यद्यपि स्वप्रकाश अनुभूतिरूप साक्षी हमेशा भासमान है तथापि हमारा मन से तादात्म्य अतिदृढ होने से जब चिदाभास भी मौजूद होता है तब वह साक्षी के भान को अभिभूत कर देता है और गैर-सुषुप्ति काल में चिदाभास रहता जरूर है अतः साक्षी का भान दुर्लभ है ! प्रारंभ में मन को शांत कर उस दशा के आत्मानुभव में स्थिर होना चाहिये क्योंकि वह आत्मा के स्वरूप के काफी समान होता है। जब वह अनुभव दृढ हो जाये तब मन की अपेक्षा छोड़कर

अर्थात् मन शांत है या नहीं इसे नज़रंदाज़ रखकर उसी अनुभव में रहना चाहिये । धीरे-धीरे समझ आयेगा कि ज्ञानरूप प्रत्यक् मन व उसके व्यापारों से अपरिवर्तित रहता है अतः साक्षी है। निर्वृत्तिक मन साधारण व्यक्ति के लिये सुलभ नहीं अतः श्लोक में मन-वृत्ति दोनों के साक्षी का कथन है । मन को बुद्धि से विषय किया जाता है यह प्रक्रिया है : हैं दोनों अंतःकरणवृत्तियाँ लेकिन परस्पर ग्राह्य-ग्राहकता आनुभविक है; मन भी बुद्धि को, निश्चय को, जानता ही है । ऐसे ही मनोविकार अर्थात् विविध मनोवृत्तियाँ एवं बुद्धिविकार अर्थात् विविध बुद्धिवृत्तियाँ परस्पर गोचर होते हैं । इससे साक्षी समझना और कठिन है क्योंकि बुद्धि या मन को विषय करता ज्ञान मन या बुद्धि का है अथवा साक्षी का, यह कैसे जानें ? अतः यह याद रखना चाहिये कि जिस अनुभव में अपनी विक्रिया – स्वयं में बदलाव–न भासे वह साक्षी का है । आगे वह अनुभव किसी 'को' नहीं होता, 'मुझे' नहीं होता ! वह अनुभव ही मैं हूँ । साक्षी को जो जन्यानुभव हैं वे अविद्या की वृत्तियाँ हैं, वे साक्षी नहीं । साक्षी उनसे निरपेक्ष अनुभूतिमात्र है । है वह प्रत्यक् किन्तु पराक्‌की अपेक्षा से नहीं वरन् स्वरूपतः ही । परागपेक्षया तो प्रमाता ही परमप्रत्यक् है; साक्षी निरपेक्ष प्रत्यक् है । विश्वेश्वर पंडित ने स्पष्ट किया है कि साक्षी अर्थात् अन्तःकरण को जानने वाला रूप वस्तुतः आत्मा नहीं वरन् आत्मा को समझने का रास्ता है, पहले स्थूल-सूक्ष्म शरीरों से घटित जो हम अपने को समझते हैं वह समझना हटे और उसे जानने वाला स्वयं को समझें, उसके बाद यह भी समझ आ सकता है कि हम जानने 'वाले' नहीं, सिर्फ जानकारी हैं । 'जानकारी' अर्थात् 'होने' वाला नहीं वरन् स्वरूपभूत सदा सिद्ध ज्ञान । उन्होंने यह भी कहा है कि देहसमेत बुद्धि का साक्षी तो प्रमाता है, देह से तादात्म्य छोड़ी हुई बुद्धि का साक्षी स्वयं आत्मा है । तात्पर्य है कि जब तक देहाध्यास दृढ है तब तक चिदाभास ही प्रतीत होता है, साक्षी का भान सर्वथा अभिभूत रहता है । 'देह मैं हूँ' यह भाव क्षीण हो तभी साक्षी का प्रकाश स्पष्ट हो सकता है । किं च शरीर-इंद्रियों के भावाभाव की जानकारी तो बुद्धियुक्त प्रत्यगात्मा, चिदाभास, को ही हो जाती है, उसके लिये साक्षी की ज़रूरत नहीं । बुद्धि का भावाभाव जिससे सिद्ध होता है वह साक्षी है । पुनः स्मर्तव्य है कि यह भावाभाव चिदाभास से भी पता चलता है–बदलती बुद्धि में अनुगत मैं स्वयं की प्रत्यभिज्ञा करता है तो विशेषणीभूत बुद्धिपरिवर्तनों को भी जानता ही है – किंतु उस पता चलने में अपने बदलाव का अनुभव है जबकि साक्षी को जो ज्ञान है उसमें किसी बदलाव का अनुभव नहीं । साक्षी को इसी से चेतन-स्वरूप अर्थात् स्वयमेव स्फुरमाण बताया ।

त्वम्पदार्थ प्रत्यगात्मा न केवल ज्ञान है वरन् आनंद भी है । पंचदशी के प्रारंभ में स्पष्ट किया कि उदयास्तवर्जित स्वप्रभ अखण्ड संवित् ही परमानंद है क्योंकि परप्रेम का विषय है । आगे (श्लो. २४-२५) मूलकार इस पर प्रकाश डालेंगे । हम जिसे आत्मा समझते हैं वह प्रिय होता है किंतु

मोहदशा में हम अनात्मा को ही आत्मा समझते हैं अतः हमारा प्रिय बदलता रहता है । इसीलिये 'प्रिय आत्मा है' यह सर्वथा बहिर्मुखी को या समझ नहीं आता या ग़लत समझ आता है ! चिद्विग्रह प्रत्यङ्मात्र की निरपेक्षप्रियता के अभिप्राय से आत्मा परमप्रिय कहा जाता है । आत्मपुराण के 'विज्ञानम् आनंदं ब्रह्म' के व्याख्यान का गंभीरता से अनुशीलन करना चाहिये । आत्मा को जब आनंदरूप कहते हैं तब याद रखना चाहिये कि हमारे अनुभव का जो सुख है उससे मिलते-जुलते स्वरूप को ही आनंद कहा जा रहा है, सुख ही आनंद नहीं है । यह बात ज्ञान आदि सभी में समान है । सर्वज्ञात्ममहामुनि ने इस तथ्य को धैर्यपूर्वक व्यक्त किया है । जैसे साक्षी सदा भासमान होने पर भी चिदाभास से अभिभूत है ऐसे ही आत्मानंद सर्वदा विज्ञानरूप होने पर भी सुख से अभिभूत है : सुख अर्थात् चिदाभासगत आनंदप्रतिबिंब । जैसे गहने का आकार स्वर्ण को अभिभूत कर लेता है, हम गहने पर मुग्ध हो जाते हैं, स्वर्ण के प्रति बेखबर हो जाते हैं, ऐसे ही आनंदप्रतिबिम्ब से मुग्ध हुए हम बिम्बीभूत आनंद को महसूस ही नहीं कर पाते । आनंदप्रतिबिंब ही सुख है। सुख में परिच्छिन्नता व सापेक्षता होती है । हम इन विशेषताओं से वर्जित सुख की कल्पना भी कर नहीं पाते ! जबकि वही नित्य आनंद है । जैसे घटादि उपाधियों से सीमित आकाश से ही व्यवहार करते-करते हम निःसीम आकाश को भूल जायें ऐसी स्थिति आनंद के संदर्भ में है, हम सुख से अन्य आनंद है यही जानते नहीं । सुषुप्ति के आधार पर शास्त्र समझाता है लेकिन उस पर विशेष चिंतनादि न कर हम विषयादिसापेक्ष ही सुख को अभीष्ट समझते हैं; बाह्य विषय छोड़ दें तो भी कुछेक मनोदशाओं के सापेक्ष जो सुख है उसे ही चाहते हैं, निरपेक्ष स्वरूप सुख को पहचानते नहीं । वही त्वम्पदार्थ आनंदरूप है । लौकिक आनंद को वह सस्वरूप बनाता है, उसी को परिच्छिन्न कर लौकिक आनंद बनता है, इससे भी उसे आनंदरूप कहा है । यह उसके स्वरूप को समझने का उपाय हो जाता है । पंचदशी के आनंदप्रकरणों में इस पर विचार द्रष्टव्य है ।

'तू जीव है' में जिसे 'तू' कहा वह सत्य है । जिसका बाध – 'वह नहीं है' यह प्रमित करना— संभव नहीं, जो हमेशा एकरूप रहे उसे सत्य कहते हैं । यहाँ भी लौकिक सत्य की तरह ही आत्मसत्यता है, लौकिक उसी की छाया है यह तो याद रखना ही चाहिये । आत्मा के बाध का साक्षी संभव नहीं अतः आत्मा अबाध्य है । आत्मा प्रत्यक्-ज्ञान-आनंद स्वरूप ही रहता है, बदलता नहीं इसलिये भी सत्य है । लोकसिद्ध ज्ञान व सुख जन्य अतः असत्य होते हैं, आत्मा सनातन है अतः सत्य है । सद्रूप से ही स्फुरने वाला है, कभी असद्रूपसे नहीं, इसलिये भी आत्मा सत्य है । अनात्मवादी बौद्ध भी मानते हैं कि अभी तो आत्मा सत् भास रहा है, उनके अनुसार साधना

करें तो असत् समझ आयेगा; अतः अभी तक तो वे भी उसे सद्बुद्धि का अव्यभिचारी अर्थात् सत्य ही स्वीकार रहे हैं ! सांसारिक पदार्थ – बुद्धि से घटपर्यन्त – किसी न किसी अभाव के प्रतियोगी कभी न कभी ज़रूर भासते हैं अतः परमार्थभूमि पर असत्य हैं । आत्मा ऐसा नहीं । वह अनात्मभिन्न भासता हो ऐसी बात नहीं क्योंकि वह निरपेक्ष ही भासता है । यद्यपि प्रारंभ में साक्षी को आत्मा समझकर विचार चलता है क्योंकि यही तरीका है निर्विशेष से परिचित होने का तथापि साक्ष्य-सापेक्ष होने से साक्षी भी है प्रपंचकोटि का । साक्षी तो स्वरूपतः सत्य है, उसकी साक्षिता मिथ्या है, उसका निर्वाह अज्ञान से है 'साक्षित्वकारणम् अशेषजगन्निदानम् अज्ञानम् आत्मचिदवज्वलितं सदैव' (सं. शा. ३.६७) । अतः प्रत्यक् अभावसंबद्ध न होने से सत्य है । श्रीमान् आनंदगिरि स्वामी ने यहाँ सत्य से अनृतविरोध का ग्रहण किया है । उनका अभिप्राय है कि दृश्यरूप अनृत का बाध होने पर अनृत अधिष्ठानमात्र बचता है, वह अधिष्ठान सत्य आत्मा है । उसे त्वम्पदार्थ बताया इसलिये कि मुख्य पक्ष में दृष्टिसृष्टि स्वीकार्य है अतः सभी का बाध त्वम्पदलक्ष्य में हो जाता है। इस भूमिका पर तो प्रत्यक् से अतिरिक्त समझा जाता तत्पदार्थ भी प्रत्यक् में बाधित ही होगा ! त्वमर्थ का तदर्थ में बाध संभव नहीं क्योंकि तदर्थ अपरोक्ष नहीं । ब्रह्मजिज्ञासा का पर्यवसान आत्मज्ञान में होता है यही रहस्य है । किं च यहाँ आगे विवेकप्रक्रिया स्पष्ट करनी है । दृश्य मिथ्या है, साक्षी सत्य है यही आधार लेकर चलना पड़ता है । अतः इस श्लोक में त्वमर्थ की परिभाषा में कहा सत्यत्व मिथ्याविरोधी स्वरूप ही होना उचित है यह पूज्य टीकाकार का निर्देश है ।

'सत्य होते हुए' कहकर गुरु स्पष्ट कर रहे हैं कि यहाँ जो त्वमर्थ बताया वह साध्यकोटि का नहीं, सिद्ध है । कार्यमात्र का निर्वाह आत्मा स्वरूपसत् ही कर लेता है (भले ही अज्ञान की सहायता चाहे), जगत् के बाध का निर्वाह ज्ञायमान हुआ करता है (क्योंकि बाध के लिये अधिष्ठान नहीं वरन् उसका ज्ञान जरूरी है : कमरे में पड़े बुत को देखकर भ्रम हुआ 'कमरे में आदमी है' और भ्रम लिये ही हम वहाँ से चले गये । अधिष्ठानभूत वह बुत नष्ट हो गया, फिर भी हमारा भ्रम बना रहता है । जब हमें किसी शब्दादि प्रमाण से पता चलता है कि जिसे हमने आदमी समझा था वह बुत था तब बाध होता है । अतः बाधकाल में अविद्यमान अधिष्ठान तो बाधनिर्वाहक नहीं, उसका ज्ञान ही निर्वाह कर रहा है । यद्यपि यों आत्मा नष्ट नहीं होता है तथापि उसका होना बाध का निर्वाहक नहीं वरन् उसे जानना निर्वाहक है, यह भाव है ।) और मोक्ष का निर्वाह ज्ञायमान एवं स्वरूपसत् दोनों होकर करता है । आत्मा है और निरविद्य है इससे मोक्ष का निर्वाह होता है क्योंकि मोक्ष भासमान और विद्यमान होता है । प्रकृत में 'होते हुए' से बताया हमारी वर्तमान स्थिति की भी पृष्ठभूमि सच्चिदानंद आत्मा ही है किंतु अज्ञात होने से हमारा संसरण है, क्योंकि उपनिषत् ने कहा है 'एनमविदितो न भुनक्ति' (बृ. १.४.१५) । अतः

'होना' पर्याप्त नहीं । बहुधा यह तुष्टि हो जाती है कि 'शुद्ध आत्मा तो हम हैं ही, मोक्षार्थ प्रयास करें-न करें क्या फर्क पड़ना है !' बात ठीक है लेकिन मोक्षरूप फर्क के लिये आत्मा शुद्ध है यह जानना भी पड़ेगा । बिना जाने सिर्फ शुद्ध बने रहने से कर्तृभोक्तृता आदि क्लेश समाप्त नहीं होंगे ।

इस प्रकार त्वम्पदार्थ का लक्षण हुआ – साक्षी, चेतन, आनंद, सत्य होते हुए जो आत्मा है । (आत्मा = प्रत्यक्) । साक्षी तो मन के प्रति बुद्धि भी होती है अतः चेतन कहा । चिदाभास की व्यावृत्ति के लिये आनंद कहा । सात्त्विक वृत्ति से विशिष्ट आनंद को हटाने के लिये सत्य कहा । आत्मा से लक्ष्य का निर्देश है ।

–११–

विवेकः

सत्यानन्दस्वरूपं धीसाक्षिणं बोधविग्रहम् ।

चिन्तयात्मतया नित्यं त्यक्त्वा देहादिगां धियम् ॥१२॥

ननु देहादिषु आत्मबुद्ध्या शुद्धात्मबुद्धिप्रतिबन्धाद् यथोक्तात्मप्रतिपत्तिरशक्या ? इत्याशङ्क्य; पूर्वश्लोकोक्तम् आत्मस्वरूपमनूद्य उत्तरमाह–सत्यानन्देति ॥१२॥

उक्तस्वरूपे निःसंशयज्ञानोपायमुपदिशति–सत्येति । **विज्ञानरूपस्यैवाऽऽत्मनः सत्यत्वम् आनन्दत्वं साक्षित्वं च इत्येतत्प्रदर्शनार्थं पूर्वोक्तश्लोकोक्तानि एव पदानि अनयाऽपि रीत्या पुनरुच्यन्ते विशेषणविशेष्यरूपेणैव । 'यः साक्षिलक्षणो बोधः त्वंपदार्थः स उच्यते । साक्षित्वमपि बोद्धव्यम् अविकारितयाऽऽत्मनः ॥' (श्लो. २६) इति ज्ञानस्यैव त्वंपदार्थत्वं वक्ष्यते ।**

एवंभूतम् आत्मानम् आत्मतया चिन्तय **अहमिति चिन्तय इत्यर्थः** । नित्यं **चिरम्** । **'नित्यं चिदनुसन्धिनः शोको न बाधते' इति वशिष्ठवचनात् चिन्तनीयमिति भावः** । त्यक्त्वा देहादिगां धियम् । **देहादावात्मबुद्धिं त्यक्त्वेत्यर्थः** । धीसाक्षिणम् **इत्यत्र धीशब्देन 'कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिर्विधृतिः ह्रीर्धीर्भीरित्येतत् सर्वं मन एव' (बृ. १.५.३) इति श्रुतेः कामादि सर्वमपि गृह्यते ॥१२॥**

लक्षणवर्णन का प्रयोजन होता है व्यवहार अतः आचार्य आत्मस्वरूप निर्धारित कर मुखतः विधान करते हैं कि मोक्षार्थी पूर्वकथित परिभाषा समझकर यत्नपूर्वक क्या करे–

हे शिष्य ! देहादि को आत्मा समझना छोड़कर तू 'सत्य, आनंद, प्रत्यक्, बुद्धिसाक्षी, ज्ञानरूप आत्मा ही मैं हूँ' यह चिन्तन हमेशा करता रह ॥१२॥

जैसे स्वरसाधना दीर्घकाल तक आयास से करनी पड़ती है भले ही स्वर ऐंद्रिय वस्तु है ऐसे आत्मपरिचय अभ्यासापेक्ष है, चाहे आत्मा अपरोक्ष स्वरूप है । अखण्ड साक्षात्कार हो चुकने पर

भी कुछ वेदान्ताचार्य मोक्ष के लिये अभ्यास की जरूरत मानते हैं तो त्वमर्थ के स्फुट भान के लिये उसके उपयोग का क्या कहना ! यह अभ्यास युक्ति-अनुसंधानरूप हो, शब्दानुवृत्तिरूप या ध्यानरूप यह साधक की रुचि पर निर्भर है । प्रमाण से जानकर, तर्क से उसके बारे में अपनी शंकायें मिटाकर फिर चाहे जैसे कोशिश करनी चाहिये कि 'मैं'–यह भाव आते ही देवदत्त, जगा हुआ, मोटा, खा रहा आदि का भान न हो वरन् सच्चिदानंद का भान हो । जैसे दीर्घकाल तक एक स्थान पर रहा व्यक्ति 'यहाँ' इस सर्वनाम से उसी नगर को समझने लगता है, कदाचित् नगरांतर जाता है तो प्रारंभ में गड़बड़ाता है क्योंकि 'यहाँ' से कभी पूर्व नगर को तो कभी नये नगर को कहता है, लेकिन धीरे-धीरे 'यहाँ' से उसी स्थान को कहने-समझने लगता है जहाँ उपस्थित है, वैसे ही हम स्वयं को कर्ता-भोक्ता देवदत्त आदि ही समझते हैं, 'मैं' से ये भाव ही उपस्थित होते हैं, यदि नयी परिभाषा के अनुसार भाव बनाते रहें तब शनैः शनैः ये भाव छूटकर वे सत्यज्ञानादि हमें स्वरूप लगने लगेंगे । यह 'लगना' इसलिये जरूरी है कि तभी महावाक्य से हमें अभेद भासेगा । समझनामात्र काफी नहीं है, पूर्व के अभिमानों का अस्पर्श होने पर ही मैं का ईश्वर से अद्वैत जँचेगा । है यह भी मनोवृत्तिरूप अभिमान ही लेकिन यथावस्तु है : कर्ण का राधेय की तरह कौंतेय भी अभिमान है पर एक झूठा है, दूसरा सत्य है । क्योंकि इसमें भी पूर्णता, अद्वैत, का उल्लेख नहीं इसलिये यह निरभिमान बोध नहीं । वह तो अखंड ज्ञान ही हो सकता है । किंतु स्वयं को सत्यादि पूर्वोक्त समझना यथा-अर्थ बोध है, जैसे देवदत्तादि समझना मिथ्या है वैसा यह नहीं । इसी से इसे प्रमाण-युक्तिपूर्वक प्राप्त करना आवश्यक है ।

इस वस्तु-अनुसारी चिंतन के लिये अवस्तु-अनुसारी मानसिकता बदलनी पड़ेगी, देहादि मैं नहीं हैं यह अपने चित्त में बैठा लेना होगा । एक सामान्य नियम आचार्यों ने समझाया है कि द्वैत मिथ्या है यह निश्चय होने के बाद अद्वैत-साक्षात्कार होता है । यद्यपि द्वैतमिथ्यात्व का बाध तो अद्वैतप्रत्यक्ष के बाद ही होगा क्योंकि अधिष्ठान के ज्ञान से ही बाध होता है तथापि द्वैत मिथ्या है इसका शास्त्र-युक्ति से निश्चय – परोक्ष ज्ञान – पहले चाहिये अन्यथा अद्वैत को असंभव मानकर हम विपरीतदर्शन ही करते रहेंगे, प्रमाण-प्रमेय मौजूद होकर भी हमें सही ज्ञान नहीं देंगे जैसे काम-क्रोधादि के तीव्र वेग के समय हमें कामादि के विषय का यथाकामादि ज्ञान होता है : हमें जिससे तीव्र प्रेम है उसके मौजूद दोष भी हमारी दृष्टि में ही आते नहीं । ऐसा नहीं कि हम झूठ बोलते हों ! हमें वे दीखते ही नहीं । या क्रोधकाल में हमें सुनाई ही गलत देता है । ऐसे ही द्वैताक्रांत बुद्धि अद्वैत ग्रहण ही नहीं करेगी । इस रहस्य को प्रकट करते हुए ही यहाँ शरीरादिविषयक अभिमान छोड़कर आत्मचिन्तन का विधान किया है ।

शरीर मैं नहीं इस विचार को बहुत तरह से कई स्थलों पर समझाया है । साहस्री में कहा है कि अपना हाथ कटकर अलग हो जाये तो उसमें मैं-बुद्धि न रहने से निर्णय करना चाहिये कि जब अपना विशेषण लग भी रहा है तब भी शरीर मैं नहीं हूँ । जैसे गहने हमारा स्वरूप

नहीं ऐसे शरीर भी हमसे सम्बद्ध लगते हुए भी हमारा स्वरूप नहीं है । ज्ञेयमात्र अनात्मा है; 'मैं' के साथ भी जो ज्ञेय हिस्सा एकमेक होकर प्रतीत होता है उसे कटे हाथ की तरह अपने से अलग ही समझने की कोशिश करनी चाहिये । महाभूतात्मक होने से, स्थूल होने से, सांश होने से, नियम्य होने से, अ-ज्ञानमय होने से, अनित्य होने से, विकारी होने से, साकार होने से, क्रियावान् होने से – इत्यादि हेतुओं से देह आत्मा नहीं यह चिंतन अपरोक्षानुभूति में कहा है । पञ्चीकरण प्रकरण की प्रक्रिया है शरीरों को अकारादि अक्षरों से एक समझकर उन अक्षरों को क्रमशः ओंकार से एक समझकर उसे अपने में विलीन करना । इसमें भी विलीन किये जाने वाले शरीरादि से मैं-बुद्धि हटती जाती है, जिसमें विलय हुआ वही आत्मा है । देहादिविषयक अभिमान छोड़ने के उपयोग से दशश्लोकी-प्रकरण में कुछ गंभीर हेतु दिये हैं : (१) शरीरादि हमेशा अपने से एकमेक नहीं अतः हमारा स्वरूप नहीं । सुषुप्ति का भी साक्षी ज्ञान ही सदा भासमान है, वही आत्मा है । (२) क्योंकि शरीरादि उन अध्यासों के विषय हैं जो आत्मविरोधी अज्ञान के कार्य हैं इसलिये आत्मा नहीं । विद्यमान आत्मा को अविद्यमान जैसा करने वाली होने से अविद्या आत्मा की विरोधी है । उससे होते हैं मैं ब्राह्मण, मैं ध्यानी आदि अध्यास जो स्थूल-सूक्ष्म शरीरों को विषय करते हैं । भ्रम में यद्यपि सत्य का भी अंश होता है तथापि जो प्रमा होने पर न रहे वह मिथ्या ही हुआ करता है और आत्मप्रमा होने पर शरीरादि आत्मबुद्धि से ग्राह्य होते नहीं अतः उनकी आत्मता मिथ्या ही है । (३) शरीरादि का परामर्श छोड़कर गहरी नींद में सद्रूप आत्मा रहता है अतः वे इसका स्वरूप नहीं । स्वरूप का परामर्श हुए बिना वस्तुसिद्धि नहीं होती; जिसका परामर्श वस्तु की सत्ता-स्फूर्ति में अनिवार्य हो वही वस्तु का स्वरूप होता है । (४) सविकल्पक बोध प्रामाण्यव्यभिचारी होने से अप्रमाणकोटि के ही हैं, उनमें ही भासने के कारण शरीरादि प्रामाणिक अतः सत्य न होने से सत्य आत्मा के स्वरूप नहीं । (५) अव्यापक शरीरादि निरवच्छिन्न व्यापक आत्मा के स्वरूप नहीं । (६) चेतन द्वारा भासित होते हैं, चिद्भास्य हैं, अतः चिद्रूप आत्मा के स्वरूप शरीरादि नहीं हो सकते । (७) क्योंकि आत्ममात्र का श्रुतिजन्य अनुभव स्पष्ट करता है कि आत्मा जन्य, सीमित आदि नहीं है इसलिये शरीरादि आत्मा नहीं । (८) शरीर अवस्थाओं (जाग्रदादि) से ही समनियत है और अवस्थायें दृश्य अतः मिथ्या हैं इसलिये तुरीय आत्मा का स्वरूप शरीर आदि होना संभव नहीं । (९) अव्यापक होने से, हमेशा प्रिय न होने से, स्वयंप्रकाश न होने से और अन्य पर आश्रित होने से शरीरादि आत्मा नहीं हैं । (१०) शरीर एक इकाई के रूप में प्रतीत होता है और कुल शरीर अनेक हैं अतः शरीर आत्मस्वरूप नहीं क्योंकि न तो आत्मा अनेक है और न वह किसी इकाई के रूप में प्रतीत होता है, वह कोई गणनीय पदार्थ नहीं है – इस प्रकार के हेतुओं को स्वानुभव में घटाते हुए चिंतन करें तो शनैः शनैः शरीरादि को 'मैं' समझना शिथिल हो सकता है । तभी देहादि का आकर्षण क्षीण होगा । अभी तो उस आकर्षणवश यह चाहते भी नहीं कि हमारा स्वरूप शरीरादि से विलक्षण हो ! शरीर आदि से विशिष्ट होकर हमें जो 'व्यक्तित्व' भासता है उसके छूटने से हम घबराते हैं । नशा कर मस्त रहने वाला जैसे वास्तविकता

से रू-ब-रू होना ही नहीं चाहता ऐसे हम इसके लिये उत्सुक ही नहीं हैं कि हमारी सीमितता समाप्त हो । जब 'देहादि मैं नहीं' का युक्तियुक्त दृढीकरण होगा तभी मन इन्हें लाँघकर आत्मा को समझने के लिए तैयार होगा । यद्यपि शरीर में मन भी गृहीत है, उसे भी आत्मरूप से समझना छोड़ना है तथापि 'तत्त्वपक्षपातो हि धियां स्वभावः' न्याय है–कि 'सचाई है' यह निश्चित हो जाये तो बुद्धि उसे जानना चाहे यह स्वाभाविक है (भले ही अस्वाभाविक रागादि से उसे सत्य की ओर प्रवृत्त होने से रोका जाये)–अतः वह आत्मयाथात्म्य ग्रहण करने योग्य हो जाता है ।

देहादि में आत्मबुद्धि छोड़कर सत्यादिरूप आत्मा मैं हूँ यह भी दीर्घकाल तक सदा चिंतन करना चाहिये । इसके उपयोगी ब्रह्मानुचिन्तन, ब्रह्मज्ञानावलीमाला, प्रौढानुभूति, स्वानुभूतिप्रकाशिका, आत्मानुसंधान आदि प्रकरण हैं और उपदेशसहस्री आदि के अनेक स्थल हैं । इस चिंतन में पुनः पुनः एक ही बात का ख्याल करने से संभव है कि उकताना हो जाये लेकिन जैसे जपनिष्ठ व्यक्ति एक ही मंत्र की हजारों आवृत्ति करता ही जाता है या संगीत छात्र एक ही सरगम को महीनों रोज़ घण्टों गाता ही जाता है ऐसे नियमपूर्वक समय लगाकर, यह चिंतन करना जरूरी है । ग्रंथों के सहारे करें यह आवश्यक नहीं किंतु वे भी उपयोगी हो जाते हैं । यह त्वमर्थ समझने का ढंग है ।

–१२–

स्थूलदेहव्यतिरेकः

रूपादिमान् यतः पिण्डस्ततो नात्मा घटादिवत् ।

पृथिव्यादिमहाभूतविकारत्वाच्च कुम्भवत् ॥१३॥

*कथं पुनः देहादिषु गताऽऽत्मबुद्धिः शक्या त्यक्तुम् ? इत्याशङ्क्य; देहस्य अनात्मत्वं साधयति–***रूपादिमान् यतः पिण्डस्ततो नात्मा घटादिवत्** *। देहो नात्मा, भौतिकत्वात्, कुम्भवत् । देहो नात्मा, रूपादिमत्त्वाद्, घटादिवद् इत्यनुमानान्तरमाह–***पृथिव्यादीति** *॥१३॥*

आत्मचिन्तनस्य देहाद्यात्मबुद्धित्यागपूर्वकत्वमुक्तम् । देहादावात्मबुद्धेश्चिरं निरूढत्वात् तत्त्यागो न घटत इति शिष्यस्य आशयमाशङ्क्य देहादेरनात्मत्वदर्शनेन तदात्मत्वबुद्धित्यागो घटत इति मत्वा तत्त्यागाय देहादेः अनात्मत्वं शिष्यस्य दर्शयति–रूपेति । पिण्डो देहः अनात्मा **रूपरसादिमत्त्वात् । रूपादिमत्त्वं सर्वेषां वस्तूनां प्रत्यक्षसिद्धम् इति घटादिदृष्टान्तः । महाभूतविकारत्वं कुम्भस्यैव प्रत्यक्षसिद्धमिति कुम्भदृष्टान्तः ॥१३॥**

शरीरादि मैं नहीं यह समझने की विधि करने के बाद कृपालु आचार्य विस्तार से वे विचार प्रकट करते हैं जिनसे वह समझ आती है–

शरीर क्योंकि रूपादि वाला है इसलिये वैसे ही आत्मा नहीं जैसे घटादि आत्मा नहीं हैं । पृथ्वी आदि महाभूतों का परिणाम होने के करण भी घट की तरह शरीर अनात्मा है ॥१३॥

प्रथम वाक्य में शरीर आत्मा नहीं कहकर दूसरे में उसे अनात्मा बताया है । 'अनात्मा' अभावबोधक शब्द लगता है पर अर्थ है जड; अतः दोनों वाक्यों का वैशिष्ट्य है । निषेधमुख और विधिमुख

दोनों से उपदेश देना स्पष्टता लाता है यह वेदांतियों की प्रक्रिया है । पहले वाक्य से यह अनुमान प्रदर्शित है : क्योंकि 'रूपादि वाला' इस रूप से देह की उपलब्धि होती है और रूपादिमान् उपलब्ध होने वाला आत्मा नहीं होता जैसे आँख आदि से उपलब्ध होते रूपादि वाले घड़े कपड़े आदि, इसलिये देह आत्मा नहीं है । कोई यह न कहे कि आत्मा भी रूपादि वाला होवे, क्या हर्ज़ है ! इसलिये केवल रूपादि वाला *होना* हेतु नहीं, रूपादि वाला इस तरह *उपलब्धि* को हेतु समझना चाहिये । (इसके लिये आत्मज्ञानोपदेशविधि नामक प्रकरण में ग्रंथकार ने जो अनुमान रचा है वह प्रमाण है ।) आत्मा उपलब्ध है और उसका कोई रूपादि अनुभव में आ नहीं रहा । रूपादि से बहिरिन्द्रियग्राह्य सभी गुण समझने चाहिये ।

दूसरे वाक्य में अनुमान है : घड़ा, पृथ्वी आदि महाभूतों का परिणाम है और अनात्मा है तो शरीर भी उन्हीं का परिणाम होने से अनात्मा ही है । मिट्टी-पानी-हवा-आग-जगह सभी के उपयोग से घड़ा तैयार होता है । शरीर भी सभी भूतों के द्वारा रचा गया है । यहाँ भौतिकता और परिणाम दो स्वतंत्र हेतु भी समझने चाहिये । जो परिणामी, विकारी, बदल जाने वाला होता है वह आत्मा नहीं होता । हमें अपने सामर्थ्यादि तो बदलते दीखते हैं लेकिन स्वयं बदलते हुए नहीं । विकार से जन्म, बढ़ना, जीर्ण होना, नष्ट होना आदि सभी परिवर्तन समझने चाहिए; केवल तीन, छह की गिनती जरूरी नहीं, उठना, बैठना, जगना, सोना आदि जिस किसी को परिवर्तन समझा जाता है वह जिसमें होगा वह अनात्मा है । रूपादि भी परिवर्तनशील हैं, अतः अनात्मा हैं । (आनंदगिरि टीका में अनुमानप्रदर्शन का व्यत्यास संभवतः कातिब की असावधानी से हुआ है ।) शरीर क्योंकि अन्नादि से पुष्ट होता है इसलिये भौतिक है । इसमें गंधादि उपलब्ध हैं इस-लिये भी यह भौतिक ही है । रूपादि तो स्वयं अनात्मस्थ गुण हैं अतः अपने गुणी को अनात्मा बताते हैं । द्वितीय अनुमान का अभिप्राय है कि शरीर के जो कारण हैं वे महाभूत सर्वसंमत रूप से जड हैं अतः उनका कार्य शरीर जड होना ही संगत है अतः स्वयं शरीर की अपेक्षा उसके कारणों की जडता से शरीर जड दिखाया गया है । श्लोक में 'च' शब्द से बताया कि शास्त्रोक्त आत्मस्वरूप के आधार पर ही ये अनुमान किये गये हैं, अतः अनुकूल तर्क भी सुलभ है ॥१३॥

—१३—

आत्ममात्रजिज्ञासा

अनात्मा यदि पिण्डोऽयम् उक्तहेतुबलाद् मतः ।

करामलकवत् साक्षाद् आत्मानं प्रतिपादय ॥१४॥

देहस्याऽनात्मत्वं तद्व्यतिरिक्तात्मप्रतिपत्तिमन्तरेण न स्फुटी भवितुमुत्सहते, नैरात्म्यप्रसक्तिभयाद् इति मन्वानः बोधयति—**अनात्मा यदीति** ॥१४॥

केवलपिण्डस्याऽनात्मत्वदर्शनमात्रेण आत्मचिन्तनं न घटते, किन्त्वात्मनः स्फुटपरिज्ञानेनाऽपि भवितव्यम्—इति मत्वा; आत्मानं स्फुटं परिज्ञातुं 'तत्स्वरूपं वद' इत्याचार्यमाह—अनात्मेति । अयम् इतीदंशब्देन पिण्डस्य दृश्यत्वेनाऽपि

अनात्मत्वम् उच्यते । अयं देहः **पूर्वोक्तहेतुना** अनात्मा **इति सम्मतश्चेद् भवतु नाम अनात्मत्वं देहस्य, नैतावताऽऽत्मचिन्ता सिद्ध्येत् ! अतः करस्थामलकस्तु यथा प्रत्यक्षदृष्ट एवं** साक्षाद् **अव्यवधानेन 'एवंभूतस्वरूपोऽहम्' इत्यपरोक्षतया ज्ञातुम्** आत्मानं प्रतिपादय **इत्यर्थः** ॥१४॥

आचार्य ने चाहे जितना प्रत्यगुपदेश दिया, शिष्य अनादिकाल से पराक् और पराक्संवलित-प्रत्यक् के ही संस्कारों वाला है अतः पराक्परामर्श छोड़ते ही उसे महाशून्य की ही भयावह कल्पना घेर लेती है । साधारण नहीं, महर्षि उषस्त चाक्रायण ने याज्ञवल्क्य से पूछा है कि गाय-घोड़े की तरह सर्वांतर साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म बताओ ! एक औपनिषदों को छोड़ दें तो सब ही दार्शनिक जिसे आत्मा समझते हैं उसमें पराक्परामर्श नहीं छोड़ पाते और जो उसे छोड़ने को उद्यत होते हैं वे आत्मा को नकारने लगते हैं ! वे सभी विचारक हैं, साधक हैं, फिर भी पराक् से निरपेक्ष प्रत्यक् की कोई संकल्पना नहीं ग्रहण कर पाते तो हम लोगों के लिये उसे समझना कितना कठिन है यह अंदाज़ लगा सकते हैं । श्रुति-आचार्यों ने कितनी अनुकंपा की है इसका तरह-तरह से स्पष्टीकरण उपस्थित कर, यह भी अंदाज लग सकता है । पूर्वश्लोक में 'रूपादिमान्' कहा तो चिंतनशील शिष्य ने अतिदेश से सभी गुणों की आधारता को अनात्मा का चिह्न समझ लिया और 'गुण' शब्द से पारिभाषिक ही नहीं सभी आश्रित धर्म भी ग्रहण कर लिये । यद्यपि शास्त्र प्रयास करता है क्रमशः तादात्म्य शिथिल करने का—जैसे भृगुकथा से एक-एक कोश छोड़ते जाने पर आगे फिर तप कर और कोश छूटा यह बताया—तथापि जैसे बंदर को छुरी मिले तो जहाँ-तहाँ काट डालता है ऐसे हम कदम-कदम बिना चले एक ही प्रयत्न से सर्वान्तर ग्रहण करना चाहते हैं अतः कठिनाई बढ़ जाती है । केवल स्थूल से भेद है इतने में प्रतिष्ठा पायें फिर प्राणादि का विवेक करें यह साधनक्रम है । किंतु क्योंकि आत्मपदार्थ हमें स्फुरमाण है गलत ढंग से, और जैसे ही उस गलती को उजागर किया जाता है हमारे पूर्वाग्रह—जिनमें परिच्छेद के प्रति अत्यंत राग ही प्रमुख है—कोशिश करते हैं कि वह गलती नहीं यह सिद्ध होकर हम जैसे हैं, बने रहें ! अतः युक्ति का अतिदेश करना सहज है । यह जानते हुए ही आचार्यों ने स्वयं सभी पराक्तत्त्वों से विवेकपूर्वक आत्मस्वरूप का वर्णन कर दिया है ताकि उस ढंग से विचार करते जायें, विचारित को महसूस करते जायें तो महाशून्य का भय न हो । शरीर अनात्मा है सुनते ही जो प्रश्न सभी को विचलित करता है वह शिष्य उठाता है—

हे आचार्य ! आपने जो कारण बताये उनसे यदि यह माना जाये कि यह शरीर आत्मा नहीं है तो अब आत्मा को ऐसी तरह समझाइये कि वह हाथ में रखे आँवले सा अपरोक्ष हो जाये ॥१४॥

[आनंदगिरि टीका में 'बोधयति' की जगह 'चोदयति' होना उचित है ।]

'यह शरीर' से शिष्य पराक्-मात्र का निर्देश कर रहा है । हम अपरोक्ष से 'यह' को ही समझते हैं, इदमर्थ या विषय ही हमें अपरोक्ष, प्रत्यक्ष, साक्षात् आदि शब्दों से कहे जाने वाले अनुभव में भासता है । शास्त्र जिस प्रत्यक् को अपरोक्ष कहते हैं वह हमें महान् परोक्ष ही लग रहा है, यहाँ तक कि अनेक दार्शनिक हठपूर्वक मानते हैं कि शास्त्र सुनकर भी उसका जो ज्ञान होता है वह परोक्ष ही होता है, भले ही उपाय-विशेष से उसे अपरोक्ष बनाया जा सके; और

साधारणतः तो अवश्य ही केवल आत्मा का उपदेश हमें जो ज्ञान देता है वह हमें अपरोक्ष लगता तो नहीं ही है, चाहे विचारपूर्वक हम मानें कि वह अपरोक्ष होना चाहिये । शिष्य यही इंगित कर रहा है कि 'अयम्' अर्थात् जो प्रत्यक्ष 'आत्मा' है उसे आप अनात्मा कह रहे हैं तो जिसे आप आत्मा कह रहे हैं वह कैसा प्रत्यक्ष है ? लोकसिद्ध आपरोक्ष्य आत्मापरोक्ष्य नहीं यह तो गुरूपदेश ने सूचित कर दिया किंतु फिर आत्मापरोक्ष्य क्या है ?–यह समझना बाकी है । जैसे सत्यत्व आदि आत्मसंदर्भ में अलौकिक अर्थ ग्रहण कर लेते हैं ऐसे ही आपरोक्ष्य या साक्षात्त्व भी । 'भीतरीपन' परिच्छेदग्रस्त है, बाहरी के सापेक्ष है; वह तो समझने का तरीका है । अपरोक्ष में भीतर-बाहर आदि किसी विभाजन की आशा नहीं । पराङ्निरपेक्ष स्फुरण ही आत्मापरोक्ष्य है । क्योंकि यह आत्यंतिक शोधन के बिना दुर्लभ है इसलिये आचार्य तो विवेकप्रक्रिया का ही खुलासा करेंगे । 'यदि' शब्द से शिष्य स्पष्ट कह रहा है कि पिण्ड की अनात्मता अभी उसे नहीं भास रही क्योंकि यदि भास जाये तो आत्मवर्णन की प्रार्थना की जगह भूमवर्णन की प्रार्थना करे ! जब तक शरीरात्मा यह दृढ अनुभव है तब तक अखण्ड चर्चा निष्प्रयोजन है और सर्वाधिक कठिन शरीरात्मता छोड़ना ही है यह अनुभवसिद्ध है ।

यद्यपि युक्ति से निश्चय नहीं हो पाया कि शरीर नहीं कुछ और आत्मा है तथापि शिष्य सोचता है कि यदि मुख्य आत्मा साक्षात् पता चले तो वर्तमान प्रत्यक्ष का सयुक्ति वह प्रत्यक्ष बाधक बन सकता है क्योंकि यही सामान्य रीति है । इसलिये प्रश्न करता है कि आत्मा जैसा है वैसा वह साक्षात् हो इस तरह समझाइये । जिज्ञासु शिष्य कोई चार्वाक नहीं कि देहात्मवादी हो ! जानता वह है कि नश्वर देहादि से विलग नित्य आत्मा है लेकिन अनुभूति के लिये यत्न कर रहा है । साक्षी को द्वार बनाकर श्लोक ११ में दिया उपदेश इसीलिये था कि अपरोक्ष आत्मा की ओर दृष्टि जाये; अब उसी के स्पष्टीकरण के लिये शिष्य ने प्रार्थना की है ।

–१४–

द्रष्टृदृश्यान्वयव्यतिरेकः

घटद्रष्टा घटाद् भिन्नः सर्वथा न घटो यथा ।

देहद्रष्टा तथा देहो नाऽहमित्यवधारय ॥१५॥

*'यो यद्द्रष्टा स तस्माद् भिद्यते, यथा घटद्रष्टुर्घटादी'-ति व्याप्तिमाह–**घटेति** । देहस्य तदतिरिक्तस्य चात्मत्वेऽपि घटतद्द्रष्ट्रोः भेदस्य व्याप्तिरतिव्यक्तेत्याह–**सर्वथेति** । **अहम्** अपि द्रष्टृत्वाद् देहाद् भिन्नो, घटादिव घटद्रष्टा–इत्यनुमानमाह–**देहद्रष्टेति** [१] ॥१५॥*

एवम् 'अन्तःकरणतद्वृत्तिसाक्षी' (श्लो. ११) इत्यादिश्लोकोक्तमेव इदानीं स्फुटं प्रतिपिपादयिषुः आदौ साक्षित्वेन आत्मानं प्रतिपादयति–घटद्रष्टेति । घटद्रष्टा घटाद्भिन्नः सन् सर्वप्रकारेण यथा घटो न भवति तथा घटद्रष्टृवद् देहद्रष्टाऽपि नाहं देहः किन्तु स्वदृश्याद् देहाद् भिन्न इत्यर्थः । अत्राऽयं प्रयोगः–देहद्रष्टा स्वदृश्यदेहाद् भिन्नो

१. 'देहःस्वव्यतिरिक्त·····एवेति' इति षोडशश्लोकगतटीकावाक्यमिह पठनीयम् ।

द्रष्टृत्वाद् घटद्रष्टृवद्-इति । श्रुतिरपि 'स होवाचैतद् वै तदक्षरं गार्गि ! ब्राह्मणा अभिवदन्ति' (बृ. ३.८.८) 'अदृष्टं द्रष्टृ, अश्रुतं श्रोतृ, अमतं मन्तृ, अविज्ञातं विज्ञातृ' (बृ. ३.८.११) इति ॥१५॥

जीव की सहज प्रवृत्ति है हर चीज़ को विषयकर ग्रहण करने की, वैसा कर ही अनुभव होता है कि स्पष्ट समझ आयी । उसी प्रवृत्ति को उपाय बनाना है विवेक का : विषयकर जो समझे जाते हैं वे पदार्थ हमें अपने से पृथक् लगते हैं । शरीर भी विषय होकर समझ आ रहा है तो अनात्मा है । इसी अभिप्राय से आचार्य समझाना प्रारंभ करते हैं–

हे शिष्य ! जैसे घट को देखने वाला घट से हर तरह अलग होता है, घट ही हो ऐसा नहीं; वैसे देह को देखने वाला मैं देह नहीं हूँ यह निश्चय करो ॥१५॥

वेदान्तविचार का प्रसिद्ध ढंग है अन्वय-व्यतिरेक के चिंतन का । द्रष्टा-दृश्य का अन्वय-व्यतिरेक विचारणीय है । दृश्य बदलते जाते हैं, द्रष्टा वही रहता है अतः द्रष्टा का अन्वय और दृश्यों का व्यतिरेक है जिससे स्फुट होता है कि द्रष्टा और दृश्य विलग हैं । इस पर यदि सूक्ष्मतर विचार करना हो तो रत्नावली में वह भी बताया गया है : द्रष्टा से तादात्म्य पाकर ही वस्तु दृश्य बनती है । इसे प्रकृत श्लोक में सूचित करने के लिये 'सर्वथा' पद है–घटद्रष्टा सर्वथा घट नहीं है, अतः 'किसी तरह' घट है भी ! क्योंकि उसमें घट तादात्म्य से विद्यमान है इसलिये घटद्रष्टा को यह नहीं कह सकते कि वह किसी तरह भी घट नहीं है । साधक को जो विषयादिग्रहण से बचने को कहा जाता है उसमें यह स्मरणीय हेतु है : हम जिसे ग्रहण करते हैं, उतनी देर स्वयं वही बन जाते हैं । चाहे व्यक्ति हों, पदार्थ हों या उनके अच्छे-बुरे गुण-अवगुण, सदाचार-दुराचार हों, जब उसका अनुभव करेंगे तब हम वही होंगे । इसलिये चाहे यह आत्मविश्वास हो कि आवश्यक व्यवहार से हम राग-द्वेष नहीं उत्पन्न होने देंगे, देख-सुनकर भी आकृष्ट नहीं होंगे, संस्कार नहीं बटोरेंगे आदि, फिर भी क्योंकि तादात्म्य के बिना ग्रहण ही नहीं होना है इसलिये सांसारिक वस्तुओं के अनुभवों से दूर रहना ही श्रेयस्कर है । हाथ पर दस्ताना पहनकर भी जैसे कोई शौक से टट्टी नहीं उठाया करता, जब तक अनिवार्य न हो, इसी तरह मन को सुरक्षित समझकर भी विषयभोग में नहीं लगाना चाहिये । जीवनयापन के लिये अनिवार्य विषयसंपर्क तो छोड़े जा नहीं सकते जैसे प्रतिदिन अपना मल तो हाथ से साफ करना ही पड़ता है पर इसका मतलब यह नहीं कि जब रोज़ मलस्पर्श होना ही है तो रास्ते चलते यही करते चलें ! ऐसे ही आवश्यक की तरह निवार्य विषयसम्पर्क से परहेज़ न करना कोई बुद्धिमानी नहीं । दोष वाले पदार्थ तो हैं ही ऐसे कि ग्रहण न किये जायें तो अच्छा है किंतु जो गुणवान् लगते हैं वे भी हैं तो जड ही अतः उन्हें ग्रहण करने पर हम जड ही बनेंगे जो किसी तरह अच्छा नहीं कहा जा सकता । इसीलिये भगवान् ने कहा है कि कछुए की तरह सभी इंद्रियों को भीतर समेटे रखे तभी प्रतिष्ठित प्रज्ञा प्राप्त होगी। इस प्रकार शमविधि के पीछे वेदान्त का दार्शनिक दृष्टिकोण समझकर याद रखना चाहिये । द्रष्टा में दृश्य का जो तादात्म्य है वही अन्वय है । तादात्म्य का विश्लेषण करें तो इसी निर्णय पर पहुँचना

पड़ता है कि दृश्य द्रष्टा में कल्पित हैं । सभी दर्शन विषय-विषयिसम्बंध के बारे में विचार करते हैं : मैं घड़ा देख रहा हूँ तो घड़ा और मेरा आपसी संबंध क्या है ? बिना संबंध के तो मैं देख नहीं सकता अन्यथा रामेश्वर में बैठकर काशीविश्वनाथ का दर्शन कर लूँ । संयोगसंबंध घड़े से मेरा नहीं क्योंकि यह महसूस नहीं होता कि मैं उससे जुड़ा हूँ; और भी बहुतेरे हेतु हैं कि संयोग यहाँ संभव नहीं । संयोग से अन्य कुछ संबंध आनुभविक हैं और कुछ शास्त्रीय । आनुभविकों का व्यवहार तो होता है पर निर्वचन असंभव है : मेरा कपड़ा, मेरा मित्र, मेरा रिश्तेदार, मेरा देश आदि अनंत अनुभव संबंधों को ज़रूर विषय करते हैं लेकिन इनमें एक का भी निरूपण करें–परिभाषा बना सकें और उसमें प्रमाण दे सकें–यह किसी के लिये संभव नहीं । घड़े को देखते हुए मेरा भी उससे संबंध लगता है पर समझाया जा सके ऐसा संबंध नहीं है । इसी से वेदांतदर्शन उसे अनिर्वचनीय संबंध कहता है । अनिर्वचनीय ही काल्पनिक कहलाता है । 'घटसंबंध मुझमें कल्पित है' का अर्थ हुआ 'मुझमें घट कल्पित है', स्वरूपतः घट कैसा है यह अलग विचार है लेकिन मुझमें वह कल्पित ही है; 'मुझमें' अर्थात् मुझसे संबद्ध । (आगे, मुझसे असंबद्ध घट तो असिद्ध ही है इत्यादि रीति से दृश्यमिथ्यात्व सुसाध है ।) जो जहाँ कल्पित हो उसका वहाँ अभाव होता है यह नियम है, रज्जुसर्पादि सर्वत्र दृष्ट है । यों द्रष्टा में दृश्य का अभाव अर्थात् व्यतिरेक निश्चित हो गया । इस तरह द्रष्टा में दृश्यों का तादात्म्य–यह अन्वय हुआ और उसी में उनका अभाव–यह व्यतिरेक हुआ । इससे पता चलता है कि द्रष्टा मैं दृश्यों से संबद्ध भी नहीं हूँ तो दृश्यरूप होने की क्या संभावना ! जो बात दृश्यभूत घट में निश्चित हुई वही दृश्यभूत शरीर में समझनी है । 'दृश्य' का मतलब चक्षुर्वृत्ति का विषय ही नहीं समझना चाहिये; किसी भी तरह जो ज्ञेय हो–ज्ञान जिसके बारे में होता हो–वह सब दृश्य है । अपरोक्ष ही नहीं परोक्ष ज्ञान भी समझ लेना चाहिये । आखिर घड़े का थोड़ा-सा हिस्सा ही प्रत्यक्ष होता है, उसका हर कण तो प्रत्यक्ष किया नहीं जा सकता ! शरीर का भी हमें प्रत्येक अवयव प्रत्यक्ष नहीं; चाहे हमें तादात्म्य है पर अपने बहुतेरे अंशों का हमें सर्वथा अज्ञान है, वे अंग हैं यह भी हमें नहीं पता ! अतः शरीर का थोड़ा हिस्सा प्रत्यक्ष और कुछ परोक्ष ज्ञान का विषय है । सर्वथा अज्ञात देहांश भी क्योंकि इस योग्य है कि ज्ञेय बन सके इसलिये वह भी दृश्य कह दिया जाता है । चाहे जैसे हो, क्योंकि दृश्य है इसलिये देह मैं नहीं यह निश्चय करना जरूरी है । जैसे तादात्म्य रहने पर भी घट मैं नहीं हो जाता ऐसे तादात्म्य रहते भी शरीर मैं नहीं हूँ । वैद्य जिसे अपथ्य कहता है वह प्रिय लगे तो भी बार-बार शरीरविज्ञान या औषधिशास्त्र के वचन याद कर उस वस्तु में दोषदृष्टि दुहरा-दुहरा कर व्यक्ति अपने चित्त में स्थिर कर लेता है कि वह उसके लिये हानिकारक है और फिर उससे प्रियता भी हट जाती है । शास्त्र-युक्ति की पुनः पुनः आवृत्ति से देहादि मैं नहीं यह भी इसी तरह मन में बैठा लेना चाहिये ।

शिष्य ने प्रार्थना की थी 'हाथ में रखे आँवले-सा स्पष्ट हो ऐसा उपदेश दीजिये', लेकिन आचार्य ने पुराने ढर्रे पर ही समझाया है कि आत्मा देह नहीं, उसे जानने वाला है ! ऐसा इसलिये किया कि गाय-घोड़े की तरह सींग या कान पकड़ कर सामने लाकर आत्मा दिखाया जाये इस लायक वह है नहीं । याज्ञवल्क्य ने भी चाक्रायण को ऐसे ही समझाया था कि दृष्टि के द्रष्टा को देखने की कोशिश मत करो, श्रुति का श्रोता सुना नहीं जा सकता, मति के मन्ता का मनन नहीं होगा, विज्ञाति (विज्ञान) का विज्ञाता विज्ञेय हो यह संभव नहीं । अन्यत्र भी कई जगह श्रुति-स्मृति व आचार्यों ने यह व्यक्त किया है कि आत्मा की विषयतुल्य प्रमा असंभव है, बल्कि उसकी प्रमा ही कहने भर को है ! क्योंकि अनधिगत हो तो उसकी प्रमा संभव बने, जब वह नित्य स्फुरमाण है तो प्रमा को स्थान कहाँ ? फिर भी जो कार्य प्रमा करती है वह कार्य जिस ज्ञान से हो उसे प्रमा कहना असंगत नहीं । विद्यमान भासमान वस्तु के बार में 'नहीं है, नहीं भास रहा' व्यवहार समाप्त करना प्रमा में देखा गया है तो आत्मा के भी वैसे व्यवहार के समापक ज्ञान को आत्मप्रमा कहना उचित है । आत्मा विषयरूप से तो समझा ही नहीं जा सकता, आश्रयरूप से उसे समझने का प्रयास भी यदि शास्त्र के निर्देशन में न हो तो विफल ही होता है क्योंकि ज्ञाता को आत्मा समझना ही तब स्वाभाविक होता है जैसा सांख्यों ने समझा और जब ज्ञातृत्व के अनित्यत्व पर दृष्टि जाती है तब ज्ञानहीन आत्मा समझ आता है जैसा वैशेषिकों को आया। शास्त्रानुसारी चिंतन आश्रय से आगे ले जाता है : आश्रय भी जिससे प्रकाश पाकर आश्रय बन रहा है वह प्रकाश ही मैं हूँ । दार्शनिक सम्राटों द्वारा नित्य पूजित आचार्य श्रीसुरेश्वर ने नैष्कर्म्यसिद्धि तृतीयाध्याय में (श्लो. ५५ आदि) इस विषय पर प्रौढ प्रकाश डाला है ।

मैं देह का द्रष्टा होने से देह नहीं और देह दृश्य, जड, रूपादि वाला, सांश और भौतिक होने से मैं नहीं–यों दोनों के परस्पर वैलक्षण्य को समझना उचित है । किं च शरीर रहते ही हमारा उसमें मैं-व्यवहार नहीं होता जैसे सुषुप्ति या मूर्छा में अथवा मरने पर, जिससे पता लग जाता है कि 'मैं' शरीर नहीं । इसी से शरीर प्रायः ममकारास्पद ही होता है, इसके धर्म तो अपने धर्म लगते हैं पर 'मैं शरीर हूँ' की जगह 'मेरा शरीर है' यह व्यवहार ही स्वाभाविक है । इन हेतुओं से मानसोल्लासवार्तिक में (५.१० आदि) भी 'देह मैं नहीं' इसे स्पष्ट किया गया है ।

यह तथ्य अवधारण करने को कहा । विचारपूर्वक प्रामाणिक निश्चय जब चित्त के लिये स्वाभाविक हो जाये तब कहा जाता है कि बात का अवधारण हो गया । 'अव' से सूचित है कि सतही ज्ञान या स्मृति नहीं वरन् चेतन-अवचेतन मानस तक वह बोध एकरसता से व्याप्त हो चुका है । इसीलिये आचार्य बार-बार एक ही बात समझाते हैं कि हम उसका निरंतर चिंतन करते रहें और उपदेश स्थिरता से ग्रहण हो जाये । देह से अन्यत्र यदि मैं-बुद्धि हो तब भी द्रष्टृदृश्य के अन्वयव्यतिरेक से वहाँ से भी उसे हटा लेना चाहिये ।

सूक्ष्मदेहोप्यनात्मा

एवमिन्द्रियदृङ्ग् नाऽहमिन्द्रियाणीति निश्चिनु ।

मनो बुद्धिस्तथा प्राणो नाऽहमित्यवधारय ॥१६॥

इन्द्रियद्रष्टृत्वाद् नाहम् इन्द्रियाणि, किन्तु तेभ्यो भिन्नः, देहद्रष्टुर्देहवद् इत्यनुमानाद् इन्द्रियाणामनात्मत्वमाह– ***एवमिति*** *। उक्तं न्यायं मनोबुद्ध्यादिष्वतिदिशति–* ***मन इति*** *। [1]देहः स्वव्यतिरिक्तद्रष्टृकः दृश्यत्वात्; घटादिरूपो यो दृश्यः स स्वव्यतिरिक्तद्रष्टृको यथा घटः । तथा चाऽयं देहो दृश्यः, तस्मात् स्वव्यतिरिक्तद्रष्टृक एवेति ॥१६॥*

एवं घटद्रष्टृवद् देहद्रष्टृत्वेन आत्मानं दर्शयित्वा; इदानीम् इन्द्रियस्य देहद्रष्टृत्वदर्शनात् तस्यैव आत्मत्वशङ्कायाम्; इन्द्रियस्य साक्षिण एव इन्द्रियद्वारा देहद्रष्टृत्वं, न साक्ष्यस्य इन्द्रियस्य इत्यभिप्रेत्य देहोक्तानुमानेन क्रमाद् इन्द्रियद्रष्टृत्वेन अपि आत्मानं दर्शयति–एवमिति । **इन्द्रियदृग् अहं न इन्द्रियं, किन्तु स्वदृश्याद् इन्द्रियाद् भिन्नः । कुतः ? द्रष्टृत्वाद् देहद्रष्टृवत् । एवं मनआदिषु व्याख्येयम् । स्वस्वाऽर्थग्रहणस्फुटाग्रहणादिरूपधर्माणाम् आन्ध्यमान्द्यपटुत्वादीन्द्रियधर्माणां दृश्यत्वस्य अनुभवसिद्धत्वाद् धर्मिणोऽपि दृश्यत्वं सिद्धमिति भावः ।**

तथाऽपि मनस एव इन्द्रियद्रष्टृत्वदर्शनात् तस्यैव आत्मत्वप्राप्तौ पूर्वाभिप्रायेण मनसो द्रष्टृत्वमात्मनो दर्शयति–मन इति । **तस्य संकल्पविकल्पसंशयात्मत्वेन दृश्यत्वमनुभवसिद्धम् इत्यर्थः । एवं चेद्, निश्चयात्मकबुद्धेरात्मत्वं स्याद् ? इत्याशंक्याह–**बुद्धिरिति । **यथैक एव पुरुषः क्रियादिभेदेन पाचकादिसंज्ञक एवम् अंतःकरणं संशयनिश्चयादिवृत्तिभेदाद् मनोबुद्धिसंज्ञकं भवति । अतो बुद्धिसंज्ञकस्य अन्तःकरणस्य निश्चयात्मकत्वेन क्षणिकत्वेन च दृश्यत्वं सिद्धमित्यर्थः । 'अन चेष्टायाम्' इत्यस्माद् धातोः प्राणशब्द उत्पन्नः, अतः चेष्टायाश्चेतनधर्मत्वात् तस्यैव साक्षित्वोपपत्तौ स एवात्मा स्यात् ? इत्यत आह–**तथा प्राण इति । **तथा देहेन्द्रियादिवद् अनात्मा, उच्छ्वासात्मकस्य दृश्यत्वेन अनुभवसिद्धत्वात् । सुषुप्तौ प्राणे सत्यपि विज्ञानस्य अभावाद् अचेतनत्वमनुभवसिद्धमित्यर्थः ॥१६॥**

स्थूल प्रपंच से अभिभूत मति नाम-रूपात्मक संसार की असत्यता संभव भी नहीं मान पाती अतः नाम-रूप से अतीत तत्त्व की वास्तविकता को सम्मानित करना इसके लिये अत्यंत कठिन हो जाता है । सबको दीखता देह आत्मा नहीं हो सकता तो भी ऐसा आत्मा निर्धारित होना चाहिये जो इस देह समेत संसार की व्यवस्था चलाये, नाम-रूप के अंतःपाती हो । सूक्ष्म शरीर शास्त्रीय पदार्थ है, न लोकसिद्ध है और न इसके स्वरूप में सब दार्शनिक ही एकमत हैं । स्थूल से अन्य मन के बारे में अद्यावधि आनुमानिकता के कारण गुह्यता का व्यवहार है; वैषयिक-सत्यता उसकी है यह प्रमाणित करना अभी तक असंभव माना जाता है । स्थूलमात्र से व्यवस्था नहीं बनती यह निश्चित होने से संभावित है कि कुछ सूक्ष्म होना चाहिये–इससे अधिक प्रामाणिकता गैरशास्त्रीय विचारक मन की मान सकें ऐसा लगता नहीं । स्थूलनिष्ठ परिणामों पर ही मनःस्वरूप का आकलन करने के प्रयास में रत लोकायत बाध्य होकर भी स्थूलनिरपेक्ष वस्तु को मानता नहीं । इस तरह चाहे

१, एतदादि पूर्वश्लोकव्याख्याने पठनीयम् ।

आग्रही न हो फिर भी सामान्य जन 'आत्मा' से जिसे समझता है उसमें ज्ञान-क्रिया-विचार की शक्ति होती है अतः शास्त्रप्रसिद्ध सूक्ष्मशरीर ही वह आत्मा संभव है । कर्ता-भोक्ता आत्मा मानने वाले वादी भी इसी कोटि में हैं । ईसाई भी जिस जीव की कल्पना करते हैं वह सशरीर ही होता है और स्थूलशरीर के बिना वह ज्ञानशून्य रहता है अतः स्वर्गादि भोगने के लिये उसे स्थूल शरीर मिलेगा ऐसा कहते हैं जिससे पता चलता है कि सूक्ष्मशरीर से सर्वथा पृथक् आत्मा वे नहीं मानते। यद्यपि वे जीवित और सात्मक का भेद करते हैं–वनस्पति और पशु जगत् को जीवित किंतु निरात्मक मानते हैं, केवल मनुष्य में ही जीवात्मा स्वीकार करते हैं–जिससे यह नहीं कह सकते कि वे इन्द्रिय-मन-प्राण को आत्मा मानते हैं, क्योंकि ये तो पशु आदि में भी हैं जब कि उनमें आत्मा नहीं, तथापि उन्हें संमत जीवात्मा सूक्ष्मशरीर के धर्मों वाला ही है अतः उन्हें इसी कोटि में गिनना संगत है। स्थूलशरीर का जीवित रहना-मरना जिसके सम्बंध-असम्बंध पर निर्भर माना जाये यदि वही आत्मा हो, जैसा प्रारंभिक स्तर पर कहा-समझा जाता है, तो शास्त्रप्रसिद्ध सूक्ष्मशरीर से अन्य आत्मा मानने की जरूरत नहीं । स्थूल में आग्रही तो देहावयवों की ही सक्रियता-निष्क्रियता से जीवन-मरण की व्याख्या करेंगे एवं जैसे हर पत्थर या घड़ा एक-सा सामर्थ्यशाली नहीं होता वैसे सर्वत्र अंगशक्तियों का भेद स्वाभाविक मानेंगे किन्तु जो आग्रही नहीं वे स्वानुभव और युक्ति से यहाँ तक मान सकते हैं कि स्थूल से अन्य सूक्ष्म कुछ है । इंद्रिय आदि पदार्थ वे सूक्ष्म मानें यह जरूरी नहीं, लेकिन इतना मानते हैं कि कुछ ऐसा है जो स्थूल नहीं अर्थात् जिसकी केवल वैषयिक सत्यता नहीं है, जो विषयतया प्रमाणित नहीं हो सकता । उसके स्वरूप में मतभेद हो सकता है किंतु स्थूलभिन्न को मानते हैं । ऐसे विचारक भी सूक्ष्मदेह को आत्मा समझने वालों की ही कोटि में हैं । आचार्य सभी तरह के स्थूलान्यात्मवादियों को समझाते हुए कहते हैं–

इसी तरह यह भी निश्चय कर लो कि इंद्रियों को जानने वाला मैं इंद्रियरूप नहीं हूँ । ऐसे ही अवधारण करो कि मन, बुद्धि, प्राण मैं नहीं हूँ ॥१६॥

पूर्वश्लोकोक्त न्यायका ही अतिदेश है । द्रष्टा दृश्य से अन्य होता है, इंद्रियादि को हम जानते हैं तो उनसे अलग हैं । (आनंदगिरिटीका में 'देहः स्वव्यति…' आदि वाक्य यदि पूर्वश्लोक में समझा जाये तो अधिक स्वरस है ।) यद्यपि इंद्रियादि को घटादि की तरह ज्ञेय नहीं कह सकते तथापि 'आँख से देखता हूँ', 'मनसे सोचता हूँ', 'प्राण को नियंत्रित करता हूँ' आदि अनुभव से और अंधा आदि हो जाने पर 'मेरी आँख नहीं रही' ऐसा ही अनुभव होने से, 'मैं नहीं रहा' ऐसा कभी न होने से, इंद्रियादि को हम अपने से भिन्न समझते हैं । सुषुप्ति में इन सबके न रहने पर भी हम रहते हैं इससे भी हम इन्हें अपने से पृथक् जानते हैं । क्योंकि इन अनुभूतियों पर विचार नहीं करते इसलिये भले ही सूक्ष्मात्मवादी बने रहें पर अनुभव सभी को होता है जो इंद्रियादि को मैं से अलग प्रतीत कराता है । आत्मज्ञानोपदेशविधि-प्रकरण में आचार्य ने 'करणत्वात् प्रदीपवत्' से ही इंद्रिय-मन-बुद्धि को अनात्मा सिद्ध किया है । इंद्रिय-अंतःकरण की अपेक्षा प्राण में वैशिष्ट्य है । यद्यपि 'मैं प्राण हूँ' यह अनुभव किसी को नहीं होता तथापि श्वासादिरूप लोकसिद्ध प्राण

के ही सदसद्भाव से देह चेतन-अचेतन समझा जाता है और इतने से ही सांसारिक व्यवहार का निर्वाह होता है । इसलिये प्राण की अपेक्षा पृथक् आत्मा मानना विचारशील के लिये भी कठिन है । यह सूचित करने के लिये श्रुति ने छान्दोग्य में देवर्षि नारद जैसे को प्राणात्मवाद में संतुष्ट हुआ प्रदर्शित किया है, जिससे च्युत करने के लिये स्वयं सनत्कुमार को उपदेश देना पड़ा । ब्रह्मसूत्रों में (१.३. अधि. २) इस प्रसंग को स्पष्ट किया है । अत एव आत्मज्ञानोपदेशविधि-प्रकरण में प्राण को अनात्मा बताने के लिये सुषुप्ति की चर्चा की है : गहरी नींद के समय स्थूल शरीर में प्राण सक्रिय है पर तब विज्ञान नहीं है, चोर आदि को देख-सुन नहीं पाते, कर्तृभोक्तृत्व का अनुभव नहीं है, अतः प्राण जीवात्मा नहीं है । अजातशत्रुब्राह्मण में इस तथ्य को और विस्तार से समझाया गया है । प्राण में आकर करणतान्याय को थोड़ा बदलना पड़ता है क्योंकि इंद्रिय-मन की तरह प्राण सर्वथा अविषय नहीं है, लोग इसका स्पष्ट अनुभव कर व्यक्ति को ज़िंदा या मरा समझते और तदनुसार व्यवहार करते हैं । किन्तु दृश्य से द्रष्टा भिन्न है—यह न्याय तो यथावत् रहता है । सुषुप्ति में शरीर सर्वथा निर्ज्ञान तो होता नहीं क्योंकि शरीर के प्रयोजनों के अनुसार मस्तिष्क, स्नायु आदि वे सारे परिवर्तन करते रहते हैं जो देहव्यवहार के लिये जरूरी हैं, और शोर, तेज़ रोशनी, चोट आदि अनुभव कर व्यक्ति उठता भी है । आँख मूँदने से जैसे कोई अंधा नहीं हो जाता, मौन रखने से गूँगा नहीं होता, ऐसे ही सोते समय अनुभव न करने से अनात्मा नहीं सिद्ध होगा । कुछ ज्ञानों के लिये आवश्यक साधन उपरत हैं अतः वे ज्ञान नहीं हो रहे इतने से प्राण अनात्मा निर्णीत करना कठिन है । किन्तु दृश्यतावश उसे वैसा सिद्ध किया जाये इसमें कोई मुश्किल नहीं । सनातन चेतना आत्मा का स्वरूप है जो प्राण में कदापि नहीं है, प्राण जानता नहीं, जाग्रत् में भी वह जाना ही जाता है । ईसाइयों ने जीवन व आत्मा में अंतर माना वह इस दृष्टि से ठीक है कि जीवन-निर्वाह प्राण की सहायता से होता है और आत्मा प्राणरूप नहीं है, लेकिन जो उन्होंने केवल मनुष्य को सात्मक माना वह गलत है : सद्रूपसे आत्मा सर्वत्र है, मन-प्राण जहाँ भी है वहाँ आत्मा की चिद्रूपता भी प्रकट है चाहे हम स्पष्ट समझ पायें या नहीं । मन-प्राण ये एक ही सिक्के के दो पहलू हैं या जैसा सुरेश्वराचार्य कहते हैं, दर्पण के अगले-पिछले फलक हैं 'मलिनाऽमलिनाऽऽदर्शपश्चात्प्राग्भागतुल्ययोः । क्रियाशक्तिज्ञानशक्त्योः अन्तःकरणभागयोः ।।' (मानसो. ४.७) ।। अतः वनस्पति व पशु जगत् जब सप्राण है तो समनस्क भी अतः उसमें आत्मा सच्चिद्रूपसे प्रकट होने के कारण जैसे मानव वैसे वह सात्मक है । मानव में विशेषता मानी जाये तो समझ आता है, हर प्रजाति स्वयं में विशेषता मानकर संतुष्ट रहने का अधिकार रखती है ! मानव धर्मादि में प्रवृत्त हो इसलिये शास्त्र भी उसकी प्रशंसा करते ही हैं । किंतु एतावता आत्मा पर उनका एकाधिकार नहीं सिद्ध हो जाता ! प्राण ज्ञेय है अतः आत्मा नहीं ।

स्थूल शरीर के बाद हमारे तादात्म्य का आस्पद रह जाता है सूक्ष्म शरीर जिसके अंग हैं इंद्रियाँ, अंतःकरण और प्राण । ये सभी महाभूतकार्य हैं अतः लिंग अर्थात् सूक्ष्म शरीर भी भौतिक है जैसा पंचीकरण में कहा है 'सप्तदशकं लिंग भौतिकम्' । आत्मबोध भी बताता है 'पञ्चप्राणमनोबुद्धिदशेन्द्रियसमन्वितम् । अपञ्चीकृतभूतोत्थं सूक्ष्मांगं भोगसाधनम् ।।' (श्लो. १२) । अतः

यहाँ श्लोक १३ में 'महाभूतविकारत्वात्' से कहा हेतु सूक्ष्म शरीर की अनात्मता में भी समझ लेना चाहिये । वेदान्तप्रसिद्ध कोशप्रक्रिया से प्राणमय-मनोमय-विज्ञानमय, इन तीन कोशों से सूक्ष्म शरीर निर्मित है । शरीर में यथावश्यक भरी जो वायु बल प्रदान करती है और चक्षुरादि इंद्रियों की प्रेरक बनती है वह प्राणमय कोश है । शरीर, घर आदि में 'यह मैं हूँ', 'ये मेरे हैं' इन भावों को करने वाला जो काम-क्रोध आदि अवस्थाओं वाला है वह मनोमय है । जाग्रत्काल में सारे शरीर को घेरे रहने वाली बुद्धि विज्ञानमय है । यह कोशवर्णन पंचदशी (३.५-७) में स्पष्ट है । तैत्तिरीय में काशों के अंगों का उल्लेख है : प्राण, व्यान, अपान, आकाश और पृथिवी–ये प्राणमय के अंग हैं । यजु, ऋक्, साम, आदेश और अथर्व–ये मनोमय के अंग हैं । श्रद्धा, ऋत, सत्य, योग और मह–ये विज्ञानमय के अंग हैं । विवेक चूडामणि के अनुसार कर्मेन्द्रियाँ और प्राण मिलकर प्राणमय कोश बनाते हैं (श्लो. १६७), ज्ञानेन्द्रियाँ और मन मनोमयकोश है (१६९) तथा ज्ञानेन्द्रियाँ और बुद्धि विज्ञानमय कोश हैं (१८६) । सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह श्लो. ३५०, ३५५, ३८१ में भी ऐसा ही बताया है । चाहे जिस ढंग से समझें, ये कोश सूक्ष्मशरीरात्मक हैं अतः आत्मा नहीं वरन् उसकी उपाधि ही हैं यह समझना ही आवश्यक है । ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति का एकीकृत रूप ही सूक्ष्मशरीर या इन तीन कोशों के नाम से कहा जाता है और जानने लायक तथ्य यही है कि ये शक्तियाँ आत्मा नहीं हैं क्योंकि आत्मा अर्थात् मैं इन्हें अपने से संबद्ध समझकर इनसे ज्ञान-क्रिया करता हूँ । किं च ये अनेक हैं–इंद्रियाँ दस हैं, अंतःकरण चार हैं, प्राण भी पाँच हैं–जब कि मैं एक हूँ अतः इनका मुझसे अभेद संभव नहीं । श्लोक में 'निश्चय' और 'अवधारण' से बताया कि स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म से आत्ममति हटाना अधिक प्रयासापेक्ष है । प्रत्यक्ता की अधिकता जहाँ भी होती है वहाँ उतना ही दृढ अध्यास होता है जिससे उसका बाध उतना ही कठिन होता है । दृग्दृश्य का विवेक वह प्रबल उपाय है जो सूक्ष्म से आत्मनिश्चय हटा देता है ।

–१६–

संघातानात्मता

सङ्घातोऽपि तथा नाऽहमिति दृश्यविलक्षणम् ।

द्रष्टारमनुमानेन निपुणं सम्प्रधारय ॥१७॥

देहादिसमूहस्य आत्मत्वं वारयति–सङ्घातोऽपीति । तत्रात्मनो द्रष्टृत्वे फलितमाह–दृश्येति । ॥१७॥

नन्नु देहेन्द्रियादिसंघात एवैकैकस्य साक्षी ? इत्यत आह–सङ्घात इति । तथा देहेन्द्रियादिवत् सङ्घातोऽपि साक्षी न भवति; 'इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते । एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥' (भ.गी. १३.१) इति स्मृतेः संघातसाक्षित्वेन क्षेत्रज्ञस्य प्रतिपादितत्वात् संघातस्य दृश्यत्वं सिद्धमित्यर्थः ।

इत्थमुक्तमर्थं दृढीकुर्वन् सप्रमाणमुपसंहरति—इतीति । अत्रेदमनुमानम्—देहादिसंघातः स्वव्यतिरिक्तद्रष्टृको भवितुमर्हति । कुतः ? दृश्यत्वात् । यो यो दृश्योऽसावसौ स्वव्यतिरिक्तद्रष्टृक एवेति । एवं देहेन्द्रियादिसाक्षित्वेन आत्मा दर्शितः । देहेन्द्रियादीनामपि दृश्यत्वेन अनात्मत्वम् अर्थाद् उक्तम् ॥१७॥

दार्शनिक दृष्टि से चाहे जितना अयुक्त लगे लेकिन व्यवहार, कार्यकारिता, सामान्य अनुभव के धरातल पर संघात और उसके घटकों का अंतर स्फुट है । अनेक जड चीजें मिलकर चेतन नहीं बना सकतीं यह युक्ति ठीक है किन्तु सबको प्रतीत यही होता है कि भले ही ये सब अंग प्रत्येक रूप से चेतन नहीं हैं पर जब सब मिल-जुलकर चल रहे हैं तब चेतन ही हैं । जरूरी नहीं कि सबके संहत होने पर इनसे अत्यंत भिन्न ही कोई आत्मा माना जाये ! यह भी जरूरी नहीं कि सकल घटक आवश्यक हों । छह-आठ धागे कम-ज्यादा होने पर भी कपड़ा तो रहता ही है, दस-बीस पत्ते टूट जायें पर पेड़ तो रहता ही है । परिभाषित करना मुश्किल हो सकता है पर आपाततः उचित यह लगता है कि देहादिसंघात ही आत्मा है, इससे पृथक्, इससे स्वतंत्र आत्मा नहीं । कुछ आधुनिक विचारक तो इसमें मानस के द्वार से समाज का भी प्रवेश कराना चाहते हैं जिससे समाज (या सामाजिकता) भी संघात का अंग हो जाता है । आचार्य सावधानी से इस पक्ष का निराकरण करते हैं—

देहादि की तरह इनका संघात भी मैं नहीं हूँ । इस तरह अनुमान द्वारा पूरी स्पष्टता से सं-प्र-धारण कर लो कि द्रष्टा दृश्य से विपरीत लक्षण वाला है ॥१७॥

अनेक घटक सप्रयोजन व्यवस्थित प्रक्रिया के अंग तभी बनते हैं जब उन घटकों से अन्य कोई चेतन हो जिसका उस प्रक्रिया से कोई उपकार हो रहा हो । यद्यपि यह नियम चेतन को सिद्धवत् मानकर है तथापि लौकिक चेतन अर्थात् जीवित मनुष्यादि को लेकर नियम समझा जा सकता है । शरीरादि इसी तरह प्रक्रियांग हैं अतः अपने से विलक्षण चेतन के गमक हैं । यहाँ तो आचार्य दृश्यता को ही देहादिसंघात के अनात्मत्व में हेतु देकर सुस्पष्ट करते हैं कि संघातपरार्थता की युक्ति आपातिक ही है, आत्यंतिक नहीं । जहाँ सहकारिता के आधार पर कारोबार होता है वहाँ अन्यार्थ न होकर घटक स्व-अर्थ ही संहत होते हैं । जिन सत्रों में सभी ऋत्विक् यजमान भी हैं वहाँ भी ऐसा समझना चाहिये । अतः उसके आधार पर स्वतंत्र चेतन सिद्ध नहीं होगा वरन् दृग्दृश्यविवेक से ही होगा । जो भी दृश्य है—प्रत्येक या संघात—वह अपने द्रष्टा से अन्य है यह नियम सर्वत्र एक रहता है । परीक्षा करें तो प्रत्येक से विलक्षण संघात समझना असंभव है; इसमें संदेह हो तो आत्मपुराण प्रथमाध्याय का पारायण करने से मिट जायेगा । प्रसिद्ध संघात मान लें तो भी वह दृश्य अवश्य है अतः अनात्मा है । यद्यपि सामान्य दृष्टि से संघातात्मपक्ष प्रबल है, और स्थूल-सूक्ष्म के बाद कहकर आचार्य ने भी उसका महत्त्व द्योतित किया है, तथापि इसके निरासार्थ कोई अन्य युक्ति जरूरी नहीं है, पूर्वोक्त ही उचित व पर्याप्त है ।

श्लोक १५ से प्रारंभ द्रष्टृदृश्यविवेक का प्रसंग इस श्लोक में पूरा हुआ जिसका सार है कि सच्चिदानंद द्रष्टा असत्-जड-दुःख दृश्य से अन्य है । सम्–अर्थात् युक्ति व प्र-अर्थात् प्रमाण से इस तथ्य को धारण कर लेना चाहिये, हृदयंगत कर लेना चाहिये ।

–१७–

आगमापायितदवध्यन्वयव्यतिरेकः

देहेन्द्रियादयो भावा हानादिव्यापृतिक्षमाः ।

यस्य सन्निधिमात्रेण सोऽहमित्यवधारय ॥१८॥

*किन्तदनुमानम् ? इत्यपेक्षायां पञ्चावयवमनुमानं विचारयति–**देहेति** । **देह**शब्देन स्थूलसूक्ष्मशरीरं धर्मित्वेन उपादीयते ।*

*किं च–देहप्रवृत्तिः, चैतन्याधिष्ठानपूर्विका, अचेतनप्रवृत्तित्वाद्, रथादिप्रवृत्तिवद्; इत्यनुमानान्तरमाह–**देहेन्द्रियादीति** । **मात्र**शब्दोऽवधारणे । चेतनस्यं **यस्य** सन्निधिनैव हानोपादानव्यापारसमर्थाः स्युरित्यर्थः । एतेन देहेन्द्रियादीनां शकटादिवद् अचेतनत्वं दर्शितम् ॥१८॥*

इदानीं दृश्यत्वेनैव अचेतनत्वे सिद्धे सत्यपि देहेन्द्रियादीनां प्रकारान्तरत्वेन अचेतनत्वं ज्ञापयंस्तद्विलक्षणतया चैतन्यविग्रहत्वेन आत्मानं प्रतिपादयति–देहेति । **अत्र** मात्रशब्दोऽवधारणे । यस्य **चैतन्यस्य सन्निधिनैव देहादयो हानोपादानव्यापारक्षमाः समर्थाः स्युः** सोऽहम् **इत्यन्वयः । देहेन्द्रियादीनां चैतन्यसांनिध्यादेव हानादिसंसारव्यापार इत्यनेन तेषां शकटादिवद् अचेतनत्वं दर्शितम् ॥१८॥**

वेदान्ताचार्यों ने जो विशेष अन्वय-व्यतिरेक विचारणीयतया खोजे हैं उनमें एक बताया जो द्रष्टा व दृश्य को विषय करता है । अगला बता रहे हैं जो आगमापायी और उसकी अवधि को विषय करता है । आगम अर्थात् आना और अपाय–जाना । जो पदार्थ आने-जाने वाले हैं, जन्म-नाश वाले हैं वे सब आगमापायी हैं । क्योंकि वे कभी होते और कभी नहीं होते अतः मिथ्या हैं ! अनित्य से मिथ्या की सिद्धि का यह सांप्रदायिक तरीका है : 'यह साँप है' यों 'यह' से एककर साँप का ज्ञान होने के बाद रस्सी दीखकर जो यह अनुभव होता है 'यह साँप नहीं है' वही साँप का बाध कहा जाता है; उसमें 'यह' और साँप के अभेद का निषेध होता है । इसलिये जिससे अभेदेन (एक कर) ग्रहण हुआ हो उसी से अभेदेन निषेध होना ही बाध हुआ । 'घड़ा है' अनुभव 'है' से घड़े को अभिन्न समझता है–जो घड़ा वही है, जो है वही घड़ा । घड़ा फूट आदि जाने पर ज्ञान होगा 'घड़ा नहीं है'; इसमें 'घड़ा है–ऐसा नहीं' यों 'है' से एकमेक हुए घड़े का निषेध है अतः यह अनुभव घड़े का प्रत्यक्ष बाध ही है । एवं च जो अनित्य है उसका अभावानुभव ही उसका बाध हो जाने से अनित्य का मिथ्या होना निश्चित है । आगमापायी सभी कुछ मिथ्या है जिसका अधिष्ठान आत्मा ही उनकी अवधि है क्योंकि वही आगम-अपाय से रहित है, नित्य व्यापक है । अधिष्ठान होने से उससे अनित्यों का अभेद नहीं । प्रतीतिकाल में सभी

अनित्य आत्मा से ही तादात्म्यापन्न हैं, अभिन्न हुए लग रहे हैं । यों उन सभी का आत्मा में अन्वय और व्यतिरेक सुलभ हो जाता है । आने-जाने या होने-न होने, जन्म-नाश, की सीमा वही कही जा सकती है जिसकी अपेक्षा से आना-जाना समझा जा रहा है । जैसे दिल्ली की अपेक्षा 'जाना' कहा जायेगा तो जयपुर की अपेक्षा 'आना' कहा जायेगा; निरपेक्ष तो जाना-आना होगा नहीं । यही होने-न होने में समझना चाहिये : एक गाँव में जिस देवदत्त को 'मर गया' कहते हैं कदाचित् तभी अन्यत्र उसी को 'पैदा हो गया' कहते हैं ! जब ग्राहक 'घड़ा है' कहता है तभी कुम्हार उसी को 'नहीं है' कहता है । यहाँ 'मेरा है', 'मेरा नहीं है' यदि इन्हीं का विधि-निषेध प्रतीत हो तो भी प्रकृत न्याय तो यथावत् ही है । किं च कपालों की अपेक्षा जब घड़ा है तभी जिसमें उसका नाश होना है उसी मिट्टी आदि की अपेक्षा वही घड़ा नहीं है एवं जब नष्ट होने के बाद कपालों की अपेक्षा वह नहीं है तभी जिसमें विलीन हुआ उसकी अपेक्षा है । अतः सीमा-निर्धारण के बिना है-नहीं है यह व्यवहार नहीं हो सकता । सभी दृश्यों के होने-न होने की सीमा तो उनका द्रष्टा ही होगा ! बिना द्रष्टा के तो दृश्य की न सिद्धि है अतः न स्वरूप । इस तरह सद्रूप से भी एवं चिद्रूप से भी आत्मा ही अनित्यों की अवधि है । न केवल देहादि उपाधि वरन् उनमें पड़ा चिदाभास भी आगमापायी होने से आत्मा नहीं । यह समझाते हुए कहते हैं–

जिसकी केवल सन्निधि से शरीर-इंद्रिय आदि पदार्थ छोड़ना आदि व्यवहार में सक्षम हैं, वह मैं हूँ यह अवधारण करो ॥१८॥

आचार्यहृदयमर्मज्ञ आनंदगिरि स्वामी बताते हैं कि पूर्व श्लोक में संघात से आत्मा को अलग समझने के लिये अनुमान का उपयोग कहा था, वह अनुमान ही यहाँ आचार्य स्पष्ट कर रहे हैं । अनुमान इस प्रकार बनेगा 'देहेन्द्रियादयोभावाः, नात्मा, तत्सन्निधिमात्रेण हानादिव्यापृतिक्षमत्वात्, यो यत्सन्निधिनैव हानादिक्षमः स न तत्स्वरूपं, यथा देवदत्तसंनिधिनैव हानादिक्षमो घटो न देवदत्तस्वरूपम्' । यहाँ 'हानादिव्यापृतिक्षमः' का अर्थ है 'हातुमुपादातुं योग्यत्ववान्' । तात्पर्य हुआ–आत्मा की केवल संनिधि से क्योंकि देहादि ग्रहण किये और छोड़े जाते हैं इसलिये देहादि वैसे ही आत्मा नहीं हैं जैसे देवदत्त की संनिधि से छोड़ा आदि जाने वाला घड़ा देवदत्त का आत्मा नहीं होता । 'देह' से स्थूल एवं सूक्ष्म दोनों समझने चाहिये, इंद्रियपद सूक्ष्म के हिस्से को कहकर यही सूचित करता है । अथवा देह से स्थूल और 'इन्द्रियादि' से सूक्ष्म यों दोनों शरीर समझ लेने चाहिये । शरीर 'ग्रहण' करना अर्थात् उसमें तादात्म्याध्यास हो जाना; यह आत्मा की एक संनिधिविशेष ही है जैसे प्रतिबिंबन दर्पण में मुख की संनिधिविशेष ही है । इससे अन्य कुछ अपेक्षित नहीं शरीर 'ग्रहण' किया जाये इसके लिये । जब उस तादात्म्याध्यास के बिना संनिहित होता है तब आत्मा देह को 'छोड़' देता है, अतः छोड़ना भी संनिधिमात्र से है । सत्ताप्रद आत्मा से असंनिहित होकर तो देहादि अलीक ही होंगे ! अतः आत्मसंनिधि बनी ही रहती है । अथवा उत्तर शरीर में अध्यासरूप संनिधिमात्र के कारण पूर्व शरीर का त्याग होता है–यह समझना चाहिये । इस देहत्याग-प्रक्रिया को बृहदारण्यक में याज्ञवल्क्य महर्षि ने राजा जनक को अत्यंत विस्तार से उदाहरणों समेत समझाया है ।

इस श्लोक में आत्मा को अनुमान के ढंग से व्यक्त किया है । यह अनुमान भी टीका में स्पष्ट है : देहादि की प्रवृत्ति क्योंकि जडनिष्ठ प्रवृत्ति है इसलिये यह तभी संभव है जब देहादि का कोई चेतन अधिष्ठाता हो जैसे रथ आदि की प्रवृत्ति । जिस चेतन अधिष्ठाता के रहते शरीर प्रवृत्त होता है वह आत्मा है यह तात्पर्य है । अधिष्ठाता होना तादात्म्याध्यास कर मौजूद होना ही है और प्रवृत्ति से वे सब क्रिया व ज्ञान समझने चाहिये जो रहते शरीर को सात्मक समझा जाता है । देहादि से एकमेक हुआ आत्मा ही चिदाभास है, वह भी आगमापायी है–क्योंकि उसका आगम ही आत्मा की संनिधि कही जाती है और उसके अपाय से ही मृत्यु का व्यवहार होता है–अतः अनात्मा ही है यह द्योतित है । अध्यासरूप संनिधि से अतिरिक्त आत्मा का शरीरप्रवेश नहीं यह भाष्यकार ने बहुत ऊहापोह से अनेक जगह निर्धारित किया है । अन्योन्याध्यास के आधार पर 'प्रवेश किया हुआ आत्मा' एक अनिर्वचनीय तत्त्व है जैसे घट में प्रविष्ट आकाश या दर्पण में प्रविष्ट सूर्य । वह तत्त्व लगता आत्मा-सा है पर है आत्मा नहीं । जैसे घटाकाश को सर्वथा गैर-आकाश नहीं कह सकते ऐसे चिदाभास को सर्वथा अचित् कहना बनता नहीं पर जिस तरह घटाकाश को आकाश भी नहीं कह सकते हैं उसी तरह चिदाभास चित् भी नहीं कहला सकता। अत एव उसकी अनिर्वचनीय स्थिति है जो विचार की अग्नि से समाप्त ही हो जाती है । अविचारपर्यन्त ही चिदाभास है, उसका विचार करें तो वह कोई तत्त्व नहीं जैसे दाल-चावल से अन्य खिचड़ी कोई तत्त्व नहीं । श्लोक में 'यस्य' से आत्मा को कहा है और 'सन्निधि' से चिदाभास को यह याद रखना चाहिये ।

साधारणतः भी जन्म-मृत्यु के आधार पर ही आत्मवादी लोक में अपना पक्ष मज़बूत करते हैं कि यदि आत्मा कुछ नहीं तो जन्म-मरण कैसे होते हैं ? कोई कैसे मर जाता है ? जिस दोष से मरे तुरंत उपचार या प्रत्यारोपण आदि से वह दोष मिटाने पर दुबारा पैदा क्यों नहीं हो जाता ? इत्यादि । यद्यपि शास्त्रीय दृष्टि से जन्म-मृत्यु से जो सिद्ध हो सकता है वह सूक्ष्म शरीर या पुर्यष्टक ही है तथापि सामान्य जन उतना ही आत्मा समझते हैं अतः वैसा कथन आदि प्रचलित है । प्रकृत में आचार्य कह रहे हैं कि स्थूल के हानादि भले ही सूक्ष्म की संनिधि से हों पर आखिर सूक्ष्म भी तो भौतिक आदि होने से जड है, उसके हानादि किसकी संनिधि से होते हैं ? यह विचारना चाहिये । तादात्म्यवश हमें लगता है कि सूक्ष्म के कारण 'हमारी' मौजूदगी है, वह चला जाये तो 'हम' भी रह नहीं सकते । वस्तुस्थिति है कि सूक्ष्म भी आत्मा से सत्ता पाये हुए है, भले ही इसका अभी हमें अहसास नहीं है ।

मनुष्य जीवन में अत्यंत संघर्ष कर, यत्नपूर्वक कष्ट से भी जिस अभिलषित वस्तु को प्राप्त करता है वह भी यदि उस व्यक्ति को अप्रिय हो जाये तो वह उसे छोड़ देता है ! जिस निजस्वरूप की आनंदरूप सम्यक् निधि के बल पर वह कुछ भी छोड़ने को तैयार रहता है, सब छोड़कर जिस खजाने को सुरक्षित रखना चाहता है, वह 'मैं' हूँ यह समझने की कोशिश करनी चाहिये ।

पंचदशी में समझाया है कि अन्वय-व्यतिरेक से पाँचों कोशों का आत्मा से विवेक करने पर आत्मा उन कोशों के घेरे से छूट कर ब्रह्मरूप से व्यवस्थित होता है । सपने में स्थूल देह का भान न होने पर भी आत्मा का भान होता है अतः स्थूल का व्यतिरेक और आत्मा का अन्वय है । गहरी नींद में सूक्ष्म शरीर का भी भान नहीं होता जब कि आत्मभान बना रहता है अतः सूक्ष्म का व्यतिरेक लेकिन आत्मा का वहाँ भी अन्वय है । समाधि में अज्ञान, कारणशरीर, का भी भान नहीं रहता, आत्मभान रहता है अतः अज्ञान का व्यतिरेक और आत्मा का अन्वय है । इस प्रकार तीनों शरीर अनात्मा और प्रत्यक्चेतन आत्मा समझना संभव है । यद्यपि यह विचार मानकर चलता है कि शरीरों से पृथक् आत्मा हम समझ रहे हैं जिसका अन्वय पहचान सकते हैं तथापि भाव है कि स्फुरणरूप शास्त्रसिद्ध आत्मा के अनुभव पर ध्यान दें और अपने विभिन्न अवस्थाओं के अनुभवों का विश्लेषण करें तो यह बोध हो सकता है कि स्थूलादि देहों से मैं अलग हूँ ।

देहादिके व्यापारों के प्रयोजक रूप से आत्मा को बताना इसलिये नहीं कि वह इनके सापेक्ष समझ आये वरन् इसलिये है कि वह इनमें स्वतन्त्र समझ आये, कम-से-कम इतना प्रतीत हो कि वह देहादि नहीं है ।

—१८—

आत्मा निर्विकारः

अनापन्नविकारः सन्नयस्कान्तवदेव यः ।

बुद्ध्यादींश्चालयेत् प्रत्यक् सोऽहमित्यवधारय ॥१९॥

*ननु स्वगतविकारवतो रथादिषु प्रवर्तकत्वप्रतिपत्तेः आत्मनोऽपि देहादिप्रवर्तकत्वेन सविक्रियत्वं स्याद् ? इत्याशंक्य; प्रवर्तकत्वं विक्रियावत्त्वव्याप्तं न भवति, अयस्कान्ते व्यभिचाराद् इत्याह—***अनापन्नेति** *। ॥१९॥*

नन्वविकृतचेतनसन्निधिमात्रेण बुद्ध्यादिप्रवृत्त्यनुपपत्तेः अचेतनबुद्ध्यादिप्रवृत्त्यनुकूलो विकारो वक्तव्यः । तथा सति 'अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योयमुच्यते' (गी. २.२५) इति स्मृतिविरोधः स्याद् ? इत्याशंक्याह—अनापन्नेति **। प्रवृत्त्यनुकूलविकारान्तरशून्योऽपि यथाऽयस्कान्तोपलः स्वसन्निधिवशाल्लोहव्यापारहेतुः तथा प्रत्यगात्माऽपि संनिधिवशाद् अव्यापार एव सन् बुद्ध्यादिचलनहेतुरित्यर्थः ॥१९॥**

मोक्षवादियों को लगभग सर्वाधिक कठिन जिस प्रसंग का स्पष्टीकरण देना पड़ता है वह है बंधन सत्य है या नहीं ? यदि सत्य है तब तो कर्ममार्ग या समुच्चयमार्ग को मान्यता मिलेगी और सत्य नहीं है तो ज्ञानमार्ग को । न्याय-वैशेषिक-सांख्य-योग यद्यपि ज्ञान को मोक्षोपाय में महत्त्व देते हैं तथापि बंधन सत्य मानने से इन्हें कर्म को उपायरूप से रखना पड़ता है, चाहे योगाभ्यास को ही रखें; केवल ज्ञान से निवर्त्य हो तो सत्य नहीं हो सकता । वैष्णव-शैव आदि योग का स्थान भक्ति और उससे प्राप्त ईश्वरानुग्रह को देते हैं, केवल ज्ञान से वे भी मोक्ष नहीं मानते । जैनों ने तपस्या को मान्यता दी । बौद्धों को क्योंकि बंधन सत्य नहीं मानना इसलिये वे ज्ञान के हिमायती

होते हैं लेकिन माध्यमिक अर्थात् शून्यवादी ही सही मायने में केवल ज्ञान को पर्याप्त मानेगा, अन्य मार्ग कुछ-न-कुछ सहायता चाहते हैं, चाहे शून्यवाद को परमसिद्धान्त मानने से मोक्षप्रसंग में वे उसके अनुसर्ता बनने में अधिक संकोच न भी करें । औपनिषद दर्शन स्पष्ट रूप से बंधन मिथ्या स्वीकारता है अतः केवल ज्ञान से मोक्ष की घोषणा करता है बल्कि यहाँ तक चुनौती देता है कि यदि बंध मिथ्या नहीं है, सत्य है, तो कैवल्य मोक्ष–बंधन की आत्यंतिक निवृत्ति व परम आनंद की प्राप्ति–असंभव है ! आस्तिकों में भी कैवल्य से अन्य जो मोक्ष स्वीकारे हैं–न्याय आदि दर्शन जिन मोक्षों को मानते हैं–वे अयुक्त और अवांछनीय ही नहीं अवैदिक भी हैं यह उपनिषत् मानने वालों का निश्चय है । वैष्णवादि के मोक्ष तो भोगभूमियाँ होने से बंधन ही हैं ! कुछ शैव अस्थायी मोक्ष की कल्पना करते हैं, मोक्ष होगा तो सही पर, शिव की स्वतंत्र शक्ति से पुनः संसरण हो जायेगा ! यह तो प्रकृतिलयावस्था का ही नामान्तरण है यह स्पष्ट है अतः इस पक्ष को मान्य मोक्ष कैवल्य के नज़दीक भी नहीं । कापिल यद्यपि बंध को सत्य कहने में डरते हैं तथापि मिथ्या उनके यहाँ कुछ भी नहीं तो बंध कैसे होगा ! प्रकृति को वे परमार्थ सत्य स्वीकारते हैं अतः उनको संमत मोक्ष एक असंभवता है । जो दार्शनिक जीव-ईश्वर में भेद-अभेद दोनों सत्य मानते हैं उनकी भी सांख्यतुल्य स्थिति है । कुछ लोग ऐसा अद्वैत मानते हैं जिसमें ब्रह्म ही संसार बना है अतः संसार व ब्रह्म की समान सत्ता है ! एक ओर इसमें ब्रह्म की वास्तविक दुःखादिरूपता स्फुट दोष है और मोक्ष का प्रसंग तो अलीक है ही । वेदान्तकल्पलतिका, संक्षेपशारीरकसारसंग्रहटीका, सर्वदर्शनसंग्रह आदि से तत्तद् वादियों को संमत मोक्षों की जानकारी मिल जाती है । वेदान्त क्योंकि मोक्ष को सत्य स्वीकारता है इसलिये उसके लिये बंधन मिथ्या है । इससे छूटना कोई विकासक्रम नहीं है, धीरे-धीरे बंधन खुलता जायेगा ऐसा नहीं है वरन् तत्त्वज्ञान-समकाल ही बंधनिवृत्ति है, भले ही तत्त्वज्ञान मिलने में क्रम हो । पूर्व श्लोक में आत्मसंनिधि को जडप्रवर्तक कहने से शंका उठती है कि रथादि को प्रवृत्त करने वाला स्वयं में कुछ परिवर्तन लाता है तभी उन्हें प्रवृत्त करने में सक्षम होता है अतः यदि प्रवर्तक है तो आत्मा भी विकारी होना चाहिये । अभिप्राय निकलता है कि आत्मा वस्तुतः बद्ध है, क्योंकि परिणत होना ही बंधन है । आचार्य दृष्टान्त से शंका मिटाते हुए सनातन अविकारी मुक्त-स्वरूप का प्रकाशन करते हैं–

यह निश्चय करो कि मैं वह आत्मा हूँ जो स्वयं बिना किसी परिवर्तन वाला हुए बुद्धि आदि को वैसे ही संचालित करता है जैसे लोहकणों को चुम्बक ॥१९॥

चुंबक व लोहा अपने-अपने स्वरूप से ही ऐसे हैं कि चुंबक की सन्निधि में लोहा सक्रिय होता है । इसके लिये चुंबक कोई परिवर्तन स्वयं में नहीं लाता । अन्य में क्रिया के लिये हेतु बनने पर भी परिवर्तन वाला न होना–इतने अंश में दृष्टांत है । 'संनिधि' पूर्व में बताया तादात्म्याध्यास ही है । यद्यपि साक्षी ही रहे, चिदाभासतादात्म्यापन्न न हो, तो भी आत्मा साक्ष्य का संचालन कर सकता है जैसे जीवन्मुक्त के शरीर का करता है तथापि आभासतादात्म्य सर्वानुभूत स्थिति है अतः जरूरी न हो फिर भी उपलब्ध होने से मान्य है । समझदार राजा जानता है कि उसके रहने

से राज्य चलता है, सारी गतिविधियों की जानकारी रखना उसका कार्य है, यदि वह तत्तत् कर्म स्वयं करने लगेगा तो बाकी सब उपेक्षित होने से व्यवस्था चौपट होगी, लेकिन मूर्ख राजा इस अध्यक्षता को न समझते हुए खुद राज्य संचालन के कार्य में संलग्न हो जाता है जिससे स्वयं भी दुःखी होता है, व्यवस्था भी बिगाड़ता है । इसी तरह भले ही साक्षी रहने में लाभ है पर हम चिदाभास बने बैठे हैं ! साहस्री में (१७.८०) इसे यों समझाया है

'राजवत् साक्षिमात्रत्वात् सान्निध्याद् भ्रामको यथा ।
भ्रामयञ्जगदात्माऽहं निष्क्रियोऽकारकोऽद्वयः ॥'

साक्षितारूप सांनिध्य ही जगत्-चक्र-प्रवर्तन के लिये पर्याप्त है । भ्रामक चुंबक को कहते हैं । या जैसे ठग लोगों को भ्रम में डालकर उन्हें इधर-उधर नचाता है, स्वयं ठाट से बैठा रहता है, ऐसे आत्मा देहादि को चलाता है ! गीता में (१८.६१) 'भ्रामयन् सर्वभूतानि' कहा ही है । चला तो देहादि को साक्षिरूप ईश्वर ही रहा है पर स्वयं को जीव मानते हुए हम इस भ्रम में हैं कि हम संचालक हैं ! यह भ्रम छोड़कर जानना चाहिये कि मैं इन देहादि का साक्षी ही हूँ, इनसे एकमेक नहीं हूँ । बादल चलने से जैसे चंद्र चलता लगता है, चलता नहीं, ऐसे देहादि के परिवर्तनों से भले ही लगे मैं परिवर्तित हो रहा हूँ पर कोशिशपूर्वक समझे रहना चाहिये कि मैं नहीं परिवर्तित हो रहा । सूर्य से रोशनी पाकर जैसे लोग अपने कार्यों पर लग जाते हैं ऐसे मैं हूँ तो देहादि अपने कार्य कर रहे हैं, इतना ही मेरा योगदान है कि मैं हूँ, इससे अधिक नहीं । आत्मबोध-प्रकरण में अन्यत्र भी यह तथ्य स्पष्टतर किया गया है ।

बंधन मिथ्या है अतएव इकलौते ज्ञान से मोक्ष है । प्रतीतिदशा में भी आत्मा बद्ध नहीं है, 'मैं बद्ध हूँ' यह भ्रम ही है । आधुनिक तरह के ताले खोलना न आता हो तो कई बार खुले ताले को भी बंद समझकर व्यक्ति कमरे में ही बैठा रह जाता है ! है वह तब भी आजाद, जा सकता है बाहर, लेकिन पता न होने से खुद को कैद समझता है । इसी तरह हम भले ही मुक्त हैं लेकिन पता न होने से बद्ध बने हैं यह तात्पर्य है । इसलिये देहसंचालनार्थ आत्मा को किसी परिवर्तन वाला नहीं होना पड़ता । प्रश्न हो कि फिर मृत्यु कैसे होती है ? तो उत्तर है कि स्थूलशरीर का संचालन तभी तक है जब तक इसमें सूक्ष्मशरीर है, उसके जाते ही शरीर सचेष्ट नहीं रह जाता । सजल घटाकाश में ही सूर्यप्रतिबिंब रहता है, जल निकाल दें तो घट-आकाश रहने पर भी सूर्य की रोशनी ही रहेगी, प्रतिबिंब नहीं; ऐसे ही जलस्थानीय सूक्ष्मशरीर रहते स्थूल में चेष्टा होती है, उसके चले जाने पर अस्ति-भाति आदि व्यवहार तो होता है (कुत्ते, सियार, गीध आदि को शव प्रिय भी लगता है) पर चेष्टा नहीं होती । अतः आत्मा की साक्षिता अर्थात् सूक्ष्मशरीर के प्रति साक्षिता इसके लिये पर्याप्त हेतु है कि सूक्ष्मसंबद्ध स्थूल शरीर सचेष्ट हो । हर हालत में आत्मा निर्विकार ही रहता है यह निश्चित है । बल्कि देहादि में प्रतीत होते विकार ही सिद्ध करते हैं कि मैं निर्विकार हूँ क्योंकि बिना किसी निर्विकार के सापेक्ष हुए वे विकार ही नहीं बन सकते—यह विचार करना चाहिये ।

अनुवृत्तव्यावृत्तान्वयव्यतिरेकः

अजडात्मवदाभान्ति यत्सान्निध्याज्जडा अपि ।

देहेन्द्रियमनःप्राणाः सोहमित्यवधारय ॥२०॥

*अहम्प्रत्ययालम्बनमात्मेति अविवादात्, देहादीनां च अहंप्रत्ययालम्बनत्वेन चेतनत्वावगमात्, न तद्व्यतिरिक्तात्मसिद्धिः ? इति आशङ्क्याह–वह्न्याभासायःपिण्डे दहतिप्रत्ययवद् आत्मव्याप्तेषु देहादिषु अहं-प्रत्ययप्रवृत्तिसम्भवाद् अतिरिक्तात्मसिद्धिः अविरुद्धा । इत्याह–**अजडात्मेति** ॥२०॥*

ननु शकटादेरचेतनत्वं, चेतनस्य च तद्भिन्नत्वं दृष्टम् । कुतो देहादेरचेतनत्वं, चैतन्यस्य तद्भिन्नत्वं च दृष्टम् ? इत्याशंक्याह – सुषुप्तिमूर्च्छामरणावसरे देहादौ चैतन्यस्य व्यभिचारित्वाद् दृश्यत्वेन अचेतनत्वाऽनुमानाच्च अचेतनत्वं दृष्टमेव, तथाऽपि देहादयः चेतनस्य मिथ्या तादात्म्यापत्त्या चेतनवद् आभान्ति, अतस्तयोः चेतना-ऽचेतनत्वं दृष्टमिति भावः ॥२०॥

वेदान्तों की मर्यादा है कि व्यावृत्त होने वालों से तादात्म्यापन्न जो अनुवृत्त होता है उसी में वे व्यावृत्त भाव कल्पित होते हैं जैसे 'यह' रूप से अनुवृत्त रस्सी में माला, साँप आदि कल्पित होते हैं । देह-इंद्रिय-मन-प्राण सभी से तादात्म्येन मैं हूँ अतः वे मुझ में ही कल्पित हैं, देहादि मैं नहीं वरन् उनका अधिष्ठान हूँ । यह समझाते हैं–

जड शरीर-इंद्रियाँ-मन-प्राण जिसकी संनिधि से चेतन आत्मा जैसे प्रतीत हो रहे हैं वह मैं हूँ यह अवधारण करो ॥२०॥

तपा लोहा गर्म लगता है या पानी गर्म लगता है । विवेकदृष्टि से वह भ्रम है ! गर्म तो आग ही हो सकती है । लोहकणों या जलकणों के साथ सट कर तेजस्तत्त्व के कण मौजूद होने पर क्योंकि उन्हें हम लोहे या जल से अलग कर नहीं जानते इसलिये जब वे तेजःकण हमें जलाते हैं, गर्म लगते हैं, तब हम समझते हैं लोहे या पानी ने जलाया । अथवा फल चीनी की चासनी में भिगो दें तो भ्रम हो जाता है कि फल मीठा है या खोट मिला सोना निखालिस प्रतीत होता है आदि जो समझ आये वह दृष्टांत ले सकते हैं । देहादि भी इसी तरह 'मैं' बन गये हैं : उनके साथ 'मैं' एकमेक हो गया, उसे इनसे पृथक् कर जान नहीं रहे अतः वही वास्तव में 'मैं' है लेकिन लग रहा है मानो देहादि 'मैं' हों ! 'मैं'-रूप से स्फुरने वाला ही आत्मा होता है, देहादि मैं लग ही रहे हैं अतः ये ही आत्मा माने जा रहे हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि ये ही चेतन हैं । सामान्य लोगों का क्या कहना, बड़े-बड़े वादी भी इस बारे में अत्यंत भ्रम में पड़े हैं । श्रीदक्षिणामूर्तिस्तोत्र में (श्लो. ५) आचार्यों ने माया से कल्पित इस महाव्यामोह का वर्णन किया ही है । जिसका जिसमें अभिमान हो वह उससे अलग ही देखा गया है जैसे घर आदि लेकिन हम देहादि में अभिमान रखकर भी इस तथ्य का सामना नहीं करना चाहते । देहादि की आत्मता

इसी से है कि आत्मा इनसे तादात्म्यापन्न है, एकमेक समझा जा रहा है । इनकी सचेष्टता तो उस तादात्म्य के बिना हो जाती है जैसे मुक्त के देहादि की यह कह चुके हैं, पर इन्हें जो आत्मा अर्थात् 'मैं' समझा जा रहा है वह तादात्म्यवश ही है ।

मैं मोटा, मैं काणा, मैं लंगड़ा, मैं नासमझ, मैं कमज़ोर आदि तरह से शरीरादि 'मैं' से तादात्म्य वाले होकर भी व्यावृत्त हैं जबकि 'मैं' सबमें अनुवृत्त है । बदलने वाले को व्यावृत्त और स्थायी रहने वाले को अनुवृत्त कहते हैं । अनुवृत्त में व्यावृत्त कल्पित होने से सचाई है कि 'मैं' अधिष्ठान है जिस पर देह-इंद्रिय-मन-प्राण आरोपित हैं और जैसे अधिष्ठान रज्जु का इदमंश–'सामने है' ऐसा लगना–सर्पादि में भासता है ऐसे आत्मता–'मैं' ऐसा लगना–देहादि में भासती है अर्थात् वह आधारांश है क्योंकि उसे ही आधार कहते हैं जो अधिष्ठान का अंश भ्रम में भी भासे । इस विचार से निश्चय करना चाहिये कि व्यावृत्त देहादि नहीं वरन् इनका अधिष्ठान मैं हूँ । 'यत्सान्निध्यात्' में सांनिध्य अध्यासरूप है । जैसे जिस पर अध्यस्त होने के कारण सर्पादि पुरोवर्ती (सामने) लगते हैं वह रस्सी है वैसे जिस पर अध्यस्त होने से देहादि मैं लगते हैं वह आत्मा है–यह श्लोकार्थ है । असर्पभूत रस्सी में ही सर्प का अध्यास होने की तरह अजड आत्मा में ही जड देहादि का अध्यास है । इस प्रकार देहादि स्वरूपतः संसर्गतः दोनों तरह अध्यस्त हैं जबकि आत्मा केवल संसर्गतः अध्यस्त है यह स्पष्ट करने के लिये ही आचार्य ने संनिधिरूप संसर्गविशेष का उल्लेख किया । अतः न देहादि ही आत्मा हैं और न ऐसा कि इनसे अन्य कोई आत्मा है ही नहीं ! वरन् देहादि मुझ आत्मा पर कल्पित हैं ।

–२०–

नित्यज्ञानमात्मा

अगमद्‌ मे मनोऽन्यत्र साम्प्रतं च स्थिरी कृतम् ।
एवं यो वेत्ति धीवृत्तिं सोऽहमित्यवधारय ॥२१॥

आत्मनो बुद्धितद्व्यतिरेके हेत्वन्तरमाह–अगमद्‌ म इति । ॥२१॥

स्वप्ने देहेन्द्रियादेः द्रष्टृत्वाऽभावाच्च दृश्यत्वेन अचेतनत्वं युक्तम्, कुतो मनसोऽचेतनत्वम् ? इति । आह– अगमदिति । **एतावन्तं कालं** मे मनोऽन्यत्र **गङ्गादौ गतं, तत्स्मरणं त्यक्तम्; इदानीं** स्थिरी कृतं **संनिहितवस्तु विषयी करोति–इति गमनाऽऽगमनादिधर्मिणो मनसो दृष्टत्वस्य अनुभवसिद्धत्वाद्‌ मनसोऽचेतनत्वं सिद्धमित्यर्थः ॥२१॥**

'मैं' अनुवृत्त है क्योंकि वह सनातन ज्ञानरूप है । जन्य ज्ञान मनोवृत्तिरूप होते हैं । वे ही ज्ञान हैं, ज्ञान जन्य ही होता है, ऐसा प्रायः सभी मानते हैं । तार्किक ईश्वर में भले ही नित्य ज्ञान की निर्मूल कल्पना करते हैं लेकिन जीवों में नित्य ज्ञान नहीं मानते । आत्मा को जब तक ज्ञानरूप न माना जाये तब तक अनित्य से अतिरिक्त ज्ञान स्वीकरना कठिन ही है । आत्मा नित्य अविलुप्त दृक् है यह अनुभवानुसारी तथ्य है यह स्पष्ट करते हैं–

'मेरा मन अन्यत्र चला गया था, अब उसे स्थिर कर लिया है'–यों जो मन के व्यापार को जानता है वह मैं हूँ यह अवधारण करो ॥२१॥

उपस्थित पर एकाग्र न हो बल्कि अन्य किसी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष विषय पर एकाग्र हो जाये तो उपस्थित का मन ग्रहण ही नहीं कर पाता यह सभी को अनुभूत है । फिर विषयांतर छोड़कर उपस्थित को मन जान भी लेता है । ऐसे स्थल पर मन के विभिन्न व्यापार स्फुट हो जाते हैं इसलिये इसे कहा, अभिप्राय तो मन के सभी व्यापारों से, सभी वृत्तियों से है । वृत्तियाँ बदलती हैं तो अवश्य कोई ज्ञान है जो बीती और मौजूद दोनों वृत्तियों को जान रहा है अन्यथा यह पता चल ही नहीं सकता कि पहले कोई और ज्ञान था, घटज्ञान था, और अब दूसरा है, पटज्ञान है । मन को सिद्ध ही जन्य अनुभवों के आधार पर करते हैं, चाहे अन्यथानुपपत्ति अर्थात् युक्ति से करें या वही उपपत्ति शास्त्र सुना दे । इसलिये मन स्वयं ही नित्य विज्ञानस्वरूप आत्मा की अपेक्षा से सिद्ध है तो उसकी वृत्तियों का कहना क्या ! बदलती वृत्तियों वाला होने से एवं 'मेरा' समझा जाने से मन तो अनात्मा निश्चित होता ही है, वह आत्मा को अविलुप्त दृग्रूप भी स्थापित कर देता है । उपनिषत् में इसके बारे में समझाया है कि 'विज्ञाता की विज्ञाति का विपरिलोप नहीं होता क्योंकि वह अविनाशी है' । उस प्रसंग में वार्तिक हैं

'आगमापायिनो द्रष्टुर्दृष्टिस्तत्साक्षिणी तु या ।
द्रष्ट्रादिलोपसाक्षित्वात् तस्या लोपो न युज्यते ॥१४२६॥
द्रष्टुः प्रतीचि यत्साक्षात् प्रत्यग्दृष्ट्यावसीयते ।
दृष्ट्यादिजन्मनाशादिसाक्ष्यभेदात्मकं स्वतः ॥
तदेतदिति मानेन तत्त्वमस्यादिना तथा ।
ब्रह्मेति बोध्यते साक्षात् तत्तमोध्वस्तिवर्त्मना ॥' १७३२-३॥

इस प्रकार अनित्य मनोज्ञानों का मैं नित्य ज्ञान ही प्रकाशक हूँ यह अनुभव पाने लायक है, मनसे खुद को एक समझकर अनित्य ज्ञानों वाला ही स्वयं को मानते रहना व्यर्थ है, दुःखप्रद है । जिसे हम 'मैं' समझते हैं उसका न रहना हमें कष्ट देता है । मनसे एक हो हम उसे 'मैं' समझते हैं तो उसकी वृत्ति से भी हम अभिन्न होते ही हैं जैसे जो स्वर्ण से एक है वह उसके गहने से एक है ही । वृत्ति नाशवान् है, अवश्य नष्ट होती है, जिससे हमें पीडा होनी ही है । सदृश वृत्त्यंतर आ जाये तो संतोष रह सकता है लेकिन प्रायः मनोविकार, तनाव, ग्रंथियाँ आदि का स्वरूप यही होता है कि परस्पर विरुद्ध वृत्तियाँ बनती रहती हैं, सब से हमें तादात्म्य है अतः सभी बने रहना चाहते हैं : सच बोल देना चाहिये–यह वृत्ति बनती है; फायदे का ख्याल रखना चाहिये–यह वृत्ति बनती है; हम दोनों से एकमेक हैं तो दोनों करना चाहते हैं जिससे द्वंद्व होता है तो दुःखी हम होते हैं ! अतः मनस्तादात्म्य छोड़कर इसके साक्षी को ही मैं जानना चाहिये ।

अवस्थातद्वतोर्भेदः

स्वप्नजागरिते सुप्तिं भावाभावौ धियां तथा ।
यो वेत्त्यविक्रियः साक्षात् सोऽहमित्यवधारय ॥२२॥

प्रतिज्ञा हेतुः उदाहरणम् उपनयो निगमनम्—इति पञ्चावयवम् अनुमानम् । देहः पक्षः स्वव्यतिरिक्तदृश्यः साध्यं, दृश्यत्वाद् हेतुः यथा घटः दृष्टान्तः ।

*बुद्धितद्वृत्तीनां भावाऽभावयोः वेदितृत्वम् अवस्थात्रयविशिष्टस्य विक्रियावतः स्वीकर्तव्यं, तथाविधे लोके वेदितृत्वदर्शनाद् ? इत्याशंक्याह—**स्वप्नेति** । यथा **धियां** बुद्धिकृतवृत्तीनां **भावाभावौ अविक्रियः** सन् **वेत्ति तथा** अवस्थाः, अवस्थात्रयम्, अपि कूटस्थः सन्नात्मा **साक्षात्** प्रतिपद्यते । तथा चाऽवस्थात्रयस्य विक्रियाणां च वेद्यकोटिविनिवेशात् न वेदितुरात्मनः अवस्थावत्त्वं विक्रियावत्त्वं चेत्यर्थः ॥२२॥*

मनसो धीवृत्तित्वादेव दृश्यत्वे सिद्धे सत्यपि वृत्तिमत्त्या धियो दृश्यत्वं नोपपद्यत इत्यत आह—स्वप्न इति । **बुद्धिः स्वप्नजागरिते वेत्ति, सुषुप्तिं तु न वेत्ति, तत्र बुद्धेरभावात् । आत्मा तु त्रयं च वेत्ति । तथा स्वप्नजागरितयोः** धियां भावं, सुषुप्तौ अभावं च वेत्ति । अतो बुद्धिदृक्सद्भावाद् बुद्धेः दृश्यत्वं सिद्धमित्यर्थः । धियाम् इति **बहुवचनेन बहुत्वात्तु बुद्धीनां साक्षिकत्वविकारित्वादिकमुच्यते । न च आत्मनः सुषुप्तावभाव एव, तदा स्वसत्तापरिज्ञानाभावाद् इत्याशंक्य; संकल्पविचिकित्साद्यनेकविकारित्वाद् अनित्याया बुद्धेः तत्राऽभावो युक्तः, तत्साक्षिणो निर्विकारत्वेन नित्यत्वादात्मनः सषुप्त्यादावपि सत्त्वं सिद्धमित्यभिप्रेत्याह**—अविक्रियेति ।

'अविक्रिय'—पदेनैव सुषुप्तावात्मनः सत्त्वप्रतिपादनात् साक्षात्-पदं **किमर्थम् ? इति नाशंकनीयम् ।** (i) **एतेनाविक्रियपदेन आत्मनोऽवस्थात्रये सत्त्वे प्रतिपादितेऽपि सुषुप्तौ स्वसत्तापरिज्ञानाऽभावप्रयुक्ताऽसत्त्वम् अनिराकृतमिति कृत्वा, तन्निवारणाय** साक्षात्-पदम् । **साक्षात् प्रकाशते, स्वयमेव प्रकाशत इत्यर्थः । अयमाशयः—सुषुप्तौ धीवृत्तेरभावेऽपि आत्मनः स्वयंप्रकाशकत्वेन वृत्त्यन्तरनिरपेक्षतया तस्य प्रकाशसद्भावात् सुषुप्तौ स्वसत्ताभावः सिद्ध इति ।** (ii) **अथवा—तत्र धीवृत्तेरभावेऽपि 'सुखमहमस्वाप्सं, न किंचिदवेदिषम्' इत्युत्थितस्य सुषुप्तिगतसुखादिस्मरणदर्शनाद् अननुभूते स्मरणाऽभावात्; कैवल्योपनिषदि (१.१३) 'सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोऽभिभूतः सुखरूपमेति' इति, वेदान्तसारे 'एतावीश्वरप्राज्ञौ चैतन्यदीप्ताभिः अतिसूक्ष्माभिः अज्ञानवृत्तिभिः आनन्दमनुभवतः' इति च, विवरणम् (पृ. १७१)—सुषुप्तावज्ञानं तु स्वसत्ताकारेण सुखाकारेण साक्षात्कारेण च परिणमते—इति च स्वानुभवाऽस्तित्वप्रतिपादनात्; सुषुप्तावज्ञानं सुख-साक्षात्कारेण परिणताऽज्ञानवृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्यविषयत्वेन आत्मनः स्वसत्तासाक्षात्कारस्य विद्यमानत्वात् तत्र स्वसत्तापरिज्ञानाऽभावोऽसिद्ध इति वा साक्षात्कारपदार्थः ।** (iii) **अथवा साक्षादित्यस्य अयमर्थः—आत्मा त्रयं च वेत्ति इत्युक्तम् । इदमनुपपन्नं, जाग्रत्स्वप्नयोः बाह्याभ्यन्तरकरणवेद्यत्वाद् ? इत्याशंक्य आह**—साक्षाद् इति । **इन्द्रियाणां जडत्वेन स्वतः प्रकाशकत्वाऽसम्भवाद् आत्मैव बाह्येन्द्रियान्तरिन्द्रियसापेक्षः सञ्जाग्रदवस्थां वेत्ति । स्वप्नम् अन्तःकरणवृत्तिद्वारा वेत्ति । सुषुप्तिम् अन्यनिरपेक्षतया** साक्षाद् वेत्ति । **तस्माद् आत्मैव अवस्थात्रयेऽपि साक्षीति ॥२२॥**

[आनंदगिरि टीका में यहाँ पहला अनुच्छेद संभवतः पंद्रहवें श्लोक की टीका पर किसी अध्येता का टिप्पण है ।]

आत्मस्वरूप के अनुसंधान में पाँच कोशों के विचार की तरह तीन अवस्थाओं का विचार अनिवार्य है । हमारी जैसे जाग्रदवस्था वैसे ही स्वप्न-सुषुप्ति भी हैं । प्रायः व्यवहार एवं दर्शन जाग्रदनुभवों की व्यवस्था पर ही केंद्रित रह जाते हैं, अन्य अवस्थाओं का जिक्र ही नहीं करते । किंतु संपूर्ण जीवन की व्यवस्था बनाये बिना जीवनोपयोगी दर्शन हो नहीं सकता । कुछ मनोव्यापार के परीक्षक स्वप्न का विचार करते हैं तो भी वे सुषुप्ति के अनुभव का विश्लेषण नहीं कर पाते । क्योंकि स्वप्न केवल सोते समय नहीं आता वरन् हमारे सारे व्यवहार में स्वप्न का कुछ-न-कुछ अंश अनुविद्ध रहता है इसलिये स्वप्न को नज़रंदाज़ करना अनुचित है । सारे ही अन्यथाग्रहण तो स्वप्न हैं ही, जीवसृष्टिरूपसे पंचदशी में जो प्रपंच बताया वह भी स्वप्नपक्षपाती ही है । वस्तुस्वरूप की बजाय संस्कारों से होने वाले अनुभव सपने में ही गिनने योग्य हैं । इसी प्रकार शांत आदि अवस्थाओं में निर्विषय सुख का स्फुरण सुषुप्ति की कोटि में है । उपस्थित दृश्यों से बेखबर होकर बैठा व्यक्ति जब मनसे कुछ सोच भी नहीं रहा और आनंदपूर्वक है तब सुषुप्त्यवस्था माननी चाहिये। इस प्रकार ये अवस्थायें लगातार रहती हैं, प्रधानता के अभिप्राय से इन्हें क्रमशः होने वाला कहा-समझा जाता है । वेदान्तदर्शन तीनों अवस्थाओं के अनुभवों के सामंजस्य का ख्याल रखता है । स्थूल पदार्थों का–शरीरादि से घटपर्यन्त का–प्रतिबंध सर्वानुभूत है । सभी भूत-भौतिकों को इसी कोटि का जानना चाहिये; इंद्रियादि भौतिक हैं, उनके स्वरूप पर हमारा स्वातंत्र्य नहीं अतः वे भी स्थूल पक्षपाती हैं । संस्कार सूक्ष्म समझने चाहिये, उनका भी हम पर प्रतिबंध है । संस्कारों में ही पुण्य-पाप संगृहीत हो जाते हैं, उनका भी हम पर प्रतिबंध है । संस्कारों में हम स्वतंत्र हैं, धर्मादि करने में भी । क्योंकि संस्कार रखने के लिये जो मन चाहिये उस पर हमारा स्वातंत्र्य नहीं इसलिये जरूर संस्कारक्षेत्र में हमारा स्वातंत्र्य असीम नहीं लेकिन संस्कारों के चुनाव और गहराई में हम स्वतंत्र ही हैं, ऐसे मन आदि में नहीं । अतः इंद्रिय-प्राण-मन को स्थूलकोटि का और काम-कर्म-संस्कारों को सूक्ष्म मानना उचित है । अविद्या को मिटाने में हम स्वतन्त्र हैं इससे वह सूक्ष्म भी है लेकिन उसे पाने-बटोरने में हम परतंत्र हैं अतः वह स्थूल भी है । अनिर्वचनीयस्वभाव होने के कारण वह दोनों ही स्वरूपों से प्रतीत हो जाती है । इस प्रकार तीन का–स्थूल, सूक्ष्म और अविद्या का–प्रतिबंध हम सभी को अनुभूत है, इसी में सारे प्रतिबंधों का अंतर्भाव है । सभी को तीन से कम में समेटना मुश्किल है । दार्शनिक दो में समेटते हैं लेकिन साधारण अधिकारी के लिये वह बेमानी हो जाता है । समेटने का प्रयोजन है कि बंधक की पहचान होने पर छूटने में आराम होता है ।

प्रत्यङ्मुख विचार ही उपनिषदों में वह महास्त्र बताया है जो हर व्यूह के भेदन में प्रयोग किया जा सकता है । जानने वाला उससे अलग होता है जिसे वह जाने–यही यहाँ सामान्य न्याय है । अलग का अर्थ सत्ता-स्फूर्ति में स्वतंत्र : घटद्रष्टा अपनी सत्ता-स्फूर्ति के लिये घट पर निर्भर नहीं है । इसी को आधार बनाकर आचार्य समझाते हैं–

सपना, जगना, गहरी नींद एवं बुद्धिवृत्तियों का होना-न होना–इन्हें जो स्वयं बदले बिना साक्षात् जानता है वह मैं हूँ यह अवधारण करो ॥२२॥

स्वप्न व जाग्रत् की जानकारी बुद्धि–अंतःकरण–से कथंचित् उपपन्न हो, तो भी सुषुप्ति का अनुभव उससे नहीं समझ आता। आत्मा ही जब गहरी नींद सोता है यह मानना अनिवार्य है तब उसे ही जगने व सपना देखने वाला भी स्वीकारना अनुभवानुसारी है। सुषुप्ति में–एवं जब भी बुद्धि सर्वथा निश्चेष्ट होती है–आत्मा ही बुद्धि न होने का प्रकाशक है। जाग्रद् आदि में जब बुद्धि कार्यकारी है तब आत्मा ही उसके होने को भी जानता है। बुद्धि की वृत्तियाँ भी जब हैं तब एवं जब नष्ट होती हैं तब आत्मा से ही ज्ञेय हैं। बुद्धि को स्वप्रकाश मानो तो वह आत्मा ही हुआ, नाम में ही मतभेद होगा! अस्वप्रकाश है तो वह अपने व्यापारों को कैसे जानेगी? बिना व्यापार (वृत्ति) के वह कुछ भी जान सके तो व्यापार ही व्यर्थ है और व्यापार को व्यापारान्तर से जाने तो फलतः अनवस्थापर्यंत दोष हैं। अतः बुद्धि-तद्वृत्ति की जानकारी बुद्धिविलक्षण आत्मा को ही संभव है। विशेषतः बुद्धि-वृत्ति का अभाव तो आत्मा से ही जाना जा सकता है यह स्पष्ट है। आत्मा स्वप्रकाश है अतः उसके बारे में समान चर्चा का प्रसंग नहीं। वह भी किसी व्यापार से तो जानता नहीं, साक्षात् जानता है। कहने को भले ही 'अविद्यावृत्ति से जानता है' ऐसा कह देते हैं लेकिन उसका मतलब इतना ही है कि आत्मा जब अनात्मा को प्रकाशित करता है तब अविद्या से अन्य किसी वृत्ति (व्यापार) की जरूरत नहीं पड़ती अर्थात् 'उसमें आत्मा का व्यापार क्या?' यह सोचें तो यही उत्तर मिलेगा 'पता नहीं'! इसी का नाम अविद्या है। यदि इससे अन्य कोई वृत्ति (व्यापार) मानें तो पूर्वोक्त प्रसंग होना ही है कि वह वृत्ति कैसे प्रकाशित है? और जब कहीं निर्व्यापार प्रकाशन मानना है तो यहीं मानने में क्या हर्ज़! अविद्या अनादि होने से व्यापार न हो सके ऐसा भी नहीं क्योंकि व्यापार को करणजन्य होना ही पड़े यह नियम मान्य नहीं वरन् करण में कार्य के प्रति जनकता को प्रयुक्त करने वाला ही व्यापार हो जाता है। प्रयोजक होने से वह व्यापार या वृत्ति है, जन्य होने से नहीं। इसी में निहित है कि सर्वसाक्षी स्वयं अविकृत है। यदि वह विकारी हो तो समस्या है कि उसका विकार किससे सिद्ध है? बुद्धि विकारी है पर अपने विकारों से स्वतंत्र आत्मा से सिद्ध है तभी। यदि कोई न जानता हो तो विकार कैसे सिद्ध होंगे? अगर आत्मा भी विकारी होगा तो आत्मांतर मानना पड़ेगा! इसलिये विकारानुभव ही अनुभविता (साक्षी) को निर्विकार सिद्ध करता है।

[विश्वेश्वरटीका में '.........साक्षिकत्वविकारित्वादिदमुच्यते' छपा है, 'आदिकम्' से अर्थ ठीक होता है। बहुत की सिद्धि तभी होगी जब उन्हें गिनने वाला कोई उनका साक्षी हो और यावद्विकारन्याय से बहुत होना विकारिता का सूचक है।]

श्लोक में बुद्धियों की विद्यमानता-अविद्यमानता कही है, उससे जन्म व मृत्यु का भी परिग्रह कर लेना चाहिये। शरीर में तादात्म्याभिव्यक्ति को साक्षी ही जानता है। गर्भावस्था में ही सुख-दुःख

का भोग और संस्कारग्रहण भी हो जाता है । स्फुट स्मृति नहीं रहती यह ठीक है लेकिन जैसे जगना साक्षिभास्य है ऐसे जन्म को भी मानना चाहिये । स्वप्न-सुषुप्ति स्वकाल में अनुभव किये जाते हुए 'यह स्वप्न है, सुषुप्ति है' यों जैसे नहीं लगते वैसे जन्म-मरण यदि न भी लगें तो विरोध नहीं है । अवस्थायें हैं अतः वे साक्षी को अनुभूयमान हों यही उचित है । मूर्च्छा व मुमूर्षा में भी यही न्याय समझना चाहिये । सभी अवस्थाओं का साक्षी, उनसे अविकृत ही मैं हूँ यह निर्णय कर्तव्य है ।

–२२–

साक्षिसाक्ष्यान्वयव्यतिरेकः

घटावभासको दीपो घटादन्यो यथेष्यते ।

देहावभासको देही तथाऽहं बोधविग्रहः ॥२३॥

*किञ्च–आत्मा देहाद् भिद्यते, तदवभासकत्वाद्, यो यदवभासकः स तस्माद् भिद्यते, यथा प्रदीपो घटावभासको घटाद् भिद्यते; इत्यनुमानेन आत्मनो देहस्य अतिरेकं दर्शयति–**घटावभासकेति** । 'घटद्रष्टे' त्यत्र (श्लो. १५) द्रष्टृत्वेनात्मनो देहादन्यत्वमुक्तम्, इह तु साक्षित्वाद् आत्मनः साक्ष्याद् देहाद् भिन्नत्वमुच्यत इत्यपौनरुक्त्यम् । कथं पुनरात्मनो देहावभासकत्वम् ? इत्याशङ्क्य; अखण्डस्फुरणरूपस्य सन्निधिमात्रेणेत्याह–**बोधेति** ॥२३॥*

एवं देहादेरचेतनत्वेन अनात्मत्वमर्थादुक्तम् । तद्विलक्षणत्वेन अर्थाच्चैतन्यविग्रहमात्मानं प्रतिपद्य देहादेर्विलक्षणत्वेन सिद्धं चेतनत्वं सदृष्टान्तमुदाहरति–घटेति । अयमाशयः–यथा दीपः स्वप्रकाशरूपत्वात् स्वावभास्याद् घटाद् विलक्षणत्वेन प्रकाशरूपो भवति, एवं स्वावभास्यादचेतनाद् देहाद् विलक्षणत्वेन आत्मा बोधविग्रहः चैतन्यस्वरूप इति यावत् । एतेन अनुमानद्वयं सूचितम्–(i) विमतो देही स्वावभास्याद् देहाद् विलक्षणः, तदवभासकत्वाद्, दीपवत् । (ii) आत्मा चैतन्यविग्रहो, देहादिविलक्षणत्वाद्, घटद्रष्टृवद्–इति । आत्मनः चैतन्यविग्रहत्वे श्रुतिरप्यस्ति; 'सर्वं (?) ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै. २.१), 'विज्ञानम् आनन्दं ब्रह्म' (बृ. ३.९.२८), 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा । कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥' (श्वे. ६.११) इत्याद्याः श्रुतयः । एतेन–देहादेरचेतनत्वं चेतनस्य तद्भिन्नत्वं च कुतो दृष्टम् ?–इत्येतदपि निरस्तम्, आत्मनो देहादिविलक्षणत्वप्रतिपादनात् ॥२३॥

साक्षी और साक्ष्य का अन्वय-व्यतिरेक भी आत्मा को समझने में उपयोगी है । इसके संदर्भ में गौडब्रह्मानंद स्वामी ने बताया है कि इसके आधार पर यह तर्क संभव होता है कि निर्विकार साक्षी से तादात्म्य पाकर सिद्ध जड साक्ष्य यदि सत्य होता तो विकारी न होता । साक्षी निर्विकार है, साक्ष्य विकारी हैं, वे साक्षी में तादात्म्य से ही सिद्ध हैं जिससे साक्षी में साक्ष्य का अन्वय ही बताता है कि उसमें उनका व्यतिरेक है क्योंकि तादात्म्य अध्यासरूप ही संभव है । आनंदगिरि टीका में बताया है कि श्लोक १५ में द्रष्टा रूप से आत्मा समझाया था, यहाँ साक्षी रूप से

समझा रहे हैं । द्रष्टा अर्थात् प्रमाता; साक्षी ही अधिक उपाधि ओढ़ ले, तो प्रमाता बनता है 'साक्षित्वमात्मतमसा, मतिकञ्चुकेन मातृत्वम्' ऐसा सर्वज्ञमुनि ने स्पष्ट किया है । पहले देहादि से हटकर प्रमाता में एकाग्र हों, फिर साक्षी में स्थित हों यह क्रम है । युक्ति में अन्तर नहीं । जैसे सूर्यादि उससे भिन्न होते हैं जिसे वे प्रकाशित करते हैं ऐसे साक्षी अपने साक्ष्य से भिन्न है एवं जड का प्रकाशन करने वाला होने से आत्मा चेतन है–ये अनुमान दिखाते हुए आचार्य कहते हैं–

घट का प्रकाशक दीपक जैसे घट से अलग ही माना जाता है उसी प्रकार शरीर को ज्ञात बनाने वाला मैं शरीरी उससे अलग हूँ, ज्ञानस्वरूप हूँ ॥२३॥

अप्रकाश ही प्रकाश से प्रकाशित होता है, ज्ञानभिन्न ही अर्थात् जड ही ज्ञान से ज्ञात होता है । शरीर जिसका साक्ष्य है वह आत्मा शरीर को क्योंकि ज्ञात बनाता है इसलिये शरीरी अर्थात् साक्षी शरीर से अलग है और चेतन अर्थात् ज्ञानरूप है । श्लोक में 'देही' शब्द बताता है कि देह से स्वयं को कर्ता-भोक्ता मानने वाले की तरह कर्तादि न समझने वाला साक्षी भी है देह से परिभाषित, क्योंकि साक्षी की परिच्छिन्नता तब तक नहीं मिटती जब तक अद्वैत-साक्षात्कार न हो जाये । यदि द्रष्टा के विचार से स्थूलदेहान्यता निश्चित मानें तो यहाँ 'देह' शब्द सूक्ष्मदेह का बोधक समझना चाहिये । दर्पण प्रकाश का प्रतिबिंब ग्रहण कर कमरे आदि को प्रकाशित करता है तो बिंबभूत प्रकाश दर्पण-प्रतिबिम्ब-कमरा सभी से तटस्थ बना रहता है, इसी तरह आत्मा से ज्ञान पाकर घटादि को ज्ञात बनाने वाला अन्तःकरणादि न केवल स्वयं आत्मा से भिन्न है वरन् अपने में गृहीत ज्ञान और उससे ज्ञात घटादि को भी उससे सुदूर रखता है । इन सभी से आत्मा तटस्थ बना रहता है यह भाव है । आचार्य बार-बार दृष्टि प्रत्यक् की ओर ले जाने को कह रहे हैं, जो कुछ भी पराक् है उससे आत्मबुद्धि हटानी है, चाहे वह धर्मी हो या धर्म हो, और बोधमात्र मैं हूँ यह निश्चय करना है ।

–२३–

शेषशेषिणोर्भेदः

पुत्रवित्तादयो भावा यस्य शेषतया प्रियाः ।

द्रष्टा सर्वप्रियतमः सोऽहमित्यवधारय ॥२४॥

*देहातिरिक्तस्य चिद्रूपस्यात्मनः सुखरूपत्वं साधयति–***पुत्रवित्तादय** *इति । आत्मा सुखं परमप्रेमास्पदत्वाद्, दुःखवदिति व्यतिरेक्यनुमानादात्मनः सुखरूपत्वसिद्धिरित्यर्थः ॥२४॥*

इदानीं क्रमप्राप्तानन्दरूपत्वेन आत्मा प्रतिपाद्यते–पुत्रेति । **'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति'** (बृ. २.४.५) **इति श्रुतिन्यायेन** पुत्रवित्तादयो भावाः **पदार्था** यस्य **द्रष्टुः शेषतया सम्बन्धितयाऽनुकूलत्वेन** प्रियाः स द्रष्टा सर्वप्रियतमः **सर्वेभ्यः पुत्रादिभ्यः उत्कृष्टप्रेमास्पदः । अत आत्मनो निरुपाधिकतया आनन्दस्वरूपत्वम् अनुभवसिद्धमित्यर्थः ।** द्रष्टा सर्वप्रियतम **इति** द्रष्टुः परप्रेमास्पदत्वेन **आनन्दरूपत्वमुक्तम् ॥२४॥**

परमात्मा सत्-चिद्-आनंदस्वरूप है । उपनिषदें उसका ऐसा प्रतिपादन करती हैं कि तीनों स्वभाव स्पष्ट हों । कहीं सत्प्रधान उपदेश होता है जैसे जहाँ कहते हैं कि पहले एक सद्रूप परमात्मा ही था, उसी से सब हुआ, वही जीव है इत्यादि । ईश, प्रश्न (६), मुण्डक, तैत्तिरीय (ब्रह्म.), ऐतरेय, छान्दोग्य (६), बृहदारण्यक (३.८), श्वेताश्वतर आदि में सत्प्रधान उपदेश है । कहीं उपनिषत् चिद्रूपता को प्रधानकर समझाती है जैसे केनोपनिषत्, कठ, प्रश्न (४), माण्डूक्य, तैत्तिरीय (भृगु.), ऐतरेय (खण्ड. ५), छान्दोग्य (८), बृहदारण्यक (१.४; २.१; ३.४, ५; ४.२, ३) आदि में । इसी प्रकार कहीं प्रतिपादन का ढंग आनंदप्रधान है जैसे छान्दोग्य में उपकोसलविद्या और भूमविद्या तथा बृहदारण्यक में मैत्रेयी ब्राह्मण । अद्वैतस्पष्टीकरण के लिये वेदांतों की विविध प्रक्रियायें हैं जैसे कोशों की, अवस्थाओं की इत्यादि । आनंदप्रधान उपदेश की प्रक्रिया विलक्षण है । इसका सर्वाधिक हृदयग्राहि प्रकरण है जहाँ आचार्य याज्ञवल्क्य ने अपनी प्रिय पत्नी मैत्रेयी को अद्वैत ग्रहण कराया है । शास्त्रीय अध्यारोपों का न्यूनतम बोझ उस उपदेश की विशेषता है । उसी के आधार पर आचार्य समझाते हैं–

जिस द्रष्टा के शेष होने के कारण पुत्र, धन आदि पदार्थ प्रिय होते हैं, सबसे प्रियतम वह आत्मा मैं हूँ यह अवधारण करो ॥२४॥

स्वकेन्द्रितता मनुष्य का स्वभाव है । शिक्षा आदि से समाज इसे बदलने को या निरुद्ध रखने को उद्यत रहता है । श्रुति तो इसी का सदुपयोग अद्वैतनिष्ठा पाने में बताती है ! अन्वय-व्यतिरेक से आत्मा की परमानंदरूपता इसी स्वभाव से सिद्ध हो जाती है । जिस व्यक्ति या वस्तु को या परिस्थिति, क्रिया आदि किसी भी गैर-मैं को हम अपने अनुकूल समझते हैं वही हमें सुख देती है, वह व्यक्ति आदि स्वरूपतः सुख नहीं देता । अतः जब हम उसे प्रतिकूल समझने लगते हैं तब वही हमारे दुःख का हेतु हो जाता है । सुख का साधन हमें प्रिय है लेकिन सुख प्रियतर है, साधन से ज्यादा प्रिय उससे मिलने वाला सुख है । किंतु सुख भी स्वरूपतः प्रिय नहीं, दुश्मन का सुख किसे प्रिय होता है ! सुख भी अपने लिये हमें प्रिय है अतः सुख से ज्यादा प्रेम हमें स्वयं से है, हम स्वयं के प्रियतम हैं । अनात्मा (गैर-मैं) तो कुछ काल के लिये ही सुखद है । मिलने से पहले और छूटने के बाद तो सारे सुखसाधन घोर दुःख ही देते हैं, भोगकाल में भी सातिशयतादि को विचारें, उनके पराधीन हम होते जा रहे हैं आदि सोचें, तो वे तब भी दुःख देते हैं । विचार करें तो अनात्मा जो हमें सुखद लगता है वह भी इसी से कि हम उसमें आत्मबुद्धि करते हैं । यद्यपि प्रायः वह बुद्धि गौण होती है, मिथ्या नहीं, तथापि उसके रहते ही अनात्मा हमारे सुख का हेतु होता है । जब तक अनात्मा के साथ आत्मा जैसा व्यवहार करते हैं तभी तक वह हमारा उपकार करता है, जब उससे वैसा व्यवहार नहीं करते, भेदभाव करते हैं तब वह हमें मानों पराभूत कर देता है, दुःखप्रद हो जाता है । इसलिये अनात्मा में भी आत्मबुद्धि ही सुखकारण है । क्योंकि आत्मा में ही अनात्मा कल्पित है इसलिये वह बुद्धि होना भी स्वाभाविक है । जैसे प्यासा यात्री बालू में पानी देख लेता है या मोतियाबिंद वाला दो चाँद देख लेता है

उसी प्रकार असत्य अविद्या के निमित्त से हम स्वयं में ही यह सारा भेदभिन्न प्रपंच अनुभव कर रहे हैं। जब कामनारोग बढ़ जाता है तब प्रपंच में हमें सुख भी दीख जाता है। भेद दिखाने में अविद्या अकेली सक्षम है पर सुख दिखाने के लिये वह कामना की सहायता लेती है। सुख का व्यभिचारी अतः असुखरूप प्रपंच जिससे उत्पन्न हो सकता है वह असुख से अन्य अर्थात् सुखरूप ही संभव है। अतः आनंदात्मा पर ही दुःख-अनात्मा अध्यस्त है। यह विचार प्रारंभ तो होगा प्रमाता को आत्मा समझकर (अतः श्लोक में 'द्रष्टा' कहा है) किंतु पहुँचायेगा साक्षी तक। प्रमाता को लेकर पहले हम बाह्य प्रपंच के बंधन शिथिल कर सकते हैं। सुख हमारे समझने के तरीके पर निर्भर है न कि पदार्थों पर यह प्राथमिक बोध स्थिर करना पड़ेगा। विद्यमानता के लिये हम (प्रमाता) परतंत्र हैं अतः जीवन रखने के लिये अन्न-वस्त्र-समाज आदि सब पर हम निर्भर हैं किंतु सुख के लिये स्वयं पर निर्भर हैं। हम न चाहें तो कोई चीज़ हमें सुख नहीं दे सकती और चाहें तो कोई ना-चीज़ भी हमें प्रफुल्लित कर सकती है। अतः अपना बाह्य वस्तुओं से जो घनिष्ठ बंधन है वह इस रीति से सोचने पर ढीला पड़ सकता है। फिर यही विवेक संघात से करना चाहिये–शरीर क्यों प्रिय है ? मन क्यों प्रिय है ? इससे हम प्रमाता–चिदचिद्ग्रंथिरूप अहंकार–तक पहुँचते हैं। उसका भी विवेचन कर उसके दोनों हिस्से पहचानने पड़ेंगे–एक जो सुषुप्ति आदि में लीन होता है और दूसरा जो हमेशा रहता है–तथा आत्मांश के लिये ही विशिष्ट भी प्रिय है यह समझना होगा। आखिर प्रमाता कर्ता-भोक्ता है, हम उसे भी छोड़कर सुषुप्ति में जाने को क्यों छटपटाते हैं ? इसीलिये कि जो हम सुषुप्ति में जायेंगे उस हमारे लिये ही हमें प्रमाता भी प्रिय है, न कि प्रमाता स्वरूपतः प्रिय है। यों साक्षिस्वरूप प्रियता के अनुसंधान से समझ आने पर जब पता चलता है कि सारा संसार इसी पर कल्पित है तब कल्पित होने से भेद मिथ्या पता चलकर अद्वैत में स्थिति हो जाती है। जैसे आवाज़ सुने बिना ढोल की आवाज़ है यह नहीं कह सकते अतः ढोल की आवाज को आवाज़ से स्वतंत्रसत्ताक नहीं मान सकते इसी प्रकार अस्ति-भाति-प्रिय आत्मा स्फुरे बिना क्योंकि नाम-रूप का ग्रहण नहीं होता इसलिये वे इस पर कल्पित हैं, आत्मा से स्वतंत्र उनकी सत्ता नहीं। इस तरह भेदनिवारण इस प्रक्रिया में हो जाता है। भाष्य, वार्तिक और विशेषतः श्रुतिपारदृश्वा आचार्य शंकरानंद जी के आत्मपुराण में इस प्रसंग पर भरपूर प्रकाश मिलता है। अन्यत्र जैसे तत्-त्वम् दो पदार्थ लेकर चलते हैं वैसे यहाँ नहीं लिये गये हैं वरन् आत्मा-अनात्मा इन दो से प्रारंभ किया है और आगे समझाया है कि आत्मा से ही सब कुछ उत्पन्न होता है अतः सारे द्वैत को किसी-न-किसी उपाधि से 'मैं' ही समझा जाता है : हम अपने शरीर को मैं समझते हैं, विराट् सारे स्थूल प्रपंच को, हिरण्यगर्भ सारे सूक्ष्म को और ईश्वर कारणभूत माया को। विभिन्न उपाधियों से आत्मा सभी को मैं समझ रहा है। इस प्रकार सर्वहेतुता कही है तो अन्य स्थलों की एकवाक्यता से इसे तत्पदार्थ का उपस्थापक भले ही माना जाये लेकिन इस प्रक्रिया में संभवतः दृष्टिसृष्टि के सहारे प्रत्यक् की ही सर्वाधिष्ठानता का ढंग अपनाना अधिक स्वरस प्रतीत होता है।

सर्वसाधकहितैषी श्री भारतीतीर्थ जी पंचदशी के आत्मानंदप्रकरण में बताते हैं कि जिस जिज्ञासु की प्रज्ञा मंद हो उसके लिये आत्मा के आनंद का विवेचन सशक्त उपाय है। उन्होंने भी आत्मप्रियता

का मार्मिक वर्णन किया है व सिद्ध किया कि सभी कुछ अपने लिये ही प्रिय होता है । यहाँ तक कि रुद्र, विष्णु आदि देवता भी हमें इसीलिये प्रिय होते हैं कि उनकी पूजा से हम निष्पाप हों, न कि स्वयं उनके ही लिये ! श्रुति आदि में विभिन्न उदाहरण इसीलिये हैं कि बार-बार हर वस्तु का यों विचार करें तो बुद्धि में इस बात का संस्कार दृढ होता है । उक्त प्रकरण में इसी प्रक्रिया का स्पष्टीकरण है । मंदाधिकारी के लिये कह कर द्योतित कर दिया है कि सारी व्यवस्थाओं की यौक्तिकता के लिये यहाँ प्रयास नहीं है बल्कि आत्मप्रेम के सहारे परमात्मतत्त्व समझना ही एकमात्र प्रयोजन है ।

जिसके लिये कुछ हो उसे शेषी और उसके लिये जो हो वह शेष कहा जाता है । 'के लिये' यह चेतन की अपेक्षा है, न कि जड का स्वरूप । हर व्यक्ति बाकी सब को अपने लिये समझता है, खुद को शेषी व अन्य सभी व्यक्ति-वस्तु आदि को शेष समझता है, इसी समझ से सोच को अंतर्मुखी बनाना है । कामना और शेष समझने में अंतर है : कामना केवल हमारी गरज है, जरूरत है । शेष समझने का मतलब है उस पदार्थ की पूर्णता ही क्योंकि तब होगी जब वह मेरा शेष हो इसलिये मैं उसे अपने लिये बनाऊँ यह उस पदार्थ की गरज है, आवश्यकता है । कामना में अपनी दीनता प्रधान है और शेष समझने में अपना अधिकार या अभिमान प्रधान है । शेष होने से या शेषरूप से प्रिय कहकर आचार्य द्योतित कर रहे हैं कि आत्मोन्मुखी विचार के लिये पहले इसी प्रियता का सहारा लेना चाहिये । कामनावश जो प्रिय है वह क्योंकि प्रियतादशा में ही हमें प्रधान होकर प्रतीत होता है–काम्य प्रधान लगता है न कि हम स्वयं–इसलिये उस प्रेम के द्वारा आत्मोन्मुख होना कठिन है । तीक्ष्ण विवेक से जब कामना भी शेषबुद्धि का ही रूप समझ आ जाये तब भले ही काम्यगोचर प्रेम उपयोगी हो, यह बात अलग है । बहुधा एक वस्तु या व्यक्ति आदि से दोनों ही तरह का प्रेम होता है, केवल कमोबेश का अंतर होता है या कभी एक तो कभी दूसरा प्रकट होता है । प्रेमों के विवेक से शेषतया प्रेम पहचानकर उसके सहारे आत्मदर्शन किया जाये यह अभिप्राय है । प्रकृत श्लोक में त्वमर्थ के शोधितरूप का ज्ञान ही इस प्रक्रिया से बता रहे हैं, अद्वैतबोध नहीं, भले ही मैत्रेयी ब्राह्मणादि के अनुसार विचार करें तो वहाँ तक यह प्रक्रिया ले जा सकती है यह ध्यान देना चाहिये ।

–२४–

दुःखिपरमप्रेमास्पदान्वयव्यतिरेकः

परप्रेमास्पदतया मा न भूवमहं सदा ।

भूयासमिति यो द्रष्टा सोऽहमित्यवधारय ॥२५॥

अनुभवावष्टम्भेन हेतुनास्य स्पष्टयति–परेति ॥२५॥

इदानीं तस्यैव कालत्रयेऽपि परप्रेमास्पदत्वेनैव हेतुनाऽऽत्मनः क्रमप्राप्तं सत्यत्वं दर्शयति–परेति । अहं भूतकाले मा भूवम् इति न, किन्तु अवश्यमभूवम् । कथं मम भूतेऽवस्थानं नास्ति ? अनादित्वाद् आत्मनः तत्राऽपि

अवस्थानमस्तीत्यर्थः । न केवलं भूतकाल एव परप्रेमास्पदत्वं, किन्तु सदा भूयासम् **इति । 'सदा' इति कालत्रये विवक्षितमपि भूतकालावस्थानस्य प्रतिपादितत्वात् 'सदा' इत्यनेन वर्तमानभविष्यत्कालयोः ग्रहणम् । वर्तमानभविष्यत्कालयोः 'अहं' सर्वदाऽवस्थानाभावेऽपि आत्मनो नित्यत्वेन कदाचिदपि नाशासम्भवाद् आद्यन्तशून्यस्य मम सर्वदाऽवस्थानं भवतीत्यर्थः । एवं कालत्रयेऽपि** परप्रेमास्पदतया **प्रसिद्धो** यो द्रष्टा सोऽहमित्यवधारय **इत्यर्थः ।**

असतः प्रपञ्चस्य परप्रेमास्पदत्वाभावात् तस्य कादाचित्कप्रतिभानमन्तरेण कालत्रयेऽपि अवस्थानाऽसम्भवाद्, आत्मनः परप्रेमास्पदत्वात् कालत्रयेऽपि अवस्थानसम्भवात् सत्यत्वं सिद्धमित्यर्थः । आत्मसत्ताऽनुप्रवेशेन तत्कल्पितानां सर्वेषां सत्ता प्रतीतिश्च भवति, न स्वत इत्यभिप्रायः । 'मा न भूवम्' इत्यत्र माङ्योगाद् अडागमप्रतिषेधः ॥२५॥

[आनंदगिरि टीका में 'अस्य' के बाद विश्वेश्वरानुसार 'नित्यत्वं' या 'सत्यत्वं' शब्द जोड़ लेना चाहिये । विश्वेश्वर टीका में 'कथं मम भूतेऽनवस्थानं नास्ति ?' पाठ समझना उचित है । 'अहं सर्वदाऽवस्थानाभावेऽपि' में अहं के बाद 'इति' जोड़ लेना चाहिये, अहंकार हमेशा नहीं रहता यह अर्थ है ।]

दुःखि-परप्रेमास्पद के अन्वयव्यतिरेक को गौडस्वामी ने समझाया है : परप्रेमास्पद (आत्मा) से तादात्म्यापन्न हो प्रतीत होने वाला यदि सत्य होता तो दुःखसाधन न होता । एवं च यह तर्क जगन्मिथ्यात्व-आत्मसत्यत्व का पोषक है । दुःखी रूप से उपलब्ध होते हैं अहंकारादि, वे परप्रेमास्पद प्रत्यगात्मा से भिन्न ही हैं परंतु क्योंकि उनका आत्मा में तादात्म्येन अध्यास है इसलिये उनका अन्वय है जो सिद्ध करता है कि वस्तुतः उनका उसमें व्यतिरेक है ।

हमेशा बने रहने की भी इच्छा स्वाभाविक है । हेतुविशेष से कभी यदि न रहने की इच्छा भी हो तो भी स्वाभाविक इच्छा बने रहने की ही है । प्रायः जो न रहने की इच्छा है वह भी परिस्थिति बदलने की ही इच्छा है । परिस्थिति से शरीरपर्यन्त सब समझ लेना चाहिये । वस्तुतस्तु अत्यंत मूढ दशा में देहादिसंघातमात्र को आत्मा समझने वाला अशक्त आदि दशा में यह चाह भी सकता है 'अब मैं न रहूँ' लेकिन विवेकशील को वैसी दृढ इच्छा नहीं हो सकती यह समझ लेना चाहिये । जिसे कम-से-कम ऐसा विश्वास है कि देहादि से मैं अलग हूँ वह तो बना रहना चाहता ही है, परिस्थितियों में अवश्य परिवर्तन चाह लेता है । इस हमेशा रहने की दृढ अभिलाषा से एक ओर आत्मा की निरुपाधिक प्रियता पता चलती है–जैसा श्रीविद्यारण्यजी ने पंचदशी के आरंभ में ही बताया है–और दूसरी ओर सत्यता । वाक्यवृत्ति में श्लोक १५ से आत्मा की चिद्रूपता बतायी, पूर्वश्लोक में आनंदरूपता बतायी अतः अब सद्रूपता बतायें यह उचित ही है । पूर्व में शेषतया अन्य प्रिय हैं इससे अर्थात् स्थित हुआ कि आत्मा परप्रिय है अब मुखतः उसकी प्रियता में अनुभव दिखा रहे हैं और साथ ही सत्य बता रहे हैं–

निरतिशय प्रेम का अधिकरण होने से जिसके प्रति हमेशा यह भाव रहता है 'मैं न होऊँ ऐसा कभी न हो, हमेशा होऊँ', वह द्रष्टा मैं हूँ यह अवधारण करो ॥२५॥

अन्यों से प्रेम में कोई हेतु होता है, स्वयं से प्रेम में कोई हेतु नहीं अतः स्वयं से प्रेम निरुपाधिक, निरतिशय है । अतः अपनी सनातनता अभिलषित होती है । यद्यपि 'मैं था' यह आकांक्षा संभव नहीं तथापि 'भूतकाल में भी रहा होता तो अच्छा होता' यह भाव हुआ ही करता है । श्लोक में 'भूवम्' यह लुङ् भूतार्थक नहीं वरन् माङ् के कारण है, उपपदप्रयुक्त है । हमेशा होने की चाह सिद्ध करती है कि मैं स्वयं को प्रिय हूँ । यह चाह इसे भी सूचित करती है कि मैं नित्य सत्य हूँ क्योंकि हर वस्तु अपनी स्वाभाविकता की ओर ही प्रवण होती है । श्लोक में 'आत्मानम्' यों स्पष्ट न कहकर 'इति' से ही कर्म समर्पित कर बताया कि स्वयं को प्रिय समझने वाला, हमेशा होना चाहने वाला द्रष्टा आत्मा है; प्रेम के भी विषयरूप से नहीं वरन् आश्रय-विषय एक कर द्रष्टा को आत्मा समझना है । तथ्य के कुछ प्रामाणिक कारण होते हैं, कुछ यौक्तिक कारण होते हैं, ऐसे ही मानसिक या भावनात्मक कारण भी; यहाँ आत्मा की नित्य-सत्य-रूपता में हमेशा रहने की चाह भावनात्मक कारण है । यौक्तिक कारण तो स्पष्ट है कि आत्मा न हो तो यह जाने कौन कि वह नहीं है ? मैं हूँ जैसे मुझे ही अपरोक्ष है ऐसे मैं नहीं हूँ यह मुझे तो अपरोक्ष हो नहीं सकता तथा दूसरे को भी नहीं हो सकता क्योंकि जब मैं अन्य को अपरोक्ष नहीं तो मेरा न होना भी नहीं हो सकता । नित्य परोक्ष न होने पर भी आत्मा 'अन्यों' को (देवदत्तादि की अपेक्षा अन्य यज्ञदत्तादि को) हमेशा परोक्ष ही होता है । आत्मा न होने का कोई निर्धारित लिंग आदि है नहीं कि वह भी प्रमा हो सके । अतः अन्य जब मेरा अभाव समझता है तब देहादिका ही समझता है । उसमें भी एक ही देह का; यदि मैं मच्छररूप से था भी और यज्ञदेव ने मुझे देखा भी तब भी जब मैं देवदत्त होकर उपस्थित होता हूँ तो वह यही कहता है 'तू पाँच वर्ष का है, बारह वर्ष पूर्व तू नहीं था' ! अतः मैं नहीं हूँ यह ज्ञान किसी को संभव ही नहीं । आत्मा की नित्यतादि में प्रमाण तो शास्त्र है ही इसमें कहना ही क्या, अतः प्रामाणिक कारण वही है ।

इस प्रकार आत्मा सच्चिदानंद है यह विस्तार से स्पष्ट किया ।

–२५–

शोधितत्वमर्थः

यः साक्षिलक्षणो बोधस्त्वम्पदार्थः स उच्यते ।

साक्षित्वमपि बोद्धृत्वम् अविकारितयाऽऽत्मनः ॥२६॥

देहेन्द्रियमनःप्राणाऽहङ्कृतिभ्यो विलक्षणः ।

प्रोज्झिताऽशेषषड्भावविकारस्त्वम्पदाभिधः ॥२७॥

किं पुनरनेन प्रबन्धेन त्वम्पदार्थस्वरूपं निरूपितं भवति ? इत्याशंक्य; परिशोधितं त्वंपदार्थं संक्षिपति– ***यः साक्षीति*** *। साक्षित्वे साक्ष्यविषयेक्षणकर्तृत्वेन विकारित्वं स्याद् ? इत्याशंक्य; आह–****साक्षित्वमिति । अविकारितया बोद्धृत्वं*** *नाम बोधैकरसत्वम्; तदीयसन्निधिसत्तामात्रेण साक्षिप्रतीते बोद्धृत्वमुपचरितम् इत्यर्थः ॥२६॥*

*संक्षेपविस्तराभ्यामुक्तं त्वम्पदार्थमुपसंहरति–**देहेन्द्रियेति** । देहेन्द्रियव्यतिरिक्तनिर्विकारश्चिद्वस्तु 'त्वंपदमभिधा यस्य' इति व्युत्पत्त्या त्वंपदार्थ इत्यर्थः ॥२७॥*

एवम् 'अन्तःकरणतद्वृत्तिसाक्षी' (श्लो. ११) इति श्लोकोक्तमेव एतदन्तैः श्लोकैः क्रमात् साक्षित्वेन चैतन्यविग्रहत्वेन आनन्दत्वेन सत्यत्वेन च करामलकवत् स्फुटं प्रतिपाद्य; इदानीं फलितार्थस्य साक्षिणो बोधस्य तत्त्वमस्यादिवाक्ये त्वमर्थमाह–य इति । **साक्षितया लक्ष्यत इति** साक्षिलक्षणः । उच्यत **इति तत्त्वमस्यादिवाक्य इति शेषः । ननु अविकारिण आत्मनः साक्षित्वाऽभावाद् विकारं प्राप्तस्यैव तस्य साक्षित्वम् ? इत्याशंक्य, आह–**साक्षित्वमपीति । **स्वाध्यस्तं सर्वं साक्षाद् अन्यानपेक्षया ईक्षते प्रकाशयति इति साक्षी । अधिष्ठानभूतस्य आत्मनः स्वयंप्रकाशत्वेन तत्र कल्पितानां तत्प्रकाशेनैव प्रकाशः सिद्धः, तदर्थम् ईक्षणक्रियाश्रयत्वप्रयासाऽभावाद् दीपवद् निर्विकारित्वेनैव** आत्मनः साक्षित्वं, **ज्ञानरूपत्वाद् बोद्धृत्वं च घटत इत्यर्थः ॥२६॥** देहेति । **त्वंपदेनाभिधीयत इति** त्वंपदाभिधो यः साक्षिलक्षणो बोधः **सोऽनृतजडदुःखात्मकेभ्यो देहेन्द्रियादिभ्यो** विलक्षणो **विसदृशः, अत एव** प्रोज्झिताशेषषड्भावविकारः **परित्यक्तो जायतेऽस्तीत्यादिषड्भावविकारः । अन्तःकरणद्वयविवक्षायां बुद्धिरेवाऽहंकारो, मन एव चित्तम्, अतोऽत्र** अहङ्कृति-**शब्देन बुद्धिरुच्यते,** मनः-**शब्देन चित्तमुच्यते ॥२७॥**

महावाक्य जिस जीवस्वरूप को परमात्मा से अभिन्न कहते हैं उसे समझाकर वह प्रकरण समाप्त करते हैं–

साक्षिरूप से जिसे लक्षित किया जाता है वह महावाक्य के त्वम्-पद का अभिप्रेत अर्थ बताया गया है । क्योंकि आत्मा परिवर्तनशील नहीं है इसलिये एकरस बोधस्वरूप ही 'साक्षी होना' कह दिया जाता है ॥२६॥ शरीर, इंद्रियाँ, मन, प्राण व अहंकार से अन्य एवं सभी छहों भावविकारों से रहित जो आत्मवस्तु वही महावाक्य के 'त्वम्'-शब्द से प्रतिपाद्य है ॥२७॥

[आनंदगिरिटीका में 'साक्षिप्रतीतेर्बोद्धृत्वम्' ऐसा बेहतर होगा । विश्वेश्वरटीका में 'परित्यक्तजायते.....' आदि समस्त पाठ अच्छा होगा ।]

यहाँ पूर्ववर्णित का ही संक्षेप है । साक्षिता आत्मा को समझने का तरीका भर है, कोई वास्तविक धर्म नहीं, जैसे प्रकाशमात्ररूप सूर्य प्रकाशक भी समझा जाता है ऐसी ही आत्मा की साक्षिता है। है वह केवल ज्ञानरूप पर उसकी संनिधि में आया प्रपंच क्योंकि ज्ञात हो जाता है इसलिये इस साक्ष्य की अपेक्षा से आत्मा को साक्षी कहा-समझा जाता है । छह भावविकार यास्क मुनि ने बताये हैं–जन्म, वर्तमानता, बढ़ना, बदलना, क्षीण होना और समाप्त होना । इनका ग्रहण कर अन्य भी जितने स्थूल सूक्ष्म बदलाव संभव हैं उन्हें भी एकत्र करने के लिये 'सभी' यह विशेषण जोड़ दिया। त्वमर्थ जीव की अविकारिता गीता में आरंभ में ही सुस्पष्ट की गयी है । देहादिविलक्षण के बाद अविकारी कहने से कर्ता-भोक्ता आत्मा या चिदाभास की व्यावृत्ति हो गयी । इस शोधित, अर्थात् उपाधिरूप मल से विविक्त रूप को श्रुति परमात्मा कह रही है । हमें अद्वैत में जो विरोध लगते हैं वे उपाधि-उपाधिधर्मों के परिप्रेक्ष्य में ही हैं, उपाधि से हटे हुए पर दृष्टि रहे तो विरोध नहीं भासेगा ।

–२६-२७–

तत्पदार्थस्य द्वेधा चिन्ता

त्वमर्थमेवं निश्चित्य तदर्थं चिन्तयेत् पुनः ।

अतद्व्यावृत्तिरूपेण साक्षाद् विधिमुखेन च ॥२८॥

*उक्तमनूद्य तत्पदार्थनिरूपणमवतारयन् 'कः परश्चात्मा' (श्लो. ७) इति प्रश्नं प्रत्याचष्टे–**त्वमर्थमिति** । तच्चिन्ता द्विधा विभज्यते–**अतद्व्यावृत्तीति** ॥२८॥*

यद्यपि सत्यानन्दस्वप्रकाशत्वम्पदार्थप्रतिपत्त्यैव पुरुषार्थसिद्धिः तथापि उभयपदार्थज्ञानस्य परमपुरुषार्थसाधनवाक्यार्थावगतिहेतुत्वात् क्रमप्राप्तं तत्पदार्थं प्रतिपादयति–त्वमिति । एवं निश्चित्य इति 'अन्तःकरणतद्वृत्ति'-(श्लो.११) इत्यादिपूर्वोक्तत्वम्पदार्थप्रतिपादकवाक्यश्रवणमननाभ्यासवशात् त्वमर्थं निःसंशयं ज्ञात्वेत्यर्थः। तदर्थं चिन्तयेद् इत्युक्त्वा पुनः चिन्तयेदित्यत्राऽपि निःसंशयज्ञानपर्यन्तं पुनः पुनः तत्पदार्थप्रतिपादकवाक्यश्रवणमननाभ्यासं कुर्यादिति उक्तं भवति ।

ननु 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' (तै. २.४.१) इति श्रुत्या वाङ्मनसयोरपि अविषयत्वश्रवणात् कथं चिन्तयेद् ? इत्यत आह–अतद्व्यावृत्तीति । 'तद् न भवति' इति अतद्, अततो व्यावृत्तिः अतद्व्यावृत्तिः, तद्रूपेण । अयमाशयः–इदं ब्रह्मेति शृंगग्राहिकया विषयीकृत्य चिन्तितुमशक्यत्वेऽपि 'अथात आदेशो नेति नेति' (बृ. २.३.९) इति श्रुत्या ब्रह्मणः कार्यकारणत्वादेः प्रतिषिद्धत्वात् कार्यकारणोपाधिप्रयुक्तं जीवत्वम् ईश्वरत्वं सर्वज्ञत्वादिकं पारमार्थिकं न भवति किन्तु मायिकमेव इति विदित्वा कार्यत्वकारणत्वाद् दीर्घह्रस्वादिपरित्यागेन निषेधावधिभूतं स्वरूपं चिन्तयेद्–इति ।

केवलमतद्व्यावृत्त्या स्वरूपपरिज्ञानाऽसम्भवात् तदर्थचिन्ता न घटत इत्यत आह–साक्षाद्विधिमुखेनेति । 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै. २.१.१) इत्यादिब्रह्मस्वरूपप्रतिपादकवाक्येनेत्यर्थः । अयमभिप्रायः–'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'आनन्दो ब्रह्म' (तै. ३.६) इत्युक्ते ज्ञानानन्दादीनां गुणत्वेन क्षणिकत्वेन च ब्रह्मत्वानुपपत्तौ अपि निर्विकल्पकज्ञानैकस्वरूपब्रह्मणः अनृतजडदुःखात्मकशङ्काव्यावर्तकत्वेन सत्यत्वानन्दत्वयोरपि ब्रह्मस्वरूपेणैकीभूतत्वात् सत्यज्ञानानन्दस्वरूपं वस्तु ब्रह्मेति जहदजहल्लक्षणया वाऽनृतत्वजडदुःखत्वादिविलक्षणं ब्रह्मेति वा सत्यादिपदवाच्यत्वाभावेऽपि लक्ष्यत्वोपपत्तेः 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि ब्रह्मस्वरूपलक्षणवाक्यैः विधिमुखेन इतरविषयत्वम् अन्तरेणाऽपि तदर्थं चिन्तयेदिति ॥२८॥

वेदान्तों की विशेषता यही है कि ये न केवल बंधन से छुड़ाने की प्रतिज्ञा पूरी करते हैं वरन् यह सुरक्षित करते हैं कि बंधन एक असंभावना हो । अतः सांख्यादि की तरह प्रपंच से तटस्थ रहकर संतोष नहीं बल्कि प्रपंच का ही बाध चाहिये । द्वैतनिवृत्ति से जो आत्मा की पूर्णता अनावृत होती है वह अपेक्षा करती है कि हम स्वयं को किसी से भिन्न न समझें, ईश्वर से भी भिन्न हम न रहें । 'समझें' से यदि भावना का ग्रहण होगा तो क्रममुक्ति का मार्ग है और अगर अप्रतिबद्ध प्रामाणिक साक्षात्कार का, तो सद्योमोक्ष का उपाय है । हम से अन्य सारा संसार पहले ईश्वर में समेटा ही इसलिये जाता है कि जब ईश्वर से अभेद पता चले तो संसार में कुछ भी हमसे भिन्न न रह सके, हम अनंत परिपूर्ण व्यापक रहें । इस प्रक्रिया में परिच्छेदक उपाधि का–

नाम-रूप का–बाध होना अनिवार्य है, वह चाहे जीव की उपाधि हो या ईश्वर की । उपाधि से मोह रखकर अद्वैत नहीं समझा जाता । त्वमर्थ के शोधन में उपाधि से स्वयं का अंतर दृढ किया ताकि उपाधि को मैं समझकर उसकी रक्षा का प्रयास न करें, क्योंकि अद्वैतोपदेश उपाधि का आत्यंतिक अभाव प्रकाशित करेगा । जीव का ईश्वर से अभेद के योग्य जो स्वरूप वह बता चुके । ईश्वर का वह स्वरूप क्या है जिससे जीव एक है यह बताने के लिये तत्पदार्थ का प्रकरण आरंभ करते हैं–

पूर्वोक्त रीति से त्वम्पद के अर्थ (जीव) का अभिप्रेत स्वरूप निश्चित कर फिर अतद्व्यावृत्ति से और सीधे विधिमुख से तत्पद के अर्थ (ईश्वर) का चिन्तन करना चाहिये ॥२८॥

सर्वज्ञात्ममहामुनि ने (१ श्लो. २५० आदि) विस्तार से स्पष्ट किया है कि वेदांतों के निषेधप्रधान और विधिप्रधान उपदेश किस प्रकार पदार्थशोधनपूर्वक तत्त्वज्ञान देकर मोक्षफलक होते हैं । परमात्मा क्या नहीं है–यह बताना निषेधमुख या अतद्व्यावृत्ति कहा जाता है । तत् यह ब्रह्म का नाम है, जो ब्रह्म नहीं वह अतत्, उससे अलग कर ब्रह्म को बताया जाये तो अतद्व्यावृत्ति से बताया ऐसा प्रयोग होता है । गैरब्रह्म में ब्रह्मबुद्धि सहज होने से जरूरी है बताना कि वह ब्रह्म नहीं है । ब्रह्म क्या है–यह विधिमुख से उपदेश कहा जाता है । केवल इससे यद्यपि काम चल सकता है तथापि संशय को स्थान न रहे इसलिये निषेधमुख भी अत्यंत उपयोगी हो जाता है ।

तत्पद से ईश्वर ही पहले समझ आता है क्योंकि जगज्जन्मादिहेतु का ही परामर्श कर उससे जीव को अभिन्न बताया जाता है । ईश्वर क्या है और क्या नहीं यह स्पष्ट करना जरूरी है । तत्पदवाच्य के बारे में ही काफी मतभेद लोगों में और वादियों में है । पहले जान लेना जरूरी है कि उपनिषत् में तत्पद किसका वाचक है । अभी कुछ श्लोकों में ग्रंथकार ईश्वर के स्वरूप का खुलासा करेंगे । जैसे जीव सामान्यतः लोकप्रसिद्ध है, उसकी प्रमा में शास्त्र हेतु है ऐसे ईश्वर भी सामान्यतः लोकप्रसिद्ध है, शास्त्र से उसकी प्रमा होती है । जीव को नकारने वाले चार्वाक-बौद्धादि की तरह ईश्वर को नकारने वाले भी आस्तिक-नास्तिक हैं पर इससे उसकी प्रसिद्धि नहीं समाप्त हो जाती । विभिन्न धार्मिक संस्थापक आदि जब कहते हैं हम ईश्वर को जानते हैं तब वे समझाते भी हैं कि जिसे वे जानते हैं वह कौन है, कैसा है । महर्षि बादरायण ने इसीलिये ईश्वरपरिभाषा बता दी कि जो कोई जगत् के अभिन्ननिमित्तोपादान को ईश्वर कहे उसी से हमारी सहमति या विमति का विचार सार्थक है । इससे अन्य लक्षण वाले को यदि ईश्वर नाम दिया जाता है तो भी वह वेदान्तों में विचारित ईश्वर नहीं हो जाता । यदि वादी किसी प्रमाण या युक्ति का उपन्यास करे तो वे परीक्षणीय हो सकते हैं । वैयक्तिक अनुभव स्वयं उस व्यक्ति के लिये और उस पर श्रद्धालु के लिये बाधपर्यन्त प्रमाण माना जा सकता है, सबके लिये नहीं । क्योंकि ईश्वर घटादि-सा अपरोक्ष नहीं इसलिये कोई ऐसा उपाय नहीं कि उसके बारे में कोई सर्वसंमत प्रमाण मिले । जब घटादि को भी नकारने वाले प्राच्यपाश्चात्य दार्शनिक मौजूद हैं तब ईश्वर जैसे सूक्ष्मतम तथ्य का क्या कहना ! वेद पर श्रद्धालुओं का मतभेद तो उत्तरमीमांसा से मिट सकता है । जो

तो उत्तरमीमांसा में ही मतभेद उपस्थित हुआ है वह उन्हीं की ओर से जो वेद के समान आगमों को प्रमाण मानते हैं । अतः उनसे भी मतभेद समाप्त हो नहीं सकता, प्रयास ही व्यर्थ है : तुल्य परिधि में ही स्थापन-प्रत्याख्यान मायने रखता है । समय को निरपेक्ष मानकर चलने वाली बात का समय को सापेक्ष मानकर निषेध करने का कोई मतलब नहीं । निरपेक्ष मानना छुड़ाकर सापेक्ष मनवायें तब वार्ता संगत है । छुड़ाने के लिये निरपेक्ष मानने की गलतियाँ और सापेक्ष मानने की संगतियाँ बतायी जाती हैं और प्रमाता विचार कर अपना मत निर्धारित करता है । इसी प्रकार यह तो करना चाहिये कि आगमानुसारी मान्यताओं की गलतियाँ तथा वेदांतानुसारी प्रक्रियाओं की संगतियाँ प्रकाशित करें ताकि विचारशील अपना मत निश्चित कर पाये लेकिन जो वादी को अभिमत नहीं उस प्रमाण से उसका खंडन करना निष्प्रयोजन है । वेद प्रबलतम प्रमाण है ऐसा जिसका मानना ही नहीं उसे वेद सुनाकर चुप नहीं कर सकते । इसी तरह अनुमान को जो अंतिम प्रमाण नहीं मानता वह अनुमान के विरोध से परास्त नहीं होता, कुछ समय तक चुप होकर नये हेतु व परिष्कार खोजता है । वेदान्तों का अधिकारी वही है जो गुरु-वेदांतवाक्यों में श्रद्धालु है । अतः उसी के लिये ईश्वर-चर्चा वेदांतों में है । अश्रद्धालु को श्रद्धा कैसे उत्पन्न हो–इसका कोई स्पष्ट उपाय बताना वेदांतों का कार्य नहीं है । अपने आचार-व्यवहार आदि से आचार्य अश्रद्धालु को आकृष्ट कर धीरे-धीरे श्रद्धालु बना सके यह संभव है, इसमें सहायता के लिये उन विचारों का भी प्रयोग जरूरी हो सकता है जो अश्रद्धालु को जँच जायें, चमत्कारों से भी वेदों पर श्रद्धा उत्पन्न करायी गयी है ऐसा इतिहास में वर्णित है, राजा आदि बलपूर्वक वेदाध्ययन व वेदोक्त कर्मों में लगायें और कालांतर में उसी से श्रद्धा भी हो जाये यह भी संभव है, जो प्रारंभ में धनादि को चाहकर वेदविचारादि करे वह शनैः शनैः वेद पर श्रद्धा भी करने लगे यह भी मुमकिन है; हर हालत में श्रद्धोत्पादन ऐसा प्रसंग नहीं जो वेदांतों में या इस ग्रंथ में विचारणीय हो । वर्तमान में अनेक मत ग्रंथविशेष और व्यक्तिविशेष पर श्रद्धा से ही अपनी व्यवस्थायें बनाते हैं, ग्रंथ के भी निश्चित अर्थों को ही स्वीकारते हैं । उनसे वाद कैसे संभव है ? जीवविषयक विचार भले ही हो सकता है क्योंकि जीव अपरोक्ष है पर ईश्वरविषयक नहीं । मानव बुद्धि युक्ति को सम्मान देती है पर वह किसे युक्ति मान ले इसका भी कोई ठिकाना है नहीं ! फिर भी जो अश्रद्धालु को श्रद्धालु बनाना चाहे वह अपने विवेकानुसार प्रयास कर सकता है । मुमुक्षु का यह कार्य नहीं । वह तो श्रद्धालुओं में ही इस विषय की चर्चा कर सकता है ताकि तत्त्व का चिन्तन हो सके ।

ईश्वर के वाच्य व लक्ष्य स्वरूपों को समझने में निषेध वाक्य, अतद्व्यावृत्ति इसलिये भी आश्रयणीय हैं कि लोक में जिस अर्थ में शब्द का शक्तिग्रह है, ईश्वरप्रसंग में यथावत् वह अर्थ ग्राह्य नहीं अतः विधिमुख से कहने पर शक्यार्थ का कुछ हिस्सा छोड़ना भी पड़ता है, वह हिस्सा कौन-सा है–यह निषेधों की सहायता से स्पष्ट होता है । यद्यपि ईश्वर का वाच्यस्वरूप कह कर उसे लक्ष्य बताना–अर्थात् उसे भी समझने में शक्यार्थांश के परित्याग को अपेक्षित कहना–अटपटा

है तथापि 'वाच्य' यह वेदांत में पारिभाषिक है, सविशेष को वाच्य कहा जाता है । वह किसी शब्द का शक्य हो यह जरूरी नहीं । शब्दातिरिक्त प्रमाण का अविषय होने से शक्तिग्रह दुर्लभ भी है । वाक्य से अर्थ बता कर उसमें अमुक शब्द शक्त है–इस तरह शक्तिग्रह संभव हो सकता है किंतु ऐसा कोई प्रयास उपनिषदों में मिलता नहीं । व्यवस्था के लिये, व्यवहारलाघव के लिये प्रक्रिया ग्रंथों में यदि ऐसा किया भी है तो वह पारिभाषिक ही हुआ । अतः वाच्य अर्थात् सविशेष को समझने में भी निषेध उपयुक्त हैं । क्योंकि ब्रह्म दो नहीं, इसलिये प्रायः समान वाक्यों से ही सविशेष-निर्विशेष दोनों समझे जाते हैं यद्यपि कहीं कोई प्रधान अभिप्राय होता है तो कहीं कोई । वाच्य निर्णय का प्रयोजन लक्ष्य समझकर अद्वैत जानना है, अतः इसके उपयोगी स्वरूप को ही यहाँ वाच्य बताया जाता है, इसलिये वाच्य के बारे में ये विकल्प नहीं उठाने चाहिये कि उसका कोई और स्वरूप संभव है या नहीं । मोक्षोपयोगी कोई अन्य रूप हो तो विचारणीय हो सकता है पर वैसा कोई मिलता नहीं । मोक्ष में अनुपयोगी यदि कोई स्वरूप किन्हीं वाक्यों से पता चले तो भी उसे वाच्य नहीं मान सकते क्योंकि वाच्य है ही वह जो मोक्षोपयोगी है । वस्तुतः उपनिषदों की मीमांसा से निर्णीत है कि वाच्य का क्या स्वरूप है, उसका अन्यथाकरण तो उपनिषद्-अन्य ग्रंथादि के सहारे ही किया जाता है ।

मुमुक्षु को मोक्ष के लिये त्वमर्थ की तरह तदर्थ का लक्ष्य स्वरूप समझने के लिये शास्त्रविचार करना चाहिये । 'चिंतयेत्' से ध्वनित है कि वाक्यों से स्वरूप समझकर सगुण की उपासना भी करनी चाहिये, विशेषतः दहर आदि उपासनाओं का महत्त्व अधिक है । कोई भी ईश्वरोपासना ईश्वर-कृपा दिलाती है । मोक्ष के उद्देश्य से की जाये तो चित्त में शुद्धि का अतिशय करती है । ईश्वरविषयक ऊहापोह भी ईश्वरोपासना है ऐसा उदयनाचार्य ने बताया है अतः चिंतन से वह भी समझना चाहिये । विचार में समर्थ न हो तो विविध ग्रंथ पढ़ने चाहिये जो वेदांतानुसार ईश्वर-वर्णन करते हैं जैसे महाभारत, पुराण आदि । कोशिश यही रखनी है कि जीव या ईश्वर किसी-न-किसी आत्मस्वरूप के बारे में ही मनोव्यापार अधिकाधिक चले, संसार के बारे में नहीं ।

–२८–

अतद्व्यावृत्तिः

निरस्ताशेषसंसारदोषोऽस्थूलादिलक्षणः ।

अदृश्यत्वादिगुणकः पराकृततमोमलः ॥२९॥

*आरोपितप्रपञ्चनिराकरणमुखेन तत्पदार्थनिरूपणं विवृणोति–**निरस्ताशेषेति** ॥२९॥*

एवं तदर्थचिन्तायामुपायद्वयमुक्तम् । इदानीमतद्व्यावृत्त्या चिन्तनार्थम् अततो व्यावर्तयंस्तदर्थं निरूपयति–निरस्तेति । **अविद्यमानभूततमोमल इति यावत् । तम इव तमोऽज्ञानं प्रकाशविरोधित्वात्, तदपनोद्यत्वाच्च गुणतस्तमस्त्वमज्ञानस्य; तदेव मल आदर्शादिगतमलवद् आश्रयमलिनी करणात्, तद्घर्षणापनोद्यत्वाच्च गुणतो मलः; पराकृतस्तमोमलो यस्मिन्**

स तथोक्तः । अत एव निरस्ताशेषसंसारदोषः । **संसारः प्रवृत्तिः; दोषशब्देन रागादय उच्यन्ते, 'दोषा रागादयः स्मृता' इति वचनात्; निरस्तोऽशेषः संसारो दोषश्च यस्मिन् स तथोक्तः ।**

एतेन जीवाश्रयमिथ्याज्ञानतत्कार्यदोषप्रवृत्तिजन्मदुःखानि च ब्रह्मणो न सन्तीत्युक्तम् । किं चैतेन जीवस्याऽपि तदेकत्वज्ञानाद् मिथ्याज्ञानापाये 'दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायाद् अपवर्गः' इति गौतमवचनाद् (१.१.२) रागाद्यपायः, तस्मिन् सति प्रवृत्त्यपायः, तस्मिन् सति जन्मापायः, तस्मिन् सति दुःखापायः स्याद् इत्यर्थात् सूचितं भवति ।

इदानीं प्रपञ्चान्तर्गतसर्ववस्तुवैलक्षण्येन निरूपयति–अस्थूलादिलक्षण इति । **स्थूलसूक्ष्मत्वलक्षणह्रस्वत्वदीर्घत्वादिलक्षणानि लोके सर्ववस्तूनि, अयं तु न तथा, 'अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम् (बृ. ३.८.८) इत्यादिश्रुतेः । पुनस्तमेव प्रपञ्चवैलक्षण्येन निरूपयति–**अदृश्यत्वादिगुणक इति । **दृश्यत्वपरिच्छिन्नत्वादिगुणकः कार्यप्रपञ्चः, अयं तु तद्रहित इत्यर्थः । 'अदृष्टं द्रष्टृ' (बृ. ३.८.११) इत्यादिश्रुतेः ॥२९॥**

श्रुतियों का उपदेशक्रम है अध्यारोप-अपवादः हमें उपलब्ध द्वैत की ऐसी व्याख्या करना कि वह ब्रह्म से अन्य किसी सत्ता-स्फूर्ति वाला न रहे–यह अध्यारोप है और द्वैत कभी नहीं है केवल ब्रह्म ही है–यह समझाना अपवाद है । अध्यारोप का प्रयोजन अपवाद ही होता है । बिना अध्यारोप के अपवाद संभव नहीं क्योंकि 'ब्रह्म प्रपंच नहीं, ब्रह्म में प्रपंच नहीं' कहने पर यही समझ आयेगा कि ब्रह्म से स्वतंत्र प्रपंच कुछ है, न कि यह कि वह है ही नहीं । ब्रह्म से अतिरिक्त कहीं नहीं हो सकता यह निर्णीत हो चुकने पर जब कहते हैं कि ब्रह्म में नहीं है तभी पता चलता है कि सर्वथा नहीं है । जैसे जीवात्मा से सत्ता-स्फूर्ति पाने वाला शरीरादिसंघात उसकी उपाधि है ऐसे ईश्वर से सत्ता-स्फूर्ति पाने वाला सारा ही संसार उसकी उपाधि है, सारे संसार को ही संक्षेप में कहने के लिये उसके परिणामी उपादान माया का नाम ईश्वरोपाधिरूप में लिया जाता है । सोपाधि रूप ही तत्, ईश्वर आदि शब्दों का वाच्य है और उपाधि छोड़कर आत्मा उनका लक्ष्य है । ईश्वर का परिचय देने के लिये उसका स्वरूप एवं तटस्थ द्विविध लक्षण बताना चाहिये । जिसका ज्ञान किसी पदार्थ की सही पहचान करा देता है उसे उस पदार्थ का लक्षण कहते हैं। कोई धर्म या विशेषता ही लक्षण हो ऐसा नियम नहीं । पदार्थ का स्वरूप ही हो और उसका ज्ञान पदार्थ की पहचान करा दे तो उस स्वरूप को स्वरूपलक्षण भी कहा जाता है । पदार्थ की पहचान तो कराये लेकिन पदार्थ से वस्तुतः संबद्ध न हो–ऐसे को तटस्थ लक्षण कहते हैं । निषेधमुख से बताने पर जिसका निषेध करते हैं उसका अभाव क्योंकि अधिकरणस्वरूप होता है, इसलिये उसे स्वरूपलक्षण भी कहा जा सकता है और क्योंकि वह अभाव प्रतियोगिसापेक्षरूप से भासने के कारण अधिकरण से वस्तुतः असंबद्ध होता है इसलिये उसे तटस्थलक्षणं भी कहा जा सकता है । फिर भी अकेला निषेधक वाक्य क्योंकि भाववस्तु का बोध नहीं करा पाता, इसलिये उसकी विधि-वाक्यों से एकवाक्यता जाननी ही पड़ती है । अतः आचार्य श्लोक २९-३० द्वारा दोनों तरह समझा रहे हैं; ये दोनों श्लोक मिलकर एक वाक्य हैं । निषेध की पूर्वोक्त विशेषता दर्शाने के लिये उसका

उल्लेख पहले है । लोक में भी प्रायः वस्तु के बारे में गलतफहमी का निषेध पहले करते हैं फिर सही बात बताते हैं जैसे 'यह पेड़ लंगड़े का नहीं देशी आम का है' । जिसके बारे में भ्रम हो यह संभव है वहाँ की यह प्रक्रिया है, अन्यथा केवल विधान पर्याप्त होता है । ईश्वर के बारे में तो भ्रमों की कमी ही नहीं ! इस दृष्टि से भी निषेधमुख से ईश्वर समझाने से प्रारंभ है । सुविधा के लिये पहले एक ही श्लोक का विचार कर सकते हैं–

सारे संसार के दोष जिसमें निरस्त हो चुके हैं, स्थूल न होना आदि जिसका परिचायक है, न दीखना आदि जिसके गुण हैं, तम-रूप मल जिससे परे किया जा चुका है (वह 'परमात्मा' यों कहा जाता है ।) ॥२१॥

विश्वेश्वरपण्डित की योजनानुसार 'पराकृततमोमलः' अतः 'निरस्ताशेषसंसारदोषः'–यह पहला वाक्यांश है और बाकी दोनों शब्द प्रपंच की वस्तुओं से विलक्षणता बताते हैं । उन्होंने तम से अविद्या, संसार से प्रवृत्ति, और दोष से राग समझे हैं । इस प्रकार निरस्तादिपद से आध्यात्मिक विशेषताओं का तथा द्वितीय वाक्यांश से बाह्य विशेषताओं का निषेध है ।

यद्यपि यहाँ बताया परमात्मा शुद्ध ब्रह्म है, निर्विशेष है तथापि क्योंकि प्राप्ति होने पर ही निषेध घटता है इसलिये यह प्राप्ति-दशा को उपस्थित कर देता है जो सविशेष स्वरूप हो जाता है । इतना ही नहीं, यहाँ कहे शब्द भी ऐसे हैं जो ईश्वर का बोध करा सकें–संसार के दोष उसमें नहीं हैं, स्थूल आदि होना (अर्थात् भूत-भौतिक होना) उसका लक्षण नहीं, दीखना आदि उसका गुण नहीं (क्योंकि दीखते आदि तो महाभूत हैं) और तमोगुण का मल उसमें नहीं (प्रयोग वह भले ही तमोगुण का करे, उसका मल अर्थात् प्रमादादि कार्य ईश्वर में नहीं) । इस प्रकार सविशेष समझा कर फिर क्योंकि महावाक्य में आये तत्पद से सविशेष अभिप्रेत नहीं इसलिये लक्षणा से निर्विशेष को समझा देता है । 'दोष' शब्द गुणादि का भी लक्षक हो जाता है; स्थूलादि के आदि में यद्यपि स्वरसतः स्थूलसजातीय सूक्ष्म का ही ग्रहण करना चाहिये तथापि तात्पर्यानुसार कारण का भी ग्रहण लक्षणा से हो जाता है; अदृश्यत्वादि में भी श्रवणीय स्प्रष्टव्यादि ही ग्राह्य थे पर अभिप्रायानुसार सभी गुणों की अर्थात् धर्मों की लक्षणा है और तम से तीनों ही गुणों की लक्षणा है । किंच समस्त नञ्पद भिन्न या भेद का वाचक है जबकि उसकी अत्यन्ताभाव में लक्षणा है । इस प्रकार निषेध वाक्य भी वाच्य व लक्ष्य दोनों समझाता है यह अभिप्राय है ।

अशेष-विशेषण से स्पष्ट किया कि वैष्णवादि को संमत 'दिव्य' संसार भी ईश्वर से सदा सम्बद्ध नहीं है । कुछ आधुनिक भक्तिसूत्रव्याख्याता दिव्य लोकादि को मिथ्या स्वीकारने में डरते लगते हैं किंतु शांकरमर्यादा में किसी नाम-रूप को सत्य मानने का कोई प्रावधान नहीं । व्यावहारिक सत्य में अखण्डज्ञानबाध्यत्व एकसमान रहेगा । इससे अतिरिक्त किसी अपेक्षा से कोई तारतम्य माना जाये तो हर्ज़ नहीं । प्रातिभासिक होने पर भी शब्द के क्रम आदि को विशेष दर्ज़ा मिले जो मृगी के जल को न मिले यह संगत है । ऐसे ही कालिक दीर्घता आदि किसी विशेषता से 'दिव्य'

को अधिक व्यावहारिक कह सकते हैं किंतु वह पारमार्थिक नहीं हो सकता । संसार के दोष जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि एवं काम-क्रोधादि सभी समझने चाहिये । अवतार शरीर जन्मादि वाले हैं अतः मायिक ही हैं, वे भी सत्य नहीं कहे जा सकते ।

अस्थूलादि से यह श्रुति सूचित है–'एतद्वै तदक्षरं गार्गि ! ब्राह्मणा अभिवदन्ति अस्थूलम् अनणु अह्रस्वम् अदीर्घम् अलोहितम् अस्नेहम् अच्छायम् अतमः अवायु अनाकाशम् असंगम् अरसम् अगन्धम् अचक्षुष्कम् अश्रोत्रम् अवाग् अमनः अतेजस्कम् अप्राणम् अमुखम् अमात्रम् अनन्तरम् अबाह्यम् न तदश्नाति किञ्चन न तदश्नाति कश्चन ।' (बृ. ३.८.८) । स्थूल-अणु-ह्रस्व-दीर्घ के निषेध से आकार का निषेध-है । अलोहित से तेज का, अस्नेह से जल का, अच्छाय से पृथ्वी का, अतम से अँधेरे का निषेध है । अवायु और अनाकाश से बाकी दो भूतों का भी निषेध हो गया । असंग से सम्बंधमात्र का निषेध है । सम्बंध से ही स्पर्श का पता चलता है अतः असंग से ही स्पर्श का निषेध हो गया । अरस से रस का व अगंध से गंध का निषेध है । अचक्षुष्क से रूप का और अश्रोत्र से शब्द का निषेध है । अवाक् से सभी कर्मेंद्रियों का निषेध समझना चाहिये । अमनः से अंतःकरण का, अतेजस्क से संस्कारों का (संस्कार ही विशेषों को प्रकाशित करते हैं अतः तेज हैं), अप्राण से प्राणों का, अमुख से कामना का (क्योंकि सारी प्रवृत्ति कामनापूर्वक होती है इसलिये कामना मुख है) और अमात्र से अविद्या का निषेध है (अविद्या में से ही मापे हुए नाम-रूप बाहर आते हैं अतः वह मात्रा है) । अनंतर से स्वगत और अबाह्य से सजाति-विजाति भेदों का निषेध है । 'न तद्' आदि से उसके कर्तृत्व-भोक्तृत्व का निषेध है और 'न तदश्नाति कश्चन' से उसकी ज्ञेयता (व्याप्यता अर्थात् फलव्याप्ति का) निषेध है ।

इसी प्रकार अदृश्यत्वादि से यह श्रुति निर्दिष्ट है–'यत्तद् अद्रेश्यम् अग्राह्यम् अगोत्रम् अवर्णम् अचक्षुःश्रोत्रम् तद् अपाणिपादम्' (मुं. १.१.६) । अद्रेश्य से गुण का निषेध है, अग्राह्य से गुणी का निषेध है, अगोत्र से कारण का और अवर्ण से कार्य का निषेध है तथा अंतिम दो शब्दों से क्रमशः ज्ञानेन्द्रियों का व कर्मेन्द्रियों का निषेध है । अद्रेश्य से ज्ञानेन्द्रियविषयता का और अग्राह्य से कर्मेन्द्रियविषयता का निषेध भी समझ सकते हैं, अथवा तैत्तिरीय में (२.७) 'अदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयने' आये हैं वे अदृश्यत्वादि से समझने चाहिये । अनात्म्य से शरीर का निषेध है, अनिरुक्त से वाच्यता का निषेध है और अनिलयन से अधिष्ठान का निषेध है, ईश्वर का कोई अधिष्ठान नहीं, अप्रतिष्ठा अर्थात् वह स्वयं की ही प्रतिष्ठा में स्थित है ! पराश्रित प्रतीत होते हैं, अतः अदृश्यता आदि को गुणशब्द से कहा । पूर्वविशेषण में महाभूतादि का भी निषेध था जो पराश्रित नहीं प्रतीत होते अतः केवल 'लक्षण' शब्द का प्रयोग था ।

तम अर्थात् अज्ञान । उसके मल हैं आवरण-विक्षेप । उनका ईश्वर में निषेध है । सविशेषपक्ष में केवल आवरण को मल माना जा सकता है । 'निरस्त' और 'पराकृत' शब्दों का अभिप्राय है कि संसारदोष एवं तमोमल हटाये जा चुके हैं अर्थात् पहले प्रतीयमान थे । बिना गंभीर विचार के ईश्वर की भी लीलाओं को सुनकर लगता है कि उनमें भी तम, दोष आदि हैं । भले ही महान् सामर्थ्यशाली हों लेकिन हमारी तरह ही हैं ऐसी प्रतीति हो जाती है । उपासना संभव बनाने

के लिये ईश्वर ने जो रूप प्रकट किये वे ही यह भ्रम भी पैदा कर देते हैं । वाच्य समझने के लिये वह भ्रम हटाना तो अनिवार्य है अन्यथा ईश्वर के नाम पर देवता ही समझे जाते रहते हैं । लक्ष्य समझते समय सभी दोषादि का निराकरण करना पड़ता है ।

—२९—

विधिमुखेन स्वरूपलक्षणम्

निरस्तातिशयानन्दः सत्यः प्रज्ञानविग्रहः ।

सत्तास्वलक्षणः पूर्णः परमात्मेति गीयते ॥३०॥

*यत्तु 'साक्षाद् विधिमुखेन' (श्लो. २८) इत्युक्तं, तत् प्रपञ्चयति—**निरस्तातिशयेति** । एतावता परमात्मपदार्थस्य कथं निर्धारणम् ? इत्याशंक्याह—**सत्तेति** ॥३०॥*

एवम् अततो व्यावृत्त्या तदर्थं निरूप्य इदानीं विधिमुखेन चिन्तनाय श्रुतिनिर्दिष्टं विधिस्वरूपं निरूपयति— निरस्तेति । **निरस्ता मनुष्याद्युत्तरोत्तरशतगुणातिशया आनन्दा यस्मिन् स तथोक्तः, अपरिमितानन्द इत्यर्थः । लोके आनन्दस्य अनित्यत्वदर्शनाद् आत्मनः आनन्दरूपत्वेन अनित्यत्वशङ्कायाम् अन्तःकरणवृत्त्यभिव्यक्तानन्दस्यैव अनित्यत्वं, न स्वरूपानन्दस्य इत्याह—**सत्य इति । **ननु आनन्दस्य वेद्यत्वात् कथं सत्यता ? इत्यत आह—**प्रज्ञानविग्रह इति । **स्वरूपानन्दस्य ज्ञानरूपत्वाज्ज्ञेयत्वानुपपत्तेः सत्यत्वं सिद्धमित्यर्थः । लोके ज्ञानस्य अनित्यत्वदर्शनाद् आत्मनो ज्ञानरूपत्वेऽनित्यत्वं स्याद् ? इत्याशङ्कायाम्; आह—**सत्तास्वलक्षण इति । सत्तास्वलक्षणः **सन्मात्रस्वरूपः । आत्मसत्ताया अपि घटादिवस्तुसत्तावत् परिच्छिन्नता ? इत्यत आह—**पूर्ण इति । **घटादीनां स्वतः सत्तैव नास्ति, किन्तु आत्मसत्तासमवायात् सत्त्वम्, अतः सर्वाधिष्ठानभूतायाः सत्ताया अपरिच्छिन्नत्वाद् न तस्मिन् मायाकल्पितघटादिसमतेत्यर्थः ।**

ननु सत्यानंदस्वरूपिणं धीसाक्षिणं ज्ञानविग्रहम् इति अत्र (श्लो. १२) सत्यानंदस्वरूपस्य प्रतिपादितत्वात् किमर्थं 'निरस्तातिशयानन्दः सत्यः प्रज्ञानविग्रह' इत्यनेनापि पुनः पुनः प्रतिपाद्यते ?—इति न पौनरुक्त्यं शंकनीयम्; मम उभयत्र कथनस्य प्रयोजनत्वात् । जीवपरयोरैक्यं तूभयोरेकरूपत्वे सम्भवति अतः तयोः एकरूपप्रतिपत्त्यर्थं पूर्वं त्वंपदलक्ष्यत्वेन प्रतिपादितम्, इदानीं तत्पदलक्ष्यत्वेन—इति न दोषः ॥३०॥

उपनिषत् की आनंद की संकल्पना बेजोड़ है । संभवतः वेदान्त से अन्य कोई दर्शन या धर्म ईश्वर को, या आत्मा को, आनंदरूप नहीं मानते । सुखी तो मानने वाले बहुतेरे हैं पर सुख मानने वाले दुर्लभ हैं । इसी से अन्यों की अपेक्षा वेदान्तानुसार सुख का स्वरूप भी विलक्षण है । अतः एव कुछ नासमझ वैष्णव 'शर्करा-तद्भोजिनोरिव' अर्थात् जैसे शक्कर होना नहीं वरन् शक्कर खाना पुरुषार्थ है ऐसे विष्णु बनना नहीं वरन् विष्णु की सन्निधि पाना मोक्ष है—यह मानते हैं ! क्योंकि सुख और अनुभव अभिन्न पदार्थ है इसलिये ऐसी कल्पनायें व्यर्थ हैं । सुख विषयनिरूपित ही होता है इस मान्यता से भी विरुद्ध वेदान्त सिद्धान्त में स्वीकार है कि सुख (आनंद) निरपेक्ष वस्तु है, भ्रमवश उसे सविषय समझा जा रहा है । ईश्वर की पुरुषार्थता में प्रमुखता उनके आनंदरूप की है यह द्योतित करने के लिये उसी का प्रारंभ में उल्लेख कर आचार्य विधिमुख से ईश्वर का स्वरूपभूत लक्षण बताते हैं—

असीम आनंद, सत्य, ज्ञानात्मक, सन्मात्रस्वरूप पूर्ण को परमात्मा ऐसा कहा जाता है ॥३०॥

निरपेक्ष व नित्य होने से ही आनंद की असीमता है । सुषुप्ति या समाधि का निर्विषय सुख इस आनंद की संभावना नकारने नहीं देता । ईश्वर आनंद व ज्ञान एक साथ है । सुख जब ज्ञान से एकमेक होता है तभी भासमान आनंद रूप पुरुषार्थ होता है अतः असीम आनंद क्योंकि ज्ञानस्वरूप है इसलिये परम पुरुषार्थ है । ईश्वर के लिये परमात्मा शब्द उपक्रमानुसारी (श्लो. ६) तो है ही, जीव ईश्वर की एकता आत्मरूप से है यह भी सूचित करता है । परमात्मा कोई मान्यता या श्रद्धा नहीं वरन् सत्य है, उसका बाध कभी नहीं होता । शास्त्र एकस्वर से उसे नित्य विद्यमान बताते हैं । कुछ शास्त्रानुसर्ता दार्शनिक भी अनीश्वरवाद के समर्थक हैं लेकिन गंभीरता से सोचने पर पता चलता है कि ईश्वर के निषेध में उनका तात्पर्य नहीं है बल्कि अपने तात्पर्य-विषय के महत्त्व को स्थापित करने के लिये वे यहाँ तक बढ़ गये कि 'ईश्वर नहीं है' कह डाला । यदि ऐसा न हो, वे वास्तव में ईश्वरनिषेधक हों, तो अवश्य भ्रांत और शास्त्रविरोधी हैं । गैरशास्त्रीय लोकायत आदि जो ईश्वरनिधेष करते हैं उसमें कोई प्रमाण नहीं देते अतः उनके कहने का विचार करना ही व्यर्थ है । सत्य में अबाध्यता है और 'सत्' कहते हैं 'है' ऐसे अनुभव में आने को । सारे संसार में जो हैबुद्धि अनुगत है वह 'है'-पदार्थ को अभिन्न और जगदुपादान (या जगदधिष्ठान) सिद्ध करती है, वही पदार्थ ईश्वर है । इसी से पंचदशी आदि में बताया कि 'ईश्वर है' यों ईश्वर के साथ 'है'-शब्द का प्रयोग पुनरुक्ति है फिर भी कहना पड़ता है क्योंकि वाक्य-विन्यास का ऐसा ढंग प्रचलित हो गया है कि उसमें कोई-न-कोई तिङन्त (लकारयुक्त धातु) होना चाहिये । तार्किक सत्ता को महासामान्य मानता है जबकि वेदांत में सत् को ही सत्ता कहते हैं, तल्-प्रत्यय स्वार्थ में ही मानते हैं । सबसे निरपेक्ष, अपने में बेजोड़ स्वरूप वाले को स्वलक्षण कहते हैं । परमात्मा सद्रूप से स्वलक्षण है । घटादि तो ईश्वर से तादात्म्य के कारण सत् हैं–'है' लगते हैं–जबकि स्वयं ईश्वर बिना कारण है । निरपेक्ष अनंत को पूर्ण कहते हैं । पूर्ण में किसी के प्रति आकांक्षा, अपेक्षा नहीं होती । यद्यपि आनंद से अनंत कह दिया जाता है क्योंकि भूमा अर्थात् अनंत ही आनंद है तथापि वह केवल अंत का निषेध होने से विधिमुख नहीं है; अनंत को ही विधिमुख से पूर्ण कहा जाता है । पूर्णता का चमत्कार उपनिषत् ने बताया कि उसमें से पूर्ण निकलने पर भी बचता पूर्ण ही है ! शोधित होने पर भी त्वमर्थ में यह पूर्णता ही नहीं है जो ईश्वर में हमेशा है । 'परमात्मा' ऐसा कहा जाता है–इस विन्यास से सूचित किया कि ईश्वर को भी विषयतया कहना-समझना इष्ट नहीं क्योंकि वह विषय है नहीं । ईश्वरोपासना के लिये भी बादरायण महर्षि ने नियम किया कि 'मैं' रूप से ही ईश्वरोपासना करनी चाहिये । जीवताभिमान रहते यही संभव है कि हम ईश्वर को विषय समझें लेकिन प्रारंभ से ही वास्तविकता स्पष्ट रखनी चाहिये ताकि चिंतन की दिशा न बिगड़े । यहाँ कहे विशेषणों में से प्रत्येक भी लक्षण है और सब मिलकर भी । ये सभी स्वरूप हैं और जानने चाहिये इसलिये सबका उल्लेख जरूरी है। इस समग्र रूप को जानना ही पुरुषार्थ है । जब तक कहा जाने का विषय है तब तक वाच्य है और वह विषय भी नहीं तब लक्ष्य है ।

विधिमुखेन–तटस्थलक्षणम्

सर्वज्ञत्वं परेशत्वं तथा सम्पूर्णशक्तिता ।
वेदैः समर्थ्यते यस्य तद् ब्रह्मेत्यवधारय ॥३१॥

*श्रुतिसिद्धं तटस्थलक्षणं विवक्षन्नाह–**सर्वज्ञेति** । 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' (मुं. १.१.९) 'सर्वेश्वरः' (बृ. ४.४.२२) 'सर्वशक्तिः' (   ) इत्यादिवाक्यानि वेदशब्देन गृहीतानि ॥३१॥*

एवं क्रमाच्छ्लोकद्वयेन अतद्व्यावृत्त्या विधिमुखत्वेन च चिन्त्यत्वेन निरुपाधिकं ब्रह्म निरूप्य, तन्निःसंशयज्ञानाय मायोपाधिकमेव षड्भिः श्लोकैर्दर्शयति । तत्र उपादानात् सर्वज्ञस्य विचित्रकार्यजगन्निमित्तकारणत्वानुपपत्तेः सर्वज्ञत्वादिलक्षणकथनेन तस्यैव जगन्निमित्तकारणत्वमर्थाज्ज्ञापयति–सर्वज्ञत्वमिति । **'यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः । तस्माद् एतद् ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते' (मुं. १.१.९) इत्यादिभिः 'पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते' (श्वे. ६.८) इत्यादिभिः** वेदैः **च** यस्य सर्वज्ञत्वं परेशत्वं **पूर्णशक्तित्वं च** समर्थ्यते तद् ब्रह्म इति अवधारय **इत्यन्वयः ॥३१॥**

स्वरूप दुर्बोध होता है । परिचय के लिये तटस्थ या औपाधिक लक्षण पहले अपेक्षित होता है । किंतु पहले बताने से यह भ्रम न हो जाये कि वह प्रधान है इसलिये स्वरूप बताकर तटस्थ समझाते हैं–

वेदों द्वारा जिसकी सर्वज्ञता, परम-ईशता व संपूर्णशक्तिता का समर्थन किया जाता है उसे ब्रह्म समझो ॥३१॥

तात्पर्य है कि सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् निरंकुश शासक ईश्वर है । 'ता' जोड़कर बताया कि ये धर्म ईश्वर में भासते हैं । ये धर्म ही ईश्वरत्व हैं । ईश्वरत्व कल्पित है यही सिद्धांत है । जगत्-परमेश्वरत्व-जीवत्व– ये अज्ञान से कल्पित हैं और व्यापक तत्त्व को सखण्डता से मानो कलुषित किये हैं ऐसा संक्षेपशारीरक के प्रारंभ में बताया है । सर्वज्ञता अर्थात् ज्ञानरूप होते हुए सबका अधिष्ठान होने से जिससे कुछ अज्ञात नहीं रहता उस सर्वज्ञ की विशेषता, क्योंकि इसमें सबकी सापेक्षता है इसलिये यह स्वरूप नहीं, तटस्थ परिचायक है । अंतर्यामी और बहिर्यामी दोनों होने से वह परम-ईश है । उस पर अन्य का नियमन नहीं इससे भी वह परम है । कर्म करने की स्वतंत्रता उसी की दी हुई है और कर्म-फल व्यवस्था उसी की बनायी हुई है अतः तदनुरूप फलदान से उसके स्वातंत्र्य का विघात नहीं । ईश्वर की शक्ति स्वाभाविक है एवं हजारों तरह के ज्ञानों व क्रियाओं के रूप में उसका विलास उपलब्ध होता है, बल, तेजस्विता आदि के तारतम्य से क्रियाशक्ति के नाना भेद होते हैं और प्रमाण, संशय आदि ज्ञानशक्ति के भेद हैं । ईश्वर की शक्ति का प्रतिघात कभी नहीं इससे वह संपूर्ण है । हर पदार्थ में कोई न कोई शक्ति अर्थात् सामर्थ्य है जिससे पता चलता है कि उसके उपादान में वैसी सामर्थ्य है अतः सर्वानुगत सत् जैसे ईश्वररूप है वैसे सर्वानुगत शक्ति भी ईश्वररूप है ।

वेद समर्थन करते हैं से बताया कि तटस्थ रूप किसी-न-किसी तरह लोकप्रसिद्ध है अतः वेद का चरम तात्पर्य उसमें नहीं, केवल समर्थन करते हैं, अनुमोदन करते हैं । इतना अवश्य है कि लोकप्रसिद्ध रूप जितने अंश में अध्यारोपापवाद-प्रक्रिया के प्रतिकूल है उसका निषेध कर उसके अनुकूल ढंग से वेद ईश्वर का तटस्थ रूप बताता है । अतः अवांतर तात्पर्य से तटस्थ को बताया जाता है यह भाव है । जिस ब्रह्म का जीव से अभेद कहा है उसका यही तटस्थ लक्षण है यह निश्चय करना चाहिये, इससे विरुद्ध लक्षणों वाले से अभेद नहीं कहा जा रहा है । यह लक्षण तटस्थ अतः अद्वैतसाक्षात्कार में बाधित हो जाता है ।

उपनिषदा परिचये-छान्दोग्योपनिषत्

यज्ज्ञानात् सर्वविज्ञानं श्रुतिषु प्रतिपादितम् ।

मृदाद्यनेकदृष्टान्तैस्तद् ब्रह्मेत्यवधारय ॥ ३२ ॥

यत्तु सन्मात्रत्वेन पूर्णत्वमुक्तम् (श्लो. ३०) तत् कथं सम्भवति ? इत्यपेक्षायामाह–**यज्ज्ञानेति** । 'येनाश्रुतं श्रुतं भवति' (छां. ६.१.३) 'आत्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञाते इदं सर्वं विदितं भवति' (बृ. ४.५.६) 'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति' (मुं. १.१.३) इत्येवंविधानि श्रुतिशब्देन गृह्यन्ते । **मृदाद्यनेकदृष्टान्तैः** इति 'आदि'शब्देन लोहमणि-नखनिकृन्तन-दुन्दुभि-शंखादयो दृष्टान्ताः तद्विकाराणां तत्प्रकृतिव्यतिरेकेण अभावप्रतिपादकाः स्वीक्रियन्ते, तेषु हि कारणेषु ज्ञातेषु तदतिरिक्तकार्याभावात् ज्ञातव्यविशेषो नास्ति इति विवक्षितम् । तैरेतैः सन्मात्रे ज्ञात आकाशाद्यभावेन सन्मात्रज्ञानतो ज्ञातमेव सर्वम् इति प्रतिपादितम् । तच्च सन्मात्रं ब्रह्मेत्यर्थः ॥ ३२ ॥

ब्रह्मणो निमित्तकारणत्व उपादानकारणं किम् ? इत्यपेक्षायाम्, सर्वकार्यानुगतस्यैव उपादानत्वम् इति दर्शयितुम् आत्मविज्ञानात् सर्वविज्ञानप्रतिपादनेन आत्मनः सर्वकार्यानुगममर्थादाह–यदिति । **'उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाऽश्रुतं श्रुतं भवति अमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति'** (छां. ६.१.३) **इति एकविज्ञानेन सर्वविज्ञाने प्रतिज्ञाते 'कथं नु भगवः स आदेशो भवति' इत्याक्षेपमवतार्य 'यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद् वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्'; 'मैत्रेय्यात्मनि खलु अरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदं सर्वं विदितम्'** (बृ. ४.५.६) **इत्यादिश्रुतौ यद्विज्ञानात्** सर्वविज्ञानं मृदाद्यनेकदृष्टान्तैः प्रतिपादितं तद् ब्रह्म इति अवधारय **इत्यन्वयः** ।

अयमभिप्रायः–श्रुत्युक्तमात्मज्ञानात्सर्वविज्ञानम् आत्मनः सर्वानुस्यूतत्वभावेन संभवति अतः सर्वविज्ञानान्यथानुपपत्त्याऽऽत्मनः सर्वानुस्यूतत्वं सिद्धम् । तच्च अनुस्यूतत्वम् उपादानत्वमन्तरेण न सम्भवति इति उपादानत्वं ब्रह्मण आक्षिपतीति । तथा सति एवं प्रयोगः–विमतं कार्यं स्वानुगतोपादानजन्यं भवितुमर्हति, कुतः ? कार्यत्वाद्, घटवद् इत्यनुमानेन प्रपंचस्य ब्रह्मोपादानत्वमुक्तं भवति । 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' (तै. ३.१) इत्यादिश्रुतिरपि प्रपञ्चस्य ब्रह्मोपादानत्वे प्रमाणम् ॥ ३२ ॥

ईश्वरवादी प्रायः निमित्तरूप ईश्वर ही स्वीकारते हैं । औपनिषद दर्शन में ईश्वर संसार का न केवल निमित्त वरन् उपादान भी है, उसने केवल बनाया ही नहीं, बना भी वह स्वयं ही है । इसलिये हमारे सभी व्यवहार ईश्वर से संबद्ध हैं क्योंकि जो कुछ हमारे संमुख आ रहा है वह ईश्वर का ही ग्रहण किया रूप है । दुरुपयोग, धोखाधड़ी, मलिनीकरण आदि की प्रवृत्ति पर स्वतः प्रतिबंध हो जाता है यदि इस बात का अहसास बना रहे । है यह भी तटस्थ रूप क्योंकि जिन नाम-रूपों को ग्रहण किया है वे मिथ्या हैं । ईश्वर के उपादान रूप के आधार पर ही उपनिषदें अनेक जगह कहती हैं कि परमात्मा जान लेने से सब कुछ जान लिया जाता है । जैसे मिट्टी जान लें तो मिट्टी से बना सभी कुछ जान लिया जाता है या अधिष्ठानभूत रस्सी जान लें तो अध्यस्त सर्प माला जलधारा आदि सभी कुछ जान लिया जाता है वैसे ब्रह्मज्ञान से ही सब जाना जाता है । नाम-रूप मिथ्या हैं अतः उन्हें जानना अज्ञान है, सत्य को जानना ही ज्ञान कहा जाता है । अतः सब जानने का मतलब ही है कि सबकी सचाई जानना और वह सचाई परमात्मा ही है । यद्यपि सभी उपनिषदें समान श्रद्धेय हैं तथापि वेदांत के ग्रंथों में छांदोग्य उपनिषत् की–उसमें

भी श्वेतकेतु विद्या की–चर्चा अधिक आती है । सर्वाधिक प्रसिद्ध महावाक्य 'तत्त्वमसि' उसी प्रसंग में आया है । वाक्यवृत्ति में भी (श्लो. ६) तत्त्वमसि के आधार पर ही विचार चलाया था । जीव-स्वरूप तो अपरोक्ष होने से उसके शोधन में ही विशेष प्रयास चाहिये, उसे प्रमाणित नहीं करना पड़ता । ईश्वर अपरोक्ष न होने से उसे प्रमाणपूर्वक बताना भी जरूरी है । अतः कुछ उपनिषदों के द्वारा ईश्वर समझाना छांदोग्य के प्रसंग से प्रारम्भ करते हैं–

जिसे जान लेने से सभी कुछ जान लिया जाता है यह बात मिट्टी आदि कई उदाहरणों से श्रुतियों में समझायी गयी है वह ब्रह्म है यह निश्चय करो ॥ ३२ ॥

श्वेतकेतु गुरुगृह से लौटा तो उसके पिता ने पूछा 'क्या तूने वह उपदेश भी ग्रहण किया जिससे वह सब सुना, सोचा और जाना हो जाता है जिसे कभी सुना, सोचा और जाना न हो ?' जब पुत्र ने उस विद्या से अनभिज्ञता प्रकट कर वह पाने की इच्छा की तब पिता ने समझाया 'एक मिट्टी के पिंड से वह सब जान लिया जाता है जो मिट्टी से बनता है क्योंकि कार्य तो कहने भर को हैं, सचाई तो सबमें मिट्टी ही है । सोने और लोहे के भी एक टुकड़े से सभी स्वर्णमय व लोहमय कार्यों का ज्ञान हो जाता है । इसी प्रकार वह तत्त्व है जिसे जान लें तो सब कुछ जान लिया जाता है । यह जो कुछ व्यक्त जगत् अनुभव में आ रहा है यह पहले केवल एक अकेला सत् ही था । उस सत् ने बहुत होने की इच्छा की और तेज, जल व पृथ्वी उत्पन्न कर दिये । जीवरूप से सत् ने ही प्रवेश किया एवं नाम-रूप का विभाजन किया । तीनों महाभूतों को आपस में उसी ने मिला दिया । अनुभूयमान रोहित रूप तेज का है, शुक्ल जल का और कृष्ण पृथ्वी का । व्यवहार में आने वाली आग में ये तीनों रंग हैं और तीनों उस-उस भूत के रूप हैं । उन तीन रूपों से अन्य आग कुछ नहीं है, तीन रूप ही सत्य हैं । आदित्य, चंद्रमा, बिजली आदि सभी का सच्चा स्वरूप ये तीन रूप ही हैं । यह जान लिया तो संसार की सब चीजें जान लीं क्योंकि हर चीज़ में ये ही तीन रूप मिलेंगे । अन्न खाते हैं, वह भी तीन तरह परिपक्व होता है–स्थूलतम विकार है मल, मध्यम है मांस और सूक्ष्म है मन । पिये जल के भी तीन विकार हैं–मूत्र, खून और प्राण । तेज (घृतादि) खाने पर भी तीन परिणाम हैं–हड्डी, मज्जा और वाक् । इस प्रकार अध्यात्म-अधिभूत सभी कुछ इन तीन का ही विन्यासविशेष है अतः तीनों जान लेने से सबका पता चल जाता है ।

जहाँ तक जीव का सवाल है, यह जब गहरी नींद में जाता है तब उसी सत् से एकमेक हो जाता है । मन तो प्राण से बँधा हुआ है । सुषुप्ति में जीवात्मा सत् से और जीव की उपाधि सबकी उपाधि माया से एक हुए रहते हैं । जीव के शरीर से भी विचार प्रारम्भ करें तो सत् समझ आ जायेगा । शरीर कार्य है तो इसका कारण भी होगा । अन्न ही इसका कारण है । अन्न का कारण जल और जल का कारण तेज है । तेज का कारण वह सत् ही है । सारी प्रजा सत् से ही उत्पन्न हुई, स्थित है और लीन भी सत् में ही होती है । इस प्रपंच का आत्मा सत् ही है, वही परमार्थ सत्य है, वही प्रत्यक्तत्त्व है । श्वेतकेतु ! वह सत् ही तू है ।

इस प्रकार सत् के ज्ञान से सर्वविज्ञान की प्रतिज्ञा कर उसे सबका हेतु और जीव का भी वास्तविक स्वरूप बताया है । वह सत् ही तत्पदार्थ ईश्वर है; कारणरूप से समझा वह सविशेष है और कारणता के अपवाद से समझा वही निर्विशेष है । छांदोग्य से अतिरिक्त बृहदारण्यक व मुंडक में भी जिसका ज्ञान सर्वज्ञता देता है उसे ब्रह्म समझाया है, ब्रह्मसूत्र में (१.४.२३) एक-विज्ञान से सर्वविज्ञान की प्रतिज्ञा के आधार पर परमात्मा न केवल निमित्त वरन् उपादान भी है यह विस्तार से समझाया है । भाष्यकार ने अनेक जगह स्पष्ट किया है कि ईश्वर का ईश्वरत्व अविद्याकल्पित है, पारमार्थिक नहीं–'अविद्यात्मकोपाधिपरिच्छेदापेक्षमेव ईश्वरस्येश्वरत्वं सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तित्वं च, न परमार्थतः' (सूत्रभा. २.१. सू. १४) । 'यत्र नान्यत्पश्यति' (छां. ७.२४) आदि श्रुति और 'न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः' (गी. ५.१४) आदि स्मृति से वे इस तथ्य को समर्थित करते हैं । व्यावहारिक अर्थात् ईश्वरत्व वाला ईश्वर तत्पद का वाच्य है और पारमार्थिक अर्थात् ईश्वरत्व से रहित ईश्वर तत्पद का लक्ष्य है । 'वह ब्रह्म है' अर्थात् उक्त ढंग से बताया सत्तत्त्व ही पहले वाच्य समझना पड़ेगा, फिर उपाधि मिथ्या होने से उसे छोड़कर सच्चिदानंद को लक्ष्य करना होगा यह भाव है ।

–३२–

तैत्तिरीयोपनिषत्

यदानन्त्यं प्रतिज्ञाय श्रुतिस्तत्सिद्धये जगौ ।

यत्कार्यत्वं प्रपञ्चस्य तद् ब्रह्मेत्यवधारय ॥ ३३ ॥

छान्दोग्यश्रुत्या सन्मात्रं ब्रह्मेत्युक्तम् । सम्प्रति तैत्तिरीयकश्रुत्या सत्यं ज्ञानमनन्तानन्दात्मकं ब्रह्मेत्याह– ***यदानन्त्येति*** *। 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' (तै. २.१) इति सूचितस्य ब्रह्मणो लक्षणबुभुत्सया 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्' इति सत्यज्ञानात्मकस्य* ***आनन्त्यं*** *सर्वप्रकारपरिच्छेदाभावरूपं* ***प्रतिज्ञाय;*** *द्वैतभेदे सति कथमेतद् ? इत्यपेक्षायाम्; आनन्त्यसिद्ध्यर्थं द्वैतप्रपञ्चस्य आकाशादिलक्षणस्य प्रकृतब्रह्मकार्यत्वं 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' (तै. २.१) इत्यादिश्रुतिः विकारस्य प्रकृतिव्यतिरेकेण अभावमभिसन्धाय उक्तवतीति । तथा च ब्रह्मण आनन्त्यं प्रसिद्धमित्यर्थः ॥ ३३ ॥*

एवं प्रपञ्चब्रह्मणोः श्रुत्या कार्यकारणभाव उक्तः । किमर्थं तदुक्तम् ? इत्याकांक्षायां तावत् प्रपंचस्य ब्रह्मकार्यत्वोक्तौ प्रयोजनमाह–यदिति । परमार्थतो देशकालाद्यभावे विकल्पितदेशकालवस्तुपरिच्छेदाद् न ब्रह्मण आनन्त्यम् । ब्रह्मण आनन्त्यं नाम–सर्वत्र सर्वदा सर्ववस्तुषु अधिष्ठानरूपेण अनुस्यूतत्वम् । अथवा–ब्रह्मण आनन्त्यं नाम सजातीय-विजातीय-स्वगतनानात्वशून्यत्वम् । इदं जगत् प्रतीतिकालेऽपि विमुक्ताविव संभवति, जगतां मायामयत्वेन परमार्थतः कदाचिदपि अभावात् । 'एकमेवाऽद्वितीयम्' (छां. ६.२) इति आनन्त्यं प्रतिज्ञाय तस्य अद्वितीयत्वसिद्धये प्रपञ्चस्य ब्रह्मकार्यत्वं श्रुतिर्जगौ तद्गानं कृतवती प्रपञ्चस्य ब्रह्मकार्यत्वे श्रुतिसिद्धे सति उपादानकारणकार्ययोः भेदाभावाद् ब्रह्मण आनन्त्यं सिद्धमित्यर्थः । एतेन–प्रपञ्चस्य ब्रह्मकार्यत्वकथनं ब्रह्मण आनन्त्यसिद्ध्यर्थमिति–प्रयोजनमुक्तम्; न तु ब्रह्मज्ञानात् प्रपञ्चे नष्टे सति स्वयमेव ब्रह्मण आनन्त्यं सिद्धं भवति । तथा च सति 'प्रपञ्चस्य ब्रह्मकार्यत्वोक्त्या किं क्रियते ?' इति न शंकनीयम् ।

यदि अस्य प्रपञ्चस्य ब्रह्मणि कल्पितत्वेन रज्जुसर्पवद् अधिष्ठानापनोद्यत्वात् प्रपञ्चाभावे ब्रह्मण आनन्त्यं सिद्धमेव तथापि प्रपञ्चाधिष्ठानब्रह्मविचाराऽसमर्थान् मुमुक्षून् भेददृष्टीन् उद्दिश्य भेदसूचके प्रपञ्चे प्रत्यक्षसिद्धे सत्यपि ब्रह्मण आनन्त्यं सिद्धं भवति, श्रुत्या तयोः कार्यकारणभावस्य प्रतिपादितत्वात्, कार्यस्य कारणनित्यत्वाद्, इति ब्रह्मानन्त्यस्य श्रुतिसिद्धस्य सिद्धत्वज्ञापनार्थत्वात् कार्यकारणत्वोक्तेः । एवं ज्ञापिते प्रपञ्चे सत्यपि ब्रह्मण आनन्त्यसिद्धौ सत्यां ब्रह्मणः सर्वाकारत्वाद् मुमुक्षूणां ब्रह्मानन्यत्वेन स्वेषामेव सर्वाकारब्रह्मत्वं ज्ञातं स्यात् । ततस्तेषां प्रपञ्चाऽधिष्ठानब्रह्मविचारसामर्थ्यं भवेत् । ततो विचारोत्पन्नापरोक्षज्ञानेन अज्ञाततत्त्वार्थभूते देहादिप्रपञ्चे नष्टे सति मुमुक्षूणाम् अपरिच्छिन्नब्रह्माकारत्वसिद्धिः प्रयोजनमित्यर्थाज्ज्ञायते ॥ ३३ ॥

सामवेद की तरह यजुर्वेद में भी अनन्त परमात्मा को समझाने के लिए उसे सर्वकारण बताया है । 'तत्तु समन्वयात्' (१.१.४) 'गतिसामान्यात्' (१.१.१०) 'सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात्' (३.३.१) आदि ब्रह्मसूत्रों से निर्णीत है कि परमात्मा को सारा ही वेद एक स्वरूप वाला बताता है अतः वेद के सभी परमात्मप्रसंगों का परिशीलन तत्त्वबोध में उपयोगी है । अब तैत्तिरीय उपनिषत् के आधार पर ईश्वरवर्णन करते हैं–

जिसकी अनन्तता की प्रतिज्ञा कर श्रुति ने उस अनंतता को सिद्ध करने के लिए प्रपंच को जिसका कार्य बताया है वह ब्रह्म है यह अवधारण करो ॥ ३३ ॥

तैत्तिरीय की ब्रह्मवल्ली में प्रारम्भिक घोषणा है कि ब्रह्म का जानकार परमार्थ पा लेता है । वह ब्रह्म क्या है ? यह जिज्ञासा होने पर बताया–सत्य ज्ञान अनंत ब्रह्म है । प्रश्न हुआ कि द्वैत उपस्थित रहते परमात्मा अनंत अर्थात् अपरिच्छिन्न कैसे, कम-से-कम वस्तुपरिच्छेद वाला तो होना ही पड़ेगा ? तब उत्तर दिया कि आकाशादि सारा द्वैत उस ब्रह्म से ही पैदा हुआ है, उसी में मौजूद है, उसी में लीन होता है अतः परमात्मा से संसार भिन्न वस्तु है ही नहीं कि उसे परिच्छिन्न कर सके । विश्वेश्वर पण्डित इस श्लोक को भी छांदोग्य के संदर्भ में ही समझाते हैं । वहाँ भी 'एक ही अकेला था' यों अनंतता की प्रतिज्ञा कर सत् से प्रपंचोत्पत्ति कही है, वह इसीलिये कि प्रपंच परमात्मा का परिच्छेदक नहीं यह समझ आये । प्रपंच मिथ्या है यह जानने पर ही अनंत ब्रह्म स्फुट होता है, उसे अनंत जानने के लिए प्रंपच को नष्ट नहीं किया जाता । पण्डित जी मानते हैं कि ब्रह्मविचार की सामर्थ्य पाने के लिए भी इस परिस्थिति का चिंतन करते रहना चाहिये कि प्रपंच परमात्मा का कार्य होने से उनसे स्वतंत्र सत्य नहीं है, उनकी अपेक्षा से ही इसकी सत्यता है । इससे विवेक-वैराग्यादि का उन्मेष होगा ।

तैत्तिरीय का प्रसंग स्वरूप लक्षण बताकर तटस्थ लक्षण से ब्रह्म का परिचायक है । जड-अनृत-परिच्छिन्न को व्यावृत्त करने के लिए ब्रह्म को सत्य ज्ञान अनंत बताया । यह वाक्य लक्षणा के सहारे शुद्ध ब्रह्म का स्वरूप बताता है । सत्यादि शब्द सीधे ही परमार्थ नहीं बता सकते क्योंकि इनकी शक्ति व्यावहारिक में ही ग्रहण की जाती है, अतः लक्षणा से वे परमार्थ के सूचक हैं । उस ब्रह्म को जानना पाँच कोशों की गुफा में ही है; इस गुफा में जो अज्ञान स्थित है उसी से परमात्मा छिपा

है । बाह्य जगत् समेत पाँचों कोशों से आत्मबुद्धि हट जाने पर जब बुद्धि अंतर्मुखी होती है तभी सब उपाधियों से रहित ब्रह्म का साक्षात्कार संभव है । साक्षात्कार से असीम एकरस आनंदरूप मोक्ष अधिगत हो जाता है । जगत् को ब्रह्म का कार्य कहकर ब्रह्म को अनंत समझाना ही अभिप्रेत है । इस उपनिषत् के विचार से भी ब्रह्म उक्तस्वरूप है, यह निश्चय करना चाहिये ।

– ३३ –

वृहदारण्यकोपनिषत्

विजिज्ञास्यतया यच्च वेदान्तेषु मुमुक्षुभिः ।

समर्थ्यतेऽतियत्नेन तद् ब्रह्मेत्यवधारय ॥ ३४ ॥

*अथ यथोक्तरीत्या सर्वेषां तत् प्रसिद्धं चेद् ब्रह्म, तर्हि कथं कर्मिणः संसाररसिका न ब्रह्म वेदितुमुत्सहन्ते ? तत्राह–**विजिज्ञास्येति** । 'तद्विजिज्ञासस्व' (तै. ३.१.१) 'सोन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः' (छां. ८.७.१) 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यः' (बृ. २.५.४) 'पण्डितो मेधावी' (छां ६.१४.२) इत्येवंविधानि वाक्यानि **वेदान्तशब्देनोच्यन्ते** । **अतियत्नेन** शमदमादिगुणराशिसम्पादनद्वारेणेति यावत् ॥ ३४ ॥*

इदानीं प्रपञ्चाधिष्ठानब्रह्मविचाराऽसमर्थान् मुमुक्षून् उद्दिश्य प्रपञ्चोपादानस्य ब्रह्मणो विचार्यत्वं श्रुतिमूलं दर्शयति– विजिज्ञेति । **'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' (तै. ३.३) इत्यादिवेदान्तवाक्येषु** मुमुक्षुभिरतियत्नेन **विचार्यत्वेन** समर्थ्यते **'ब्रह्म विचारयितव्यम्'** इति, तद् ब्रह्मेत्यवधारय **इत्यन्वयः । अथ जगत्कारणं ब्रह्म, तद्विचारयितव्यम् इति तटस्थलक्षणकथनार्थत्वेन अपि कार्यकारणत्वोक्तेः प्रयोजनमुक्तमिति द्रष्टव्यम् ॥ ३४ ॥**

श्रुति ने जानने लायक कहा है तो सिर्फ एक परमात्मा को । उनसे अन्य कुछ भी जानने योग्य नहीं कहा । बताया वेद में बहुत कुछ है लेकिन बारम्बार जानने लायक, अनुभव करने योग्य, सुनने योग्य, सोचने लायक आदि कहकर एक परमात्मा ही विज्ञेय स्थापित किया है । ब्रह्म को जानने से जीव का बंधन तभी मिट सकता है जब जीव ब्रह्म हो, अतः जीव को अपना बंधन खोलने के लिए परमात्मा को जानने के लिए कहना यह निर्णीत कर देता है कि जीव परमात्मा से अन्य नहीं है । मोक्षार्थ विज्ञेय होना, अपने विज्ञान से बंधन समाप्त करना–यह भी परमात्मा का लक्षण है । इसे सूचित करते हुए यजुर्वेद की ही बृहदारण्यक उपनिषत् के आधार पर ब्रह्म का वर्णन करते हैं–

वेदान्तों में अतियत्न से जो मुमुक्षुओं के लिए विज्ञेय बताया गया है उसे ब्रह्म समझो ॥ ३४ ॥

वेदान्तों का 'अतियत्न' है बार-बार तात्पर्यतः बताना । किं च वेदान्तों ने मोक्षेच्छुकों को भी कहा है कि शम-दम आदि बटोरने का अथक परिश्रम कर परमात्मा को जानना चाहिये अतः उनसे भी अतियत्न अपेक्षित है । आनंदगिरि स्वामी बताते हैं कि शमादि न होने से ही व्यक्ति परमात्मजिज्ञासु नहीं हो पाता अतः परमात्मा प्रत्यक् व अनंत होने पर भी हमें साक्षात् नहीं होता जिससे शमादि के विधानार्थ यह श्लोक है । विश्वेश्वर पण्डित तैत्तिरीय की ही भृगुवल्ली का इस श्लोक से परामर्श करते हैं । वहाँ वरुण ने भृगु को कहा है 'जिससे ये भूत पैदा होते हैं, जीवित रहते हैं, जिसमें

लीन होते हैं, वह ब्रह्म है, उसे जानने की कोशिश करो ।' भृगु ने तप से अन्नमय आदि कोशों को लांघकर आनंदरूप ब्रह्म का साक्षात्कार प्राप्त किया ।

बृहदारण्यक में मैत्रेयीब्राह्मण में याज्ञवल्क्य ने कहा है कि केवल आत्मा ही दर्शनीय है, उसी का श्रवण-मनन-निदिध्यासन करना चाहिये, उसी के दर्शन, श्रवण, मनन और विज्ञान से यह सब जान लिया जाता है । आत्मवर्णन वहाँ कैसे किया यह श्लोक २४ में बता चुके हैं । हर हालत में यह ब्रह्म की विज्ञेयता को प्रधान कर उसका स्वरूप बताया है । वैसे 'विजिज्ञास्य' का अर्थ है विज्ञान अर्थात् अनुभव की इच्छा का विषय होना । ब्रह्म को जानने की इच्छा करनी चाहिये यह भी बृहदारण्यक में कहा है । सबको वश में रखने वाले, सबके ईशान, सबके अधिपति सर्वेश्वर आदि शब्दों से परमेश्वर का उल्लेख कर याज्ञवल्क्य ने जनक को बताया कि यज्ञ, दान, तप आदि से इसे ही जानने की इच्छा करनी चाहिये । ब्रह्मज्ञान की इच्छा भी दुर्लभ है । प्रायः नाम-रूप को जानने की ही इच्छा होती है, उसे छोड़ने की नहीं । अतः यज्ञादि से पहले वैसी इच्छा पाने को कहा है, इच्छा होने पर बाकी सब काम छोड़कर श्रवणादि में तत्पर हो ज्ञान पाना चाहिये । किं च वेदान्त में घटादिविज्ञान स्थल में भी विषयगत ब्रह्मचैतन्य ही अज्ञात रहने पर प्रमेय और ज्ञात होने पर फल कहा जाता है । अतः सर्वत्र ही वही एक विज्ञेय है । यों हर अनुभव में विज्ञेय होना यह ईश्वर का लक्षण केवल शांकर सिद्धांत में प्रसिद्ध है ।

— ३४ —

ऐतरेयोपनिषत्

जीवात्मना प्रवेशश्च नियन्तृत्वं च तान् प्रति ।

श्रूयते यस्य वेदेषु तद् ब्रह्मेत्यवधारय ॥ ३५ ॥

*तर्हि कर्मकर्तृभावेन जीवब्रह्मणोर्भेदः स्याद् ? इत्याशंक्याह—**जीवेति** । तथापि नियम्यनियन्तृत्वभावेन भेदतादवस्थ्यम् ? इत्याशंक्य, कल्पितं भेदमादाय तदुपपत्तिमभिप्रेत्याह—**नियन्तृत्वं चेति** । **वेदेषु** 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' (तै. २.६.१) 'स एष इह प्रविष्टः' (बृ. १.४.७) 'अनेन जीवेन' (छां. ६.३.२) 'य आत्मनि' (बृ. माध्यं ३.७.३०) इति 'अन्तः प्रविष्टः शास्ता' (   ) इत्यादिवाक्येष्विति यावत् ॥ ३५ ॥*

यद्यपि कार्यत्वदृश्यत्वादिहेतुना वाऽधिष्ठानज्ञानापनोद्यत्वेन वा प्रपञ्चस्य असत्त्वे सति विजातीयभेदो ब्रह्मणि निरस्तः, तथापि जीवानां प्रपञ्चविलक्षणत्वेन सजातीयत्वे सति तद्भेदनिरासः कथम् ? इत्यत आह— जीवेति । 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' इत्यादिवेदान्तवाक्येषु ब्रह्मण एव जीवरूपेण कार्यकारणानुप्रवेशः श्रूयते । तत्तदुपाधिभेदात् कल्पितभेदमन्तरेण स्वाभाविकभेदाभावात् सजातीयभेदो नास्तीति भावः ।

आत्मनः स्वाभाविकभेदोऽस्तीति वदन् वादी प्रष्टव्यः—आत्मभेदः किं दृश्यो वाऽदृश्यो वा ? आद्ये, किमात्मना दृश्यः ? अन्येन वा ? अन्यस्य अचेतनत्वेन द्रष्टृत्वानुपपत्तेः आत्मनेति वक्तव्यम् । तथा च सति आत्मदृश्यस्य श्वेतपीतत्वादेः आत्मधर्मत्वमन्तरेण तद्दृश्यभूतपटादिधर्मवद् आत्मदृश्यस्य भेदस्यापि आत्मदृश्यभूतदेहादिधर्मत्वं वक्तव्यम्, न अदृश्यात्मधर्मत्वम्, अदृश्याश्रयधर्मस्तु द्रष्टृबोधवद् दृश्य एव स्यात् । इदं तु स्मर्तुमपि न शक्यं, न ह्येकस्य

द्रष्टृत्वं दृश्यत्वं च सम्भवति । वस्तुनो द्वैरूप्याऽसम्भवात् । तस्माद् नाद्यः । तर्हि आत्मभेदस्तु अदृश्य इति चेद् ब्रूषे ? अस्मत्सखो भवसि, आत्मभेदस्याऽदृश्यत्वे स एव नास्तीत्युक्तं भवति । ननु परं द्रष्टुर्भेदो दृश्यते तथापि न प्रतीयत इति चेन्न । तत्सद्भावे प्रमाणाभावाद् आत्मभेद एव असत्यः स्यात् । तस्माद् न द्वितीयः ।

किं च आत्मभेदः किम् आत्मनोऽभिन्नो भिन्नो वा ? अभिन्नश्चेद्, आत्मव्यतिरेकेण पृथङ्निरूपणाऽसंभवाद् आत्मन एकत्वमेव स्याद् नानेकत्वं, भेदस्य आत्मस्वरूपत्वात् । भिन्न इति चेत् ? तर्हि तद्भिन्नः तत्त्वादिवदन्यधर्म एव स्यात् । न तद्द्रष्टृभूतात्मधर्मत्वम् । तस्मादात्मनि भेदगन्धो नास्त्येव ।

तथापि निरवयवस्य निर्विकारस्य निर्मूलस्य आकाशस्य एकत्वेऽपि घटमठाद्युपाधिभेदेन यथा घटाकाशो मठाकाश इत्यादिभेदभ्रान्तिः स्याद्, एवम् उपाधिभेदाज्जीव ईश्वर इत्यादिभेदव्यवहारो भवतीत्यलं विस्तरेण । न च तस्यात्मन एकत्वे दाडिमादिफलवत् स्वान्तर्गतभेदः स्याद् इति वाच्यम्; 'स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघनः एवैवं वा अरेऽयमात्माऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव' (बृ. ४.५.१३) 'एकमेवाऽद्वितीयं ब्रह्म' (छां. ६.२.१) 'नेह नानाऽस्ति किञ्चन' (बृ. ४.४.१९) इत्यादिश्रुत्या सैन्धवघनशार्करखण्डादिवद् एकरसत्वप्रतिपादनाद्, निरवयवत्वाच्च स्वगतनानात्वमात्मनो नास्तीत्यर्थः ।

ननु तर्हि ब्रह्मण एव कार्यकारणानुप्रवेशाज्जीवरूपेण अवस्थानेन तादात्म्याद् बहुत्वं स्याद् ? इत्याशंक्य; कार्यकारणोपाधिसंहतस्य अंशवत् प्रतीयमानस्य जीवस्यैव आविद्यको बन्धो भवति, न असंहतस्य ईश्वरस्य, 'भीषास्माद् वातः पवते' (तै. २.८) इत्यादिना जीवनियन्तृत्वश्रवणाद् इत्यभिप्रेत्याह—नियन्तृत्वं चेति । अयमाशयः—यथा शरावादिप्रतिबिम्बितस्य सूर्यस्य व्योमस्थस्य च भेदाभावेऽपि प्रतिबिम्बगतचलनादिकं बिम्बे नाऽऽयाति, एवं बुद्धिस्थचिदाभासरूपजीवगतरागद्वेषसुखदुःखात्मकं बंधनं बिम्बभूते ब्रह्मणि नारोहति । एवं शरावादिषु प्रतिबिम्बितेषु सूर्येषु मध्य एकस्य चलनम् अन्यस्य यथा न संभवति, तद्वज्जीवानामपि एकस्य बन्धनमन्यस्य नायाति इति । किं च बुद्धिस्थचिदाभासस्य रागद्वेषसुखदुःखात्मकबन्धनं स्वाभाविकं न भवति किन्तु तप्तायःपिण्डे दग्धृत्वारोपवद् बुद्धिगतमेव रागद्वेषादिकम् अविवेकाच्चिदाभासे त्वारोप्यते । तथा सति केवलात्मनो नास्तीत्यत्र किमु वक्तव्यम् ! न च नीरूपस्य आत्मनः कथं प्रतिबिम्बमिति वाच्यम्, नीरूपस्याकाशस्य सनक्षत्रस्य जले प्रतिबिम्बभावदर्शनाद् इति ।

अथवा ब्रह्मण एव जीवत्वे स्वस्यैव स्वयं नियन्तृत्वमनुपपन्नम्, अतः को नियन्ता ? इत्याकांक्षायां; सर्वज्ञत्वपरमेश्वरत्वादिलक्षणरहितस्य जीवस्य नियन्तृत्वानुपपत्तेः ब्रह्मण एव उपाधिभेदाद् नियन्तृत्वमुपपद्यत इत्याह— नियन्तृत्वं चेति ॥ ३५ ॥

ईश्वर के पाँच कृत्य माने गये हैं–प्रपंच पैदा करना, स्थिर रखना, नष्ट करना, जीवरूप से प्रवेश करना और जीवों का नियंत्रण करना । अंतिम दो कृत्यों वाले रूप का परिचय इस श्लोक में करा रहे हैं–

वेदों में जिसके बारे में सुना जाता है कि उसने जीव रूप से प्रवेश किया और जीवों का नियंत्रण करता है, वह ब्रह्म है यह समझो ॥ ३५ ॥

तैत्तिरीय, बृहदारण्यक, छांदोग्य आदि अनेक जगह वेद में स्पष्ट किया है कि ब्रह्म ही जीवरूप से शरीर में प्रविष्ट हुआ और व्यापकोपाधि से वही उनका शासक भी बना रहता है । इसीलिये जीव-ब्रह्म में भेद नहीं हो सकता । शासित और शासक की कल्पित उपाधियाँ विभिन्न हैं जिनसे शासनव्यवस्था भी चल जाती है । अत एव विज्ञेय होने पर भी वह जीव से अन्य नहीं हो जाता ।

विश्वेश्वरपंडित कहते हैं कि जीव भी हैं तो आत्मा अतः ईश्वर में सजातीय भेद की प्रसक्ति है जिसका निरास यहाँ प्रवेश बताकर किया है । आत्मा में स्वाभाविक अर्थात् निरुपाधिक भेद हो ही नहीं सकता यह उन्होंने विस्तार से समझाया है । आत्मभेद है यह सिद्ध तभी हो जब आत्मा उसे जाने और ज्ञेय होने पर वह आत्मा से अन्य ही होगा तथा अन्य वस्तु से आत्मा में सच्चा परिच्छेद नहीं आता । ['द्रष्टृबोधवद् दृश्य' की जगह 'अदृश्य' पाठ होना चाहिये । 'इदन्तु' से भेदस्यात्मरूपत्वन्तु को समझना चाहिये । आगे 'तथापि न प्रतीयते' में 'प्रमीयते' पाठ संगत होगा ।] जैसे आत्मा से ज्ञेय हो तो, अज्ञेय हो तो, दोनों हालतों में आत्मभेद सिद्ध नहीं होता ऐसे ही वह आत्मा से भिन्न हो या अभिन्न दोनों हालतों में सत्य नहीं हो पाता । अतः उपाधिकल्पित ही आत्मभेद संभव है । बिंब जैसे दर्पण में प्रवेश करता है तो दर्पण के प्रतिबंध केवल प्रतिबिम्ब पर रहते हैं न कि बिम्ब पर वैसे प्रविष्ट रूप जो जीव है वही बद्ध है, ईश्वर नहीं । बुद्धि के रागादि अविवेकवश आत्मा पर आरोपित होने से जीव रागादि वाला प्रतीत होता है । बिंबभूत ईश्वर नियंता बना रहता है ।

साम और यजु के वाक्यों के बाद ऋग्वेद के वाक्य परमात्मा को कैसे समझाते हैं वह बताया जा रहा है । ऐतरेय उपनिषत् में प्रारम्भ किया–पहले एक आत्मा ही था, और कुछ नहीं । उसने विचारपूर्वक लोकों की रचना की और लोकपाल बनाये । उसने विराट् पुरुष बनाया जिसके तत्तद् अंग से इंद्रियाँ, प्राण आदि उत्पन्न हो गये । भूखे-प्यासे देवता परिच्छिन्न शरीरों की माँग करने लगे तो गाय, घोड़े के बाद आत्मा ने मनुष्य बनाया जिसमें गोलकादि के अनुसार देवता प्रवेश कर गये । फिर आत्मा ने अन्न बनाया । अन्न बन जाने पर भी परिच्छिन्न शरीर उसका ग्रहण कई तरह करने की कोशिश करता रहा लेकिन असफल रहा, अंत में अपान द्वारा उसने ग्रहण किया । लेकिन फिर भी शरीर कुछ संपन्न करने में समर्थ नहीं हो पा रहा था । आत्मा ने सोचा, 'मेरे बिना यह कैसे कुछ करेगा ।' उसने अपने प्रवेश के लिए उचित मार्ग निर्णीत किया और उसी से शरीर में घुस गया । प्रवेश हो जाने पर उसकी तीन अवस्थायें हो गयीं । आत्मा ने जब इसी पुरुष को व्यापक ब्रह्म समझ लिया तब उसे सत्यदर्शन हो गया । यहाँ प्रवेश और नियामक रूप स्पष्ट हैं, जीवरूप से कुछ भी करना तभी संभव है जब ईश्वर ने प्रवेश कर लिया अतः पूर्ण नियंत्रण उसी का है । प्रवेश व नियमन भी तटस्थ लक्षण हैं ।

कौषीतक्युपनिषत्

कर्मणां फलदातृत्वं यस्यैव श्रूयते श्रुतौ ।
जीवानां हेतुकर्तृत्वं तद् ब्रह्मेत्यवधारय ॥ ३६ ॥

*'एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते, एष एवाऽसाधु कर्म कारयति यमेभ्यो लोकेभ्योऽधो निनीषते' (कौ. ३.८) इति श्रुतिमाश्रित्याह–**कर्मेति** । **जीवानां** कर्तृत्वव्यवस्थितानां **हेतुकर्तृत्वं** कारयितृत्वमिति यावत् ॥ ३६ ॥*

यत एवमतो जीवकृतपुण्यापुण्यमिश्रकर्मणां फलदातृत्वमपि तस्यैवेति श्रुतिषु श्रूयत इत्याह–कर्मणामिति । **'फलमत उपपत्तेः' (ब्र. सू. ३.२.३८) इत्यस्मिन्नधिकरणे कर्मण एव फलदातृत्वं, कर्मणा पूजितस्य परमेश्वरस्य वा ? इति संशये; अपूर्वावान्तरद्वारा कर्मणः फलदातृत्वमिति पूर्वपक्षं कृत्वा; अचेतनत्वादपूर्वस्य फलदातृत्वानुपपत्तेः कर्मणा पूजितस्य परमेश्वरस्य कालान्तरदेशान्तरदेहान्तरभाविफलदातृत्वोपपत्तेः अपूर्वकल्पनं मुधा–इति राद्धान्तितम् । एवम् एतदधिकरणे, तद्विषयवाक्ये च; 'तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् । भवामि न चिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ गी. १२.७ ॥ तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान् । क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥' १६.१९ ॥ इत्यादिस्मृतौ च, अद्वयस्य परमेश्वरस्य कर्मफलदातृत्वं** श्रूयते; तद् ब्रह्मेत्यवधारय **इत्यर्थः ।**

न केवलं जीवानां कर्मफलदातृत्वं ब्रह्मणः, किन्तु कारयितृत्वं च तस्यैवेत्याह–जीवानां हेतुकर्तृत्वं **कारयितृत्वम् । तत्र श्रुतिः**–'एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते, एष एवाऽसाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते' (कौ. ३.८) इति । उन्निनीषते–ऊर्ध्वं नेतुमिच्छति, अधो निनीषते–अधो नेतुमिच्छति । इत्यादिश्रुत्या कारयितृत्वं श्रूयते, तद् ब्रह्मेत्यवधारयेत्यर्थः । **ननूपाधिभेदात् कारयितृत्वे सत्यपि ब्रह्मणः स्वांशजीवविषयोन्निनीषाऽधोनिनीषा च कथमुपपद्यते ? इत्याशंक्य; यथा पितुः स्वाज्ञामनुवर्तमाने, तामुल्लंघ्य वर्तमाने पुत्रे पुत्रत्वे समाने सत्यपि तयोर्व्यवहारतः प्रीतिः द्वेषश्च संभवति, तथाऽत्रापि परमेश्वरस्य स्वाज्ञारूपश्रुतिस्मृत्युक्तमार्गे श्रद्धावति द्वेषवति च जीवे व्यावहारिकी प्रीतिः द्वेषश्च संभवति । ततस्तत्प्रीतिद्वेषमूला जीवविषयोन्निनीषाऽधोनिनीषा च ब्रह्मण्युपपद्यत इति वेदितव्यम् । एवं मायोपाधिकब्रह्मणः सर्वज्ञत्वपरमेश्वरत्वादिलक्षणकथनेन निर्विकल्पब्रह्मणः परमेश्वरस्यैव औपाधिको भेदो विद्यत इति गम्यते । किं चैतच्छ्रवणलक्षणब्रह्मतादात्म्यज्ञानाज्जीवस्यापि ब्रह्मत्वे सर्वज्ञत्वादि लक्षणं स्यादिति सूचितम् ॥ ३६ ॥**

कर्मफलव्यवस्था स्वीकारना भारतीय दर्शनों की विशेषता है किन्तु औपनिषद सिद्धान्त परमेश्वर को कर्मफल देने वाला स्थापित करता है जबकि अन्य दर्शन जड कर्म में ही ऐसी सामर्थ्य मानते हैं कि वह कालांतरभावी व्यवस्थित फल दे सकता है जो मान्यता दृष्टविरुद्ध और असंगत है । जैसे नौकर के काम का जानकार मालिक कालांतर में योग्य फल देता है ऐसे ईश्वर ही अच्छे-बुरे कर्मों को जानता है और उचित समय पर उचित फल देता है यही दृष्टानुसारी युक्तियुक्त व्यवस्था है । बृहदारण्यकभाष्य में इस प्रसंग पर विस्तृत चर्चा है (३.८.९) और वार्तिक में (३.८. श्लो. १४७–५९) भी उसे स्पष्ट किया है । किन्तु जो समस्या अद्वैती के सामने प्रमुख है वह यह कि

क्या जीव कर्म करने में स्वतंत्र है या ईश्वर के अधीन ? यदि स्वतंत्र हो तो ईश्वर के स्वातंत्र्य को सीमित मानना पड़ता है और ईश्वराधीन हो, तो ईश्वर पर अन्यायी होने का कलंक लगता है–वह पहले पाप कराता है फिर उसका दण्ड देता है ! ऋग्वेद की ही कौषीतकि उपनिषत् के प्रसंग के प्रदर्शन से ईश्वर का कर्मसम्बन्धी रूप दिखाकर श्लोक २९ से चले तत्पदार्थप्रकरण का उपसंहार करते हैं–

श्रुति में जिसके ही बारे में सुना जाता है कि वह कर्मों का फल देने वाला है और करने वाले जीवों से कर्म कराने वाला है, वह ब्रह्म है यह अवधारण करो ॥ ३६ ॥

कौषीतकि में कथा है : प्रतर्दन के पौरुष पर प्रसन्न इंद्र ने उससे वर माँगने को कहा तो प्रतर्दन बोला 'आप मनुष्य के लिए सर्वाधिक हित जिसे समझें वह मुझे दीजिये ।' इंद्र ने कहा 'सर्वाधिक हित तो मैं यही मानता हूँ कि आत्मा का ज्ञान पाये । प्राण और प्रज्ञा–ये उपाधियाँ आत्मा को समझने में अत्यंत कारगर होती हैं । किन्तु इन उपाधियों का जो प्रयोग करने वाला प्रत्यक् है उसे पहचानना है । इंद्रियादि अध्यात्म और बाह्य विषय सर्वथा विलग पदार्थ नहीं हैं और इसीलिये इनका आपसी सम्बंध व्यवस्थित है । जो सबका पालक, लोकों का अधिपति सर्वेश है वही इस जीव को सत्फल प्राप्त कराना चाहता है तो इससे सत्कर्म कराता है और दुष्फल प्राप्त कराना चाहता है तो दुष्कर्म कराता है । उस ईश्वर को ही अपना आत्मा जानना चाहिये ।' इस उपदेश में स्पष्ट है कि कर्म कराने वाला और फल देने वाला ईश्वर है । इससे जो अन्यायिता का दोष आता है उस पर सूत्रकार ने (२.३.४२) विचार किया है जिसका सार भाष्यकार ने बताया है कि करता तो जीव ही है लेकिन सामर्थ्यप्रदान आदि से ईश्वर यह संभव कर देता है कि वह करे इसलिये उसे कराने वाला कहते हैं । जीव ने जैसा पूर्व में किया होता है उसकी अपेक्षा से ईश्वर उससे पुनः कराता है और यह परंपरा है अनादि, अतः ईश्वर पर उक्त कलंक नहीं 'परायत्तेऽपि हि कर्तृत्वे करोत्येव जीवः । कुर्वन्तं हि तम् ईश्वरः कारयति । अपि च पूर्वप्रयत्नमपेक्ष्य इदानीं कारयति पूर्वतरं च प्रयत्नमपेक्ष्य पूर्वमकारयद् इत्यनादित्वात् संसारस्य इत्यनवद्यम् ।' श्रुतिकृत विधि-निषेध की अन्यथानुपपत्ति और हम सभी का स्वानुभव दोनों से यही समझ आता है कि जीव पर ईश्वर का शासन होने पर भी कुछ अंश तक उसका स्वातंत्र्य भी है । हम पूर्ण स्वतंत्रता का अनुभव नहीं करते लेकिन यह भी नहीं लगता कि सब कुछ करने में हम परतंत्र ही हैं । आत्मा होने से स्वाभाविक स्वातंत्र्य हममें रहता ही है, उपाधिवश वह सीमित भले ही है । जिस स्वतंत्रता का हमें अनुभव है उसी का हम सदुपयोग या दुरुपयोग करते हैं और जब हम करते हैं तब ईश्वर हमें वह सारी सामग्री सामर्थ्य आदि प्रदान कर देते हैं जिससे हम जो कर रहे हैं वह कर पाते हैं । जो सदुपयोग या दुरुपयोग हमने किया है उससे हमें अच्छा-बुरा फल मिल जाता है । इससे ईश्वरस्वातन्त्र्य में कमी इसलिये नहीं आती कि जीवरूप से भी तो ईश्वर ही उपस्थित है । विभिन्न उपाधियों से एक परमात्मा ही अपनी स्वतंत्र शक्ति का उपयोग कर रहा है अतः अन्याय आदि का प्रसंग ही नहीं । अतएव ईश्वर का परम स्वातंत्र्य केवल अद्वैत सिद्धांत में समझ आ सकता है, बाकी मत या उस पर कोई नियंत्रण

मानने को मजबूर होते हैं और या उसे अन्यायी मानना पड़ता है । ईसाई धर्मानुसारी विचारक इस समस्या से त्रस्त रहते हैं कि ईश्वर यदि करुणा वाला और सर्वसमर्थ है तो सबका दुःख तुरंत क्यों नहीं मिटा देता ? विभिन्न चिंतकों ने इस प्रश्न पर ऊहापोह की है । द्वैत के सत्य रहते इसका हृदयग्राही उत्तर संभव ही नहीं । क्योंकि जीवरूप से स्वतंत्रतापूर्वक वही दुःख बटोर रहा है इसलिये सर्वसमर्थ रहते हुए भी उसे तुरंत मिटा नहीं रहा । केवल ईश्वर और केवल जीव के स्वातंत्र्य की रक्षा संभव नहीं, दोनों रूपों वाले अभिन्न आत्मा का स्वातंत्र्य ही युक्तियुक्त समझ आता है । जीव हेतुफलावेश से ग्रस्त है, अतः कदाचित् कल्पना करे भी कि 'हेतुफलव्यवस्था का लंघन हो जाये तो कैसा हो ?' फिर भी उसका निश्चय यही है कि वह व्यवस्था है और इसलिये यदि कोई ऐसी घटना हो जाये जो प्रतीत हो कि व्यवस्थानुसारी नहीं तो वह तत्परता से खोजता है कि वह घटना किस व्यवस्था से हुई । अपवादों के अनुसंधान से ही सूक्ष्मतर नियमों की जानकारी मिलती है । अतः जीव को यह आवेश रहते ईश्वर विभिन्न हेतु ही उसके सामने रखते हैं जिनसे वह इष्ट गंतव्य की ओर जाने के लिए कदम उठाये । पूर्व में उठाये कदमों से जो अपने चारों ओर जीव ने घेराबंदी कर रखी है वह उसकी गतिविधि में बाधक बनती ही है क्योंकि हेतुफलव्यवस्था के यह अनुरूप ही है । क्योंकि जीव हुआ भी है ईश्वर ही इसलिये यह उसी की स्वतंत्रता है । जब वह उक्त आवेश छोड़ देता है तब कहीं कोई दुःख है ही नहीं । इस प्रकार न्याय, करुणा, सर्वसामर्थ्य, स्वतंत्रता सभी को अद्वैतानुसार समझना चाहिये ।

ब्रह्मसूत्रों में आद्योपान्त ईश्वरविषयक अनेक निर्णय दिये गये हैं जिनका यह सूत्रवार संक्षेप है :-

१.१.१. – ईश्वर जिज्ञासा के योग्य है ।

२ – इस जगत् के जन्मादि का वह हेतु है ।

३ – वह शास्त्र का उत्पादक और उसी से समझा जा सकता है । शास्त्र से भी अधिक अर्थात् सभी कुछ जानता है ।

४ – वेद का वह प्रधान प्रतिपाद्य है ।

५ – वह विचारपूर्वक सृष्टि करता है ।

२० – वह सब पापों से रहित है । साधकों पर अनुग्रह करने के लिए इच्छावश मायामय रूप धारण करता है ।

२१ – अन्तर्यामी है इसलिये उसे शासित जीव से अलग समझना चाहिये । १.३.८ में भी बताया है कि जीव की अपेक्षा ईश्वर में कुछ विशेषता है । १.३.५ में ज्ञेय होने के कारण ज्ञाता जीव से अलग है यह कहा है । १.३.४२ में समझाया है कि सुषुप्ति व मरण में भी वह जीव से भिन्न बना रहता है ।

१.२.२. – ईश्वर सत्यसकंल्प आदि गुणों वाला है ।

११ – वही जीव के भी हृदय में प्रविष्ट है ।

१३ – वह आत्मा, अमृत, अभय है, सब दोषों से अस्पृष्ट है ।

१५ – वह व्यापक आनंद है ।

१६ – अपनी उपासना से उत्तरायण गति प्रदान करता है ।

१८ – वह अंतर्यामी है ।

२१ – वह सर्वज्ञ और सर्ववित् है ।

२३ – उसका विराट् रूप है जिसके मूर्धादि द्यूलोकादि हैं ।

१.३.१ – ईश्वर ही जगत् का आयतन है ।

२ – मुक्तों द्वारा वह प्राप्य है ।

५ – वह ज्ञेय है ।

१० – आकाशपर्यन्त सबका धारण करता है ।

११ – वही प्रशासक है ।

१३ – ॐकार से ईश्वर उपासनीय है ।

१४ – ईश्वर हृदय में उपासनीय है ।

२२ – उसके भासने पर ही कोई भी भास होता है ।

२४ – उसे 'ईशान' कहा जाता है ।

३९ – उसी के डर से देवता भी कार्यरत हैं ।

४१ – नाम-रूप का निरंकुश निर्वाहक वही है ।

१.४.१९ – ईश्वर के ज्ञान से ही अमरता मिलती है और उसे जानने से सब जान लिया जाता है ।

२३ – वह जगत् का निमित्त ही नहीं उपादान भी है ।

२.१.२४ – ईश्वर अकेला ही जगत्कारण है ।

२७ – वह विकृत रूप से रहते हुए भी अविकृत ही है । ४.४.१९ में भी उसका विकार से बाह्य भी रूप बताया है ।

३० – वह सर्वशक्तियुक्त है ।

३१ – उसे किसी करण की (इंद्रिय की) अपेक्षा नहीं है ।

३३ – जगद्रचना आदि उसके लिए लीलामात्र है ।

३४ – धर्माधर्म के अनुसार वह सृष्टि आदि करता है ।

३७ – कारण होने के लिए जरूरी सब धर्म उसमें उपपन्न हैं ।

२.३.४१ – ईश्वर की अनुज्ञा से जीव कर्ता-भोक्ता बनता है और उसी के अनुग्रह से ब्रह्मविज्ञान पाता है ।

४६ – उसे मिथ्याभिमान नहीं अतः वह संसारदुःख का अनुभव नहीं करता ।

२.४.२० – त्रिवृत्करण (या पंचीकरण) करने वाला वही है ।

३.२.१२ – ईश्वर का आकारभेद औपाधिक है ।

२१ – वही जीवरूप से प्रविष्ट हुआ है ।

२२ – अपने मूर्त-अमूर्त दोनों रूपों से वह परे है ।

२४ – भक्ति-ध्यान-प्रणिधान आदि से वह योगियों द्वारा देखा जाता है ।

३२ – वह सेतु की तरह जगत् को मर्यादित रखता है ।

३८ – ईश्वर ही कर्मों का फल देता है ।

३.३.१. – ईश्वर के बारे में वेदान्त निर्विवाद हैं ।

११ – आनंदादि विशेषतायें उसके बारे में हमेशा समझनी चाहिये ।

२९ – उसका ऐसा भी स्वरूप है जिसके पास उपासक पहुँचे ।

४.१.३ – ईश्वर को सदा अपना आत्मा ही समझना चाहिये ।

४.२.८ – ब्रह्मज्ञानपर्यन्त वह संसार का आत्यंतिक नाश नहीं करता ।

४.३.७ – उसका सगुण रूप उपासक द्वारा प्राप्य है ।

१० – अपने पूर्ण उपासक को वह ज्ञान देकर मुक्त करता है ।

४.४.७ – ईश्वर का व्यावहारिक रूप ऐश्वर्यादियुक्त है ।

२१ – अपने उपासकों को वह अपने सगुणरूप के समान भोग देता है लेकिन जगद्व्यापारादि की क्षमता नहीं ।

२२ – उसकी उपासना भी अनावृत्तिफलक है जबकि उसका तत्त्वज्ञान तो सद्यः मोक्ष देता है ।

वाक्यवृत्ति में अब तक ईश्वर के बारे में बताया कि वह सभी संसारदोषों से रहित है, अस्थूलादि व अदृश्यादि है, तमोमल उस पर नहीं है, वह निःसीम आनंद है, सत्य है, प्रज्ञानरूप है, सन्मात्र है, पूर्ण है, सर्वज्ञ है, परेश है, उसमें संपूर्ण शक्ति है, उसके ज्ञान से सब जान लिया जाता है, उसकी अनंतता में प्रपंच रुकावट नहीं डाल सकता क्योंकि प्रपंच उसी का कार्य है, अत्यंत यत्न से वह मुमुक्षुओं द्वारा जानने लायक है, जीवरूप से घुसकर वही उनका शासक है, कर्म कराता और उनका फल देता है ।

इस प्रकार आचार्य ने महावाक्य का उपदेश देकर उसमें आये त्वंपद और तत्पद दोनों के अर्थ का खुलासा कर दिया ।

– ३६ –

वाक्यार्थः

तत्त्वंपदार्थौ निर्णीतौ वाक्यार्थश्चिन्त्यतेऽधुना ।

तादात्म्यमत्र वाक्यार्थः तयोरेव पदार्थयोः ॥ ३७ ॥

*वृत्तानुवादपूर्वकं 'तादात्म्यं वा कथं तयोः' (श्लो. ७) इति तृतीयं प्रश्नं प्रत्याह–**तत्त्वेति** । कोऽसौ वाक्यार्थश्चिन्तनीयत्वेन प्रतिज्ञातः ? इत्याशंक्य; आह–**तादात्म्यमिति** । **अत्र** इति महावाक्योक्तिः ॥ ३७ ॥*

इदानीमुभयपदार्थप्रतिपादकवाक्यबलात् तत्त्वंपदार्थौ चिन्तयित्वा तत्र संशयादिराहित्यमवाप्य, ततो वाक्यार्थं चिन्तयेदिति इममर्थं ज्ञापयन्नाह–तत्त्वमिति । **संसृष्ट-विशिष्ट-तादात्म्यवाक्यार्थेषु मध्ये निश्चितमर्थमाह**–तादात्म्यमत्रेति ॥ ३७ ॥

वेदांतप्रकरण प्रायः शारीरकशास्त्रानुसार चार अध्यायों में विभक्त होते हैं । शारीरक में प्रथमाध्याय बताता है कि वेद जगत्कारण सिर्फ ब्रह्म को कहते हैं और उस ब्रह्म तथा जीव में द्वैत नहीं है यह बताने मे समन्वित हैं । द्वितीयाध्याय का प्रयोजन है प्रथमाध्यायोक्त अर्थ को युक्तियुक्त निर्धारित करना । तीसरे अध्याय में परमात्मप्राप्ति के साधन कहकर चौथे में फल का वर्णन है । इस दृष्टि से वाक्यवृत्ति में श्लोक ४१ तक प्रथम-द्वितीय अध्यायों का तात्पर्य प्रकट किया है क्योंकि औपनिषद अभिप्राय युक्तिपूर्ण ढंग से बताया है । श्लोक ४२–४९ तक समझाया है कि अद्वैत कैसे समझा जाये, अतः वह साधनप्रदर्शन, तृतीयाध्यायार्थ है । तदनन्तर फल बताकर चौथे अध्याय का सार उपस्थित कर दिया है । अथवा यहाँ चार प्रकरण इन विषयों के अनुसार हैं–त्वंपदार्थ, तत्पदार्थ, अभेद और फल । इसमें श्लोक २७ तक त्वंपदार्थ का प्रकरण है, श्लोक २८-३६ तक तत्पदार्थ का, ३७-४९ तक अभेद का एवं फिर फल का प्रकरण है । आनंदगिरिस्वामी ने श्लोक ७ में पूछे प्रश्नों के हिसाब से प्रकरणविभाजन बताया है : श्लोक ८ से २७ तक प्रथम प्रश्न का उत्तर है, श्लोक २८-३६ तक द्वितीय का, ३७-४१ तक तृतीय का और ४२ से आगे चतुर्थ का उत्तर है । अथवा इस ग्रंथ में दो ही प्रकरण हैं–पदार्थ प्रकरण और वाक्यार्थ प्रकरण; श्लोक ८-३६ तक पदार्थ और ३७ से आगे वाक्यार्थ का प्रकरण है ।

अब तक विस्तार से जीव-ईश्वर के स्वरूप जिसलिये बताये वह है उनका अभेद समझना । जीव-ईश्वर का अभेद समझना ही पुरुषार्थोपाय है, उसी के लिए पदार्थों का शोधन करना पड़ता है । महावाक्य का प्रतिपाद्य अर्थ वह अद्वैत ही है इसकी प्रतिज्ञा करते हैं–

तत्पदार्थ और त्वंपदार्थ का निर्णय कर चुके, अब महावाक्य के अर्थ का चिन्तन करते हैं : महावाक्य में प्रतिपादित वाक्यार्थ उन्हीं दोनों पदार्थों का तादात्म्य है ॥ ३७ ॥

तादात्म्य का यहाँ अभिप्राय है अभेद । तत् और त्वम् इन पदों (शब्दों) द्वारा जिसे बताया गया है वह अभिन्न, अद्वय है । जैसे 'दिल्ली वाला देवदत्त ही आबू में बैठा है'–यहाँ जिसे दिल्ली वाला कह रहे हैं उसे ही आबू में बैठा भी कह रहे हैं । यह तभी संभव है जब उसका 'दिल्ली वाला' हिस्सा और 'आबू में बैठना' हिस्सा उपेक्षित किया जाये अर्थात् कोई एक अखण्ड वस्तु है जो दिल्ली में थी और आबू में है, वह वस्तु इस वाक्य का अर्थ है । श्लोक में तादात्म्य से यही विवक्षित है कि महावाक्य का अर्थ अखण्ड है । ऐक्य के लिए तादात्म्य शब्द का प्रयोग होता है इस अभिप्राय से यहाँ कहा है । पदार्थ की अपेक्षा वाक्यार्थ में नवीनता होती है, पद जिसे कहते हैं उससे कुछ अन्य होता है वह जो वाक्य का अर्थ है । शोधित पदार्थों में भेद का निषेध प्रमित कराना वाक्य का यहाँ कार्य है । पदार्थों का शोधन भी वाक्यवश ही है क्योंकि यदि वाक्य अभेद न कहता तो लक्षणा से उपाध्यंश छोड़ना न पड़ता । अतएव महावाक्य के बिना अविद्यानिवर्तक तत्त्वबोध असंभव है, इसी के अभाव में सांख्यवादी विवेकमात्र कर सन्तुष्ट हो जाता है, व्यापक आत्मरूप से परिचित नहीं हो पाता ।

– ३७ –

अखण्डार्थः

संसर्गो वा विशिष्टो वा वाक्यार्थो नाऽत्र संमतः ।

अखण्डैकरसत्वेन वाक्यार्थो विदुषां मतः ॥ ३८ ॥

*नीलोत्पलवत् पदार्थसंसर्गो वा, गामानयेति वाक्यवत् तद्विशिष्टपदार्थो वा किमित वाक्यार्थो न भवति ? इत्याशंक्य; आह–**संसर्गो वेति** । **अत्र** इति पूर्ववत् महावाक्यविषये सप्तमी । ये तु तादात्म्यं भेदसहमभेदं वदन्ति, तान् प्रति तादत्म्याख्यं प्रकृतं वाक्यार्थं विशिनष्टि–**अखण्डेति** ॥ ३८ ॥*

अत्र वाक्ये तादात्म्यमेवेति निश्चितत्वं कुतः ? इत्यत आह–संसर्ग इति । अत्र **अस्मिन् वाक्यवृत्तिग्रन्थे, तत्त्वमसि-वाक्ये च । नीलोत्पलम् इति वाक्य इव मुख्यार्थस्वीकारेण विशेषणविशेष्यरूप-**संसर्गवाक्यार्थः, **अन्यतररूप-**विशिष्टवाक्यार्थो वा न संमत **इष्टो भवति । तत्र तु नीलगुणस्य उत्पलपदार्थोत्पलद्रव्यस्य शुक्लपदादिव्यावर्तकतया अन्योन्यविशेष्यभावसंसर्गार्थस्य वा अन्यतरस्वरूपविशिष्टार्थस्य वाक्यार्थत्वाङ्गीकारे प्रमाणान्तराऽविरोधाद् मुख्यार्थयोरेव वाक्यार्थत्वं संगच्छत एकवस्तुनिष्ठत्वादुभयोः । अत्र तु तदर्थपरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यस्य त्वमर्थापरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यस्य वाऽन्योन्यभेदव्यावर्तकतया विशेषणविशेष्यभावसंसर्गस्य वा विशिष्टैक्यस्य वा वाक्यार्थत्वांगीकारे प्रत्यक्षादिप्रमाणविरोधाद् वाच्यार्थयोः ऐक्यं न संगच्छत इति तदुभयं न संमतमित्यर्थः ।**

एतेनैव हेतुना 'अहं ब्रह्माऽस्मी'ति प्रतिपत्तिवाक्येऽपि वाच्ययोः अहं ब्रह्मास्मीत्यर्थयोः अन्योन्यभेदव्यावर्तकतया विशेषणविशेष्यभावसंसर्गवाक्यार्थो न संमतो विरुद्धत्वात् । किं च ब्रह्मणः सर्वगत्वात् तदंशस्य जीवस्य तदन्तर्भूतत्वाद् अपरोक्षत्वकिंचिज्ज्ञत्वादियुक्तोऽहं, परोक्षत्वसर्वज्ञत्वादियुक्तं ब्रह्म अस्मि इति ब्रह्माऽन्तःपातित्वेन भावनायां 'ब्रह्मविशिष्टो जीवः' इति विशिष्टैक्यब्रह्मस्वरूपत्वमिदमपि 'त्वं सर्वत्र स्थितो यस्मादहं पूर्णे त्वयि स्थितः' इतिवद् औपचारिकमेव स्यात् । अतो विशिष्टलक्षणवाक्यार्थाङ्गीकारेऽपि तत्त्वंपदार्थयोः भेद एव प्रतीयते, नैकत्वम् । कथम् ? यथा तटाकस्थमहाजलपातिघटस्थाल्पजलस्य तटाकजलान्तर्भूतत्वेन तद्विशिष्टत्वेऽपि तटाकस्थत्वाद्याकारेण भेद एव प्रतीयते, नैकत्वं, तद्वदित्यर्थः ।

संसर्गविशिष्टयोः को भेद इति चेद् ? या नीलमुत्पलमित्युक्त उत्पलद्रव्यं श्वेतपीतादिभ्यो व्यावर्तयन् नीलपदव्यावर्तकत्वाद् विशेषणत्वेन संसृज्यते विशेष्येण उत्पलेन सह तद्वद् नीलगुणमपि वस्त्रादिभ्यो व्यावर्तयद् उत्पलपदं विशेष्यं नीलपदेन विशेषणेन सह संसृज्यते तदा विशेषणविशेष्यभावः संसर्गः । यदा अन्योन्यव्यावृत्तिमनपेक्ष्यैव संसृष्टपदार्थः प्राधान्येन नीलविशिष्टमुत्पलं दण्डविशिष्टो देवदत्त इत्यन्यतरविशिष्टोऽन्यतरार्थस्वीकारः तदा विशिष्टः । इति विशिष्टानुगुण्येन संसृष्ट-विशिष्टवाक्यार्थयोर्भेदः । तदुभयमत्र विरुद्धत्वाद् न संमतमित्युक्तम् ।

किं च तदर्थस्वीकारे 'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः । क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ।' (मुं. २.२.८) इति, 'स वा अयमात्मा ब्रह्म' (बृ. ४.४.५), 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मुं. ३.२.९), 'तरति शोकमात्मवित्' (छां. ७.१.३) इत्यादिश्रुतयो नोपपद्येरन् । तस्माद् द्वौ विदुषां न समंतौ ।

किन्तु विरुद्धांशत्यागपुरःसरम् अविरुद्धवस्तुतादात्म्यरूपवाक्यार्थः संमतः इत्याह—अखण्डैकरसत्वेनेति । अखण्डैकरसत्वं नाम 'अहं ब्रह्मास्मि ब्रह्मैवाहमस्मि' इति व्यतिहारेण अखण्डैकरसवस्तुत्वप्रतिपत्तिः । अत्र श्रुतिः 'त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते, अहं वा त्वमसि' (द्रष्टव्य सूत्रभा. ३.३.३७) इति । वाशब्दद्वयम् एवकारार्थे । कैवल्योपनिषदि 'सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरं नित्यं तत्त्वमेव त्वमेव तत्' (१.१६) इति श्रुतिः । 'अहं त्वं त्वमहं देव दिष्ट्या भेदोऽस्ति नावयोः । दिष्ट्या मत्ताम् असि प्राप्तो दिष्ट्या त्वत्ताम् अहं गतः ॥ तुभ्यं मह्यमनन्ताय मह्यं तुभ्यं शिवात्मने । नमो देवादिदेवाय पराय परमात्मने ॥' इति वाशिष्ठे प्रह्लादवचनम् ।

पदयोः सामानाधिकरण्यं, पदार्थयोर्विशेषणविशेष्यभावः, प्रत्यगात्मलक्षणयोर्लक्ष्यलक्षणभावः—इति सम्बन्धत्रयेण अखण्डार्थे बोधनीये किमिति विशेषणविशेष्यभावो निषिध्यत इति न शंकनीयम्; परम्परयाऽखण्डार्थोपकारत्वेनांगीकारात् । कथम् ? समानाधिकरणविशेषणविशेष्याभ्यामेकत्वे प्रतिपादिते सति तस्मिन्नर्थेऽनुपपत्तिं दृष्ट्वा पश्चाद् विरुद्धांशत्यागेन उभयानुगताऽविरुद्धचैतन्यमात्रांशस्वीकारेण अखण्डैकरसवाक्यार्थस्वीकारात् संसर्गस्य उपकारकत्वम् । न च तर्हि 'अहं ब्रह्मास्मि ब्रह्मैवाहमस्मि' इति अखण्डार्थेऽङ्गीकृतेऽप्यहं शब्दार्थत्वेन च युष्मत्पक्षेऽपि भेदः प्रतीयत इति मन्तव्यम् । शिरोव्यतिरेकेण राहोरभावेऽपि 'राहोः शिर' इत्यत्र षष्ठ्या स्वस्वामिभावप्रतीतिद्वारा यथा भेदः प्रतीयते, घटः कलशः कुम्भ इत्यतो भेदाभावेऽपि शब्दमात्रेण भेदभ्रम इति सन्तोष्टव्यम् ।

विद्वच्छब्देन उपक्रमोपसंहारादिभिः षड्विधतात्पर्यलिंगैः—'उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम् । अर्थवादोपपत्ती च लिंगं तात्पर्यनिर्णये ॥'—वेदान्तानां सजातीयविजातीयस्वगतभेदरहितस्वमात्रपरत्वं ज्ञात्वा, ईदृशावलोकमन्तरेण स्वानुभवमात्रनिष्ठा न सम्भवति, अत एवोच्यते तेषामखण्डार्थ एव संमतो नान्य इत्यर्थः ।

अथवा–'संसर्गो वा' **इति श्लोकस्यैवमर्थः–वर्णानां समूहः पदम् इति हि पदलक्षणम् । आकांक्षासंनिधियोग्यतावतां समूहो वाक्यमिति हि वाक्यलक्षणम् । तथा च सति अभिहितान्वयवादिनां वेदान्तिनां मते 'देवदत्त ! गामानय शुक्लदण्डेन, पुत्रस्ते जात' इति वाक्यात् (इव) 'तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि, अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादिमहावाक्येष्वपि स्वस्ववाचकपदैः अभिहितार्थानां पदार्थानाम् अन्योन्याकांक्षापूरणयोग्यत्वेन संसर्गो वाक्यार्थो वर्णनीयः । अतः कथं तादात्म्यमत्र वाक्यार्थ इत्युक्तम् ? इत्याशंक्य; तत्त्वमस्यादिपदानाम् अखण्डैकरसचैतन्यपर्यवसायित्वेन पदार्थभेदाभावात् संसर्गो वाक्यार्थो न संभवति, संसर्गस्य पदार्थद्वयनिष्ठत्वात् । अतोऽन्यत्र वाक्यान्तरे पदार्थबाहुल्यसंभवात् संसर्गः संभवति, अत्र तु एकार्थपर्यवसानात् तादात्म्यमेव** वाक्यार्थः **संमतो विदुषां, नान्यद् इत्यर्थाभिप्रायेण उत्तरमाह–** संसर्गो वेति । **श्लोकस्य अवतारिकाव्याजेन श्लोकार्थः स्पष्टीकृतः ।**

न च पदार्थानां संसर्गस्य वाक्यार्थत्वात् पदार्थभेदाभावे वाक्यार्थो न स्याद्–इति शंकनीयम्; किंचिज्ज्ञत्वसर्वज्ञत्वादिलक्षणवाच्यार्थापेक्षया कल्पितभेदोपपत्तेः । तस्माद् भ्रन्त्या संसर्गे प्रतीयमानेऽपि विरुद्धांशपरित्यागेन उभयानुगतचैतन्यमात्रपर्यवसानात् परमार्थतः तादात्म्यमेव वाक्यार्थः । तथैव विशिष्टार्थोऽपि न संभवति, पदार्थभेदाभावात्; दण्डी देवदत्तः, शुक्लः पट इत्यादौ दण्डिदेवदत्तादिपदार्थभेदस्य विद्यमानत्वाद् अन्यतरविशिष्टाऽन्यतरार्थस्वरूपविशिष्टवाक्यार्थः संभवति । अत्र तु न तथा इत्याह–विशिष्टो वेति **। अतः संसर्गविशिष्टवाक्यार्थयोः अन्यतरद् न संभवति, किन्तु तादात्म्यमेव वाक्यार्थ इत्यभिप्रायः । 'एकमेवाऽद्वितीयम्' (छां. ६.२) 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' (बृ. ४.४.१९) 'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति' (तै. २.७.३) 'शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते' (मां. ७) 'द्वितीयाद् वै भयं भवति' (बृ. १.४.२) 'तत्र को मोहः कः शोकः' (ईश. ७) 'एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः' (ब्रह्मविं. १२) 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा । कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥' (श्वे. ६.११) इत्याद्यनन्तश्रुतयः सत्याखण्डैकरसवाक्यार्थ एवोपपद्येरन् । अत इदमेव विदुषां मतम् ॥ ३८ ॥**

पूर्वश्लोक में तादात्म्य वाक्यार्थ कहा, उसे स्पष्ट करने के लिए बताते हैं कि महावाक्य का क्या अर्थ है और क्या नहीं–

महावाक्य में संसर्ग या विशिष्ट को वाक्य का अर्थ मानना संगत नहीं । विद्वानों का मानना है कि महावाक्य का अर्थ अखण्ड एकरस रूप से स्फुरता है ॥ ३८ ॥

वाक्यों के अर्थ तीन तरह बाँटे जाते हैं–(१) पदार्थों का सम्बन्ध वाक्य का अर्थ होता है, जैसे 'नीला कमल है' में नील-पद के अर्थ और कमल पद के अर्थ का संबंध वाक्य से समझ आता है । ऐसे संबंध को श्लोक में संसर्ग कहा है । (२) वाक्य से ऐसा पदार्थ पता चलता है जिसका विशेषण कोई-न-कोई संबंध होता है, जैसे 'गाय लाओ' में कर्तव्य पता चलता है जिसका विशेषण है गवानयन (गाय-लाना) । (३) वाक्य से जो अर्थ पता चलता है उसमें न कोई संबंध पता चलता है, न विशेषण, बल्कि जैसे केवल प्रातिपदिक का अर्थ भासता है वैसे यहाँ वाक्यार्थ भासता है । ऐसे को अखण्ड अर्थ कहते हैं । प्रातिपदिक का मतलब वह संज्ञा है जिसमें कारकप्रत्यय या षष्ठीप्रत्यय लगाये नहीं गये हैं । वे लगने के बाद समूचे शब्द की 'पद' ऐसी प्रसिद्धि हो जाती है । पद से तो संज्ञेय के साथ कर्तृत्वादि का भी बोध होता है लेकिन अकेला प्रातिपदिक

केवल संज्ञेय का बोध कराता है, जैसे 'घट' इतना ही कहने पर 'घड़ा' इतना ही पता चलता है, उसमें कर्तृत्वादि न विशेषण रूप से पता चलते हैं और न घड़े से कोई संबंध पता चलता है। यदि प्रातिपदिक का अर्थ मालूम है तब सुनने पर भासमान को पदार्थ कहा जाता है लेकिन यदि न मालूम हो तो जिस वाक्य से प्रातिपदिकार्थ कहा जाता है उस वाक्य का अर्थ अखण्ड ही हो सकता है। अतः लक्षणवाक्य अखंडार्थक माने गये हैं।

महावाक्य का अर्थ तीसरी श्रेणी के अनुरूप है, अखण्ड है। 'तू ब्रह्म है' से पता चलता है 'मैं ब्रह्म हूँ', इसमें न तो मेरा ब्रह्म से कोई संबंध प्रतीत होता है और न ब्रह्म मेरा विशेषण बनता है। विशेष्य से कुछ अंतर हो तभी विशेषण हुआ करता है, अत्यंत अभेद में विशेष्यविशेषणभाव नहीं होता। ब्रह्म जैसा हूँ, ब्रह्म नाम वाला हूँ ब्रह्म का अंशादि हूँ–इस तरह का कोई ज्ञान होता तब तो बोध में खण्ड अर्थात् हिस्से रहते और उनका आपसी संबंध भी होता। किन्तु जब केवल 'मैं ब्रह्म हूँ' ही पता चलता है तो इस ज्ञान में कोई खण्ड नहीं है। ब्रह्मस्वरूप ऐसा है जिसमें किसी तरह की कमोबेश नहीं अतः उसे एकरस कहते हैं। उसका ज्ञान होने से अखंड ज्ञान भी एकरस है। यद्यपि तत्त्वमसि आदि में सामग्री ही अखण्ड ज्ञान उत्पन्न करने की है तथापि क्योंकि शब्द तात्पर्यानुसार प्रमाजनक होता है इसलिये उपनिषदों के तात्पर्य की जानकारी जरूरी है और उससे भी यही पता चलता है कि महावाक्य अखण्डार्थक होते हैं। पूर्व में 'तादात्म्य' शब्द का प्रयोग किया था किन्तु भेदसहिष्णु अभेद को भी बहुधा तादात्म्य कहते हैं इसलिये यहाँ स्पष्ट किया कि अत्यंत अभेद ही यहाँ विवक्षित है।

श्लोक ३८-४० तक पंचदशी-सप्तम प्रकरण में उद्धृत हैं (वहाँ श्लो. ७५-७८)। इसी तरह श्लोक ४४-४६ तक वहाँ श्लोक ७१-३ रूप में, श्लोक ४८ वहाँ श्लोक ७४ रूप में और श्लोक ४९ वहाँ श्लोक ९८ रूप में उपन्यस्त है।

विश्वेश्वरपंडित ने बताया है कि संसर्ग या विशिष्ट को महावाक्यस्थल पर अर्थ मानने पर प्रत्यक्षादिका विरोध होता है, अतः वे अमान्य हैं, अखण्ड अर्थ स्वीकारने पर कोई विरोध नहीं रहता अतः वही मान्य है। वे यह भी कहते हैं कि जहाँ वाक्य में पद एक दूसरे के अर्थों को इतरों से व्यावृत्त करते हुए विशेषण-विशेष्यभाव से आपस में मिलते हैं वहाँ वाक्यार्थ संसर्ग होता है और जहाँ व्यावृत्ति किये बिना मिलित पदार्थ प्रतीत होता है वहाँ वाक्यार्थ विशिष्ट होता है। पंडित जी ने समझाया है कि महावाक्य में तत् व त्वम् पदों का आपसी संबंध सामानाधिकरण्य कहलाता है अर्थात् दोनों पद एक ही विभक्ति में हैं। पदार्थों का प्रारम्भिक संबंध विशेष्य-विशेषणभाव है किंतु इसमें विरोध प्रतीत होने पर जो अभिप्रेत अर्थ समझ आता है उसका पदार्थों से लक्ष्य-लक्षणभाव संबंध है। नैष्कर्म्यसिद्धि (३.३), संक्षेपशारीरक आदि में इस पर विस्तृत चर्चा है। टीकाकार ने यह प्रश्न भी उठाया है कि वेदांत संप्रदाय के कुछ आचार्य अभिहितान्वय मानते हैं जिससे महावाक्य में भी पदों से अभिहित अर्थों का अन्वय अर्थात् संसर्ग मानने की आपत्ति आती है लेकिन उत्तर दिया है कि क्योंकि यहाँ पदार्थों में मुख्य भेद है ही नहीं इसलिये संसर्ग संभव नहीं अतः अखण्ड

एकरस ही उनका पर्यवसितार्थ है । पदार्थ एक ही है तो तत्-त्वम् ये अलग पद क्यों जरूरी ? इसका उत्तर बताया है कि वाच्यार्थों में भेद है जिससे अलग पदों का प्रयोग संगत है । उन्होंने अनेक श्रुतियाँ दिखाई हैं जो अखण्ड वाक्यार्थ मानने पर ही उपपन्न हैं, अन्यथा नहीं ।

— ३८ —

व्यतिहारः

प्रत्यग्बोधो य आभाति सोऽद्वयानन्दलक्षणः ।
अद्वयानन्दरूपश्च प्रत्यग्बोधैकलक्षणः ॥ ३९ ॥

*तर्हि किमनूद्य किं वा विधेयमधिकृत्य यथोक्तो वाक्यार्थः सेत्स्यति ? इत्याशंक्य; व्यतिहारस्य विवक्षितत्वाद् आपेक्षिकम् उद्देश्यविधेयत्वमित्याह–***प्रत्यग्बोध इति** *॥ ३९ ॥*

इदानीं विद्वत्सम्मतत्वेनोक्तमेव स्पष्टी करोति–प्रत्यगिति । **अन्तःकरणावच्छिन्नत्वेन प्रत्यक्त्वं प्राप्तो यो बोधः त्वम्पदलक्ष्यत्वेन** आभाति **स्वयं प्रकाशते** सोऽद्वयानन्दलक्षणः **अद्वयानन्दरूपः । तथा** अद्वयानन्दरूपः **च तत्पदलक्ष्यत्वेन स्वयंप्रकाशमानोऽद्वयानंदरूपः परमात्मा च** प्रत्यग्बोधैकलक्षणः **प्रत्यग्बोधेन एकम् अभिन्नं लक्षणं स्वरूपं यस्य स तथोक्तः । नन्वानन्दबोधयोः कथं तादात्म्यमुपपद्यत इति चेद् ? न विरोधः, आत्मनो बोधानन्दरूपत्वात् । अस्तु तर्हि अद्वयानन्दबोधः प्रत्यगानन्दबोध इति किमिति नोच्यते ? इति । तत्रायमभिप्रायः—बोधनरूप आत्माऽन्तःकरणावच्छिन्न आत्माऽद्वितीयत्वेन दुःखभयाद्यभावाद् वृत्त्यन्तराभावेन बोधस्फुरणाभावे सत्यानन्दरूपेणावतिष्ठत इत्यत उभयोरेकरूपत्वादत्यन्तैक्ये न कदाचिदनुपपत्तिः । संसर्गविशिष्टपक्षे प्रत्यक्षविरोधाद् वाच्ययोः ऐक्यमौपचारिकमेव स्यात्, तच्च श्रुतिविरुद्धमित्युक्तम् ॥ ३९ ॥**

अत्यन्त अभेद वाक्यार्थ होने के कारण महावाक्य के पदों में उद्देश्य-विधेयभाव दोनों तरह विवक्षित है अर्थात् 'तत्' का 'त्वं' से और 'त्वं' का 'तत्' से अभेद कहा गया है । यह अवश्य है कि क्योंकि उपदेश त्वम्पदार्थ जीव को दिया गया है अतः उसका ब्रह्म से अभेद है यही समझाना है किंतु यह अभेद भेदसहकृत नहीं इसके लिए उलटकर भी कहा-समझा जाता है कि ब्रह्म का भी जीव से अभेद ही है । यों उलट-पुलट कर अभेद कहने का नाम ही व्यतिहार है । इसके अनुसार अखंड एकरस वाक्यार्थ दिखाते हैं–

जो स्वप्रकाश प्रत्यक् ज्ञान है उसी का स्वरूप अद्वय आनंद है । जो अद्वय आनंदस्वरूप है वह प्रत्यक् ज्ञान से अभिन्न स्वरूप वाला है ॥ ३९ ॥

बुद्धि आदि का साक्षी सर्वान्तर चेतन प्रत्यक् कहा जाता है । यह त्वम्पदार्थ का शोधित रूप है । अद्वय अर्थात् प्रपंचातीत आनंद तत्पदार्थ का शोधित रूप है । शोधनविधया विवेक करने पर पदार्थों का पता तो चलता है लेकिन ये अलग-अलग हैं ऐसा भ्रम बना रहता है । महावाक्य उस भ्रम को मिटाकर स्पष्ट करता है कि वे पदार्थ भिन्न नहीं हैं । वेदान्तों का प्रयोजन यह ज्ञान देना ही है । यह किसी अन्य प्रमाण का विषय नहीं अतः इसी से वेदांत प्रमाण हैं ।

— ३९ —

द्वैतहानिर्मानफलम् ।

इत्थमन्योन्यतादात्म्यप्रतिपत्तिर्यदा भवेत् ।

अब्रह्मत्वं त्वमर्थस्य व्यावर्तेत तदैव हि ॥ ४० ॥

॥ ४० ॥

एवं लक्ष्यार्थयोः अत्यन्तैक्यज्ञाने सति किं स्याद् ? अत आह–इत्थमिति । अन्योन्यतादात्म्यं **परस्परतादात्म्यं द्वयोरपि स आत्मा तदात्मा तत्पदार्थस्य चात्मा स्वरूपं स एव त्वंपदार्थस्य, एवं त्वंपदार्थस्य य आत्मा स्वरूपं स एव तत्पदार्थस्य; भावः तादात्म्यं; तस्य** प्रतिपत्तिः **ज्ञानं तद्** यदा भवेत् तदैव अब्रह्मत्वम् **अहं मनुष्य इति सद्वितीयत्वेन कर्तृत्वभोक्तृत्वादिलक्षणं संसारित्वं** त्वमर्थस्य **प्रत्यगात्मनो** व्यावर्तेत । **हिशब्दो हेत्वर्थे ॥ ४० ॥**

तत्त्वधी का सद्यः फल अविद्यानिवृत्ति है क्योंकि सर्वत्र प्रमा यही करती है । प्रतिबंध रहते भले ही फल न उपलब्ध हो सके पर प्रतिबंध हटते ही प्रमा को अविद्या मिटाने से कोई नहीं रोक सकता । जिस योग्य अधिकारी ने पदार्थशोधन कर लिया उसे महावाक्य से क्या ज्ञान होता है यह स्पष्ट करते हैं–

अनंत जन्मों से एकत्र पुण्य सफल होने पर विवेकादियुक्त अधिकारी को जब पूर्वोक्त ढंग से तत्-त्वं-पदार्थों के निरवधिक अभेद की प्रमा होती है उसी समय प्रत्यगात्मा में प्रतीयमान ब्रह्मभेद बाधित हो जाता है यह शास्त्र-विद्वदनुभव से समर्थित है ॥ ४० ॥

अनुकूल अदृष्ट से ही तीव्र मुमुक्षा-विवेक-गुरुप्राप्ति आदि सामग्री एकत्र होती है । शास्त्र उसे ही संपूर्ण ज्ञान दे पाता है जो अधिकारी है । अनधिकारी शास्त्र का चाहे जितना अभ्यास कर ले उसे सही समझ तब तक आ नहीं सकती जब तक वह अधिकारी नहीं बन जाता । जैसे साहित्य के विद्यार्थी के सामने उच्चस्तरीय गणित की खोजों का वर्णन कीजिये तो उसे कुछ नहीं समझ आता वैसे विवेक-वैराग्यादि से रहित और पदार्थशोधन से वर्जित महावाक्य से कुछ भी महत्वपूर्ण ज्ञान नहीं पा सकता, केवल विचार-प्रयोजक बोधमात्र उसे हो सकता है । शोधित पदार्थों का ही अभेद महावाक्य से मालूम चलना है । यह ज्ञान होते ही, यदि कोई प्रतिबंधक नहीं है तो 'मैं ब्रह्म नहीं हूँ' यह भ्रम तुरन्त समाप्त हो जाता है । ज्ञान के बाद क्षणभर भी समय नहीं लगता अविद्या और उससे हुए इस भ्रम को मिटने में । किं च बिना इस परमार्थ विद्या के यह भ्रम मिट भी नहीं सकता । 'त्वमर्थ की अब्रह्मता' को ही यहाँ हटने वाला इसलिये कहा कि ब्रह्म अर्थात् ईश्वर को यह भ्रम नहीं है कि मैं जीव से भिन्न हूँ ! तत्त्वज्ञान से आवरणनिवृत्तिपूर्वक भ्रमनिवृत्ति जीव में ही होनी है, ईश्वर को न आवरण है, न भ्रम और इसलिये उसमें कोई अंतर नहीं आना । यद्यपि मुख्य पक्ष है कि ब्रह्म ही अविद्याश्रय है, संसार है, साधक है तथापि कुछ-न-कुछ निवेश-प्रवेश कर यही माना जाता है कि जीव ही अविद्यावश संसरण कर रहा है, दुःखी है, छूटने

की कोशिश करे तो तत्त्वानुभव से छूट सकता है । ब्रह्म को अविद्याश्रय इसी दृष्टि से कहते हैं कि जीव वस्तुतः ब्रह्म है । तर्क की अपेक्षाओं से जीव को अविद्याश्रय कहने में दोष आते हैं अतः अन्यान्य ढंगों से वह बात समझायी जाती है । हर हालत में अनुभव का स्तर तो यही है कि मैं अज्ञानी हूँ (न कि 'ब्रह्म अज्ञानी है' !) अतः तत्त्वबोध से मेरा ही यह भ्रम मिटना है कि मैं ब्रह्म नहीं हूँ ।

– ४० –

पूर्णतालाभः

तदर्थस्य च पारोक्ष्यम्; यद्येवं किं ततः ? शृणु ।
पूर्णानन्दैकरूपेण प्रत्यग्बोधोऽवतिष्ठते ॥ ४१ ॥

तादात्म्यप्रतिपत्त्या त्वमर्थगताऽब्रह्मत्वस्य तदर्थगतपारोक्ष्यस्य च निवृत्तावपि किं फलिष्यति ? इत्याशंक्याह– ***तदर्थेति । यद्येवमिति ।*** *श्रोतृचेतःसमाधानप्रार्थनापूर्वकमुत्तरमाह–शृण्विति ॥ ४१ ॥*

ब्रह्म तु स्वस्य स्वयं परोक्षं न भवति किन्तु अब्रह्मत्वविशिष्टप्रत्यगात्मन एवेति यतोऽतस्तस्य अब्रह्मत्वव्यावृत्तौ ब्रह्म परोक्षमपि व्यावर्तेतेत्याह–तदर्थस्येति । **तत्त्वमर्थयोः एकत्वज्ञानात् तदज्ञानसंभूतपारोक्ष्याऽब्रह्मत्वयोर्व्यावृत्तिः स्याद् इत्यर्थः** । किं तत **इति** । ततः **परं** किंरूपेण **अवतिष्ठते ? इति शिष्यप्रश्नः; पारोक्ष्याब्रह्मत्वव्यावृत्त्यनन्तरं पूर्णत्वं प्रत्यक्त्वं चोभयमपि व्यावर्तेत वा नो वा ? इति प्रश्नाभिप्रायः । आचार्यस्तु शिष्याभिप्रायं ज्ञात्वोत्तरं वक्तुमाह**–शृण्विति । **स्वभावत एव पूर्णस्य आत्मनः स्वाऽविद्ययैव प्रत्यक्त्वम्, अतः स्वविद्यया प्रत्यक्त्वस्यैव व्यावृत्तिः, न पूर्णत्वस्य इत्याह**–पूर्णानन्दैकरूपेणेति । **पूर्णानन्देन एकम् अभिन्नं रूपं यस्य स तथोक्तः** । प्रत्यग्बोध **एव प्रत्यग्व्यावृत्तौ पूर्णानंदेनावतिष्ठत इत्यर्थः ॥ ४१ ॥**

'जीव का भ्रम मिट जाता है' सुनकर लग सकता है कि कोई परोक्ष ईश्वर फिर भी बचा रहता होगा ! उस संभावना को मिटाकर बोध के बाद की संतुष्ट स्थिति का, मोक्ष का वर्णन करते हैं–

(दोनों पदार्थों का अभेद पता चलते ही) तत्पदार्थ की परोक्षता भी मिट जाती है । यदि यों अभेदज्ञान हो जाये तो उसके बाद आत्मा कैसा रहता है ? सुनो : प्रत्यग्रूप ज्ञान निरवच्छिन्न आनंदरूप से रहता है ॥ ४१' ॥

क्योंकि ईश्वरता भ्रम है इसलिये जीव को ही लग सकता है कि ईश्वर परोक्ष तत्त्व है और तत्त्वज्ञान से वह भ्रम मिट जाता है । वास्तव में तो कोई परोक्ष ईश्वर कभी नहीं है, भ्रम से अभी–जब तक भ्रम है तब तक–है, भ्रम का बाध हो जाने पर, कारणभूत अविद्या निवृत्त हो जाने पर परोक्ष ईश्वर रह जाये यह संभव नहीं । यह व्यवस्था समझना अत्यंत कठिन है और शास्त्र एवं स्वानुभव पर असीम श्रद्धा चाहती है अतः प्रकारान्तर से समझ लेना चाहिये कि तत्त्वज्ञान से हमारा यह भ्रम मिट जाता है कि परोक्ष ईश्वर है । जब तक किसी को भी यह भ्रम है तब तक ईश्वर भी परोक्ष बना बैठा रहे तो क्या हर्ज़ है ! स्मर्तव्य है कि जैसे प्रत्यगात्मा नहीं मिटता ऐसे ईश्वर नहीं मिटता, केवल जीव की परिच्छिन्नता और ईश्वर की ईश्वरता (परोक्षत्तादि) का बाध होता है । इनके बाध से जीव-ईश्वर विभिन्न नहीं रह जाते ।

तत्त्वनिष्ठा के बाद पूर्णात्मा का ही अखण्ड अस्तित्व है । यद्यपि देहादि के प्रति आन्तर होना रूप प्रत्यक्ता उसमें नहीं रह जाती तथापि स्वरूपभूत प्रत्यक् रहता ही है । वह पूर्ण, व्यापक, निराकांक्ष स्वरूप से रहता है । प्रत्यक् का स्वभावभूत आनंद सर्वथा अनावृत रहता है । किसी प्रकार के द्वैत की संभावना भी नहीं बचती, द्वैत के संस्कारादि कुछ भी नहीं रह जाते । प्रारब्धवश जीवनकाल तक व्यवहार रहता है और उसे बुद्धिसंगत करने के लिए यदि द्वैत का किसी तरह बचना मानना चाहें तो मान सकते हैं, कुछ व्यवस्थायें प्राचीन आचार्य दे गये हैं, अन्य भी कोई जँचे तो हानि नहीं, लेकिन वह 'बचना' कहने भर को है यह याद रखना चाहिये । सांख्यवाद से यह महान् अंतर अद्वैतदर्शन में है कि सांख्यानुसार जीव मुक्त होता है पर प्रकृति यथावत् सत्य रहती है जबकि वेदांत में प्रकृतिस्थानीय अविद्या का बाध होने पर ही मुक्ति है और बाधित वस्तु प्रतीत भले ही हो, सत्य नहीं रह सकती ।

विश्वेश्वरपंडित ने प्रत्यक्ता को अविद्याकल्पित और ज्ञाननिवर्त्य इसी दृष्टि से कहा है कि 'प्रत्यक्' ऐसा परोक्ष की अपेक्षा से ही कहा जाता है : जैसे अनात्मा भासे ऐसे न भासने वाला किंतु भासने वाला । यह सापेक्ष प्रत्यक्त्व कल्पित व बाध्य है । आगे टीका में 'प्रत्यग्व्यावृत्तौ' कहा है; वहाँ 'प्रत्यक्पद का वाच्य व्यावृत्त (निषिद्ध, बाधित) होने पर'–यह अर्थ है । प्रत्यक्पद का लक्ष्य स्वरूप तो रहता ही है । नैष्कर्म्यसिद्धि में (३.१.१ बताया है 'कूटस्थबोधप्रत्यक्त्वम् अनिमित्तं सदात्मनः ।' और 'बुद्धेर्यत् प्रत्यगात्मत्वं तत् स्याद् देहाद्युपाश्रयात् । आत्मनस्तु स्वरूपं तद् नभसः सुषिता यथा ॥' (१८) । इसी के अनुसार पंडित जी का अभिप्राय जानना चाहिये ।

– ४१ –

वाक्यादर्थाभिधानरीतिः

तत्त्वमस्यादिवाक्यं च तादात्म्यप्रतिपादने ।

लक्ष्यौ तत्त्वंपदार्थौ द्वावुपादाय प्रवर्तते ॥ ४२ ॥

हित्वा द्वौ शबलौ वाच्यौ वाक्यं वाक्यार्थबोधने ।

यथा प्रवर्ततेऽस्माभिस्तथा व्याख्यातमादरात् ॥ ४३ ॥

*'तत्त्वमस्यादिवाक्यं वा कथं तत् प्रतिपादयेद्' (श्लो. ७) इति चतुर्थं प्रश्नं प्रतिविधत्ते-**तत्त्वेति** ॥ ४२ ॥ कथं पुनः सतोर्वाच्यार्थयोः लक्ष्यार्थावुपादाय वाक्यस्य वाक्यार्थबोधने प्रवृत्तिः ? इत्याशंक्याह–**हित्वा द्वाविति । व्याख्यातं** बृहत्यां वाक्यवृत्ताविति शेषः ॥ ४३ ॥*

एवं स्वकीयग्रन्थस्य तत्त्वमर्थयोः एकत्वलक्षणो वाक्यार्थो निर्णीतः । इदानीं तत्त्वमस्यादि वाक्यं कथं प्रवर्तते ? इत्याशंक्य; एवम् अस्मदुक्तप्रकारेण वर्तत इत्याह–तत्त्वमस्येति । तत्त्वमस्यादि वाक्यम् **अपि तदर्थप्रतिपादने तादात्म्यप्रतिपादनार्थं लक्ष्यौ लक्षणविषयौ द्वौ** तत्त्वम्पदार्थौ **अद्वयानन्दप्रत्यग्बोधौ** उपादाय **ऐक्ययोग्यत्वेन स्वीकृत्य** प्रवर्तते **उभयोरेकत्वलक्षणवाक्यार्थं प्रतिपादयति** । लक्ष्यावुपादायेति **अनेन परोक्षत्वप्रत्यक्त्वविशिष्टवाक्यार्थाऽनर्हौ वाच्यार्थौ त्यक्त्वेत्यर्थाल्लभ्यते ॥ ४२ ॥**

तत्त्वमस्यादिवाक्यं वाच्यार्थपरित्यागेन प्रवर्तमानं 'प्रत्यग्बोधो य आभाति' (३९) इत्यादिश्लोकेन स्फुटीकृतमित्याह– हित्वेति । वाक्यं **तत्त्वमस्यादि वाक्यं** शबलौ **विशिष्टौ, अत एव** वाच्यौ **वाग्विषयौ** हित्वा **परित्यज्य** वाक्यार्थबोधने यथा प्रवर्तते तथाऽस्माभिः **'प्रत्यग्बोध' इत्यनेन** व्याख्यातम् **इत्यर्थः** । शबलौ हित्वा **इत्यनेन लक्ष्यावुपादाय इत्यर्थाल्लभ्यते । 'वाक्यं यथा प्रवर्तते तथाऽस्माभिर्व्याख्यातम्' इत्यनेन व्याख्यानव्याख्येययोः एकस्वरूपत्वेन अन्योन्यविरोधाभावाद् अस्मत्प्रणीतो ग्रन्थो विद्वद्भिर्नोपेक्षणीय इत्यर्थादुक्तं भवति । आदरादेव व्याकृत एतच्छ्रोतॄणां मुमुक्षूणां निःसंशयस्वरूपसाक्षात्कारो भविष्यतीति तात्पर्यं न तु विजिगीषुत्वेन ॥ ४३ ॥**

वाच्यार्थ-संबंध रूप वाक्यार्थ समझने में भी कई बार ढंग जानना पड़ता है अन्यथा उद्देश्य-विधेय आदि उलट-पुलट कर गलत अर्थ समझ आ जाता है तो लक्ष्यार्थ से अखण्डवाक्यार्थ समझने के लिए ढंग की जानकारी चाहिये इसमें कहना ही क्या । पूर्व में (श्लो. ७) शिष्य ने पूछा भी था कि वाक्य किस तरह अखण्ड का ज्ञान कराता है । आचार्य इस रहस्य को सुस्पष्ट कर रहे हैं–

तत्त्वमसि आदि वाक्य अखण्ड का बोध कराने में प्रवृत्त होता है तो 'तत्' और 'त्वम्' पदों के विशेषणयुक्त वाच्य दोनों अर्थों को छोड़कर दोनों लक्ष्य अर्थों का ग्रहण कर प्रवृत्त होता है । वाक्य का अर्थ समझाने में प्रवृत्त वाक्य जैसे प्रवृत्त होता है वैसा हमने सतात्पर्य समझा दिया है ॥ ४२-४३ ॥

'वाक्य प्रवृत्त होता है' यह कहने का तरीका है । वाक्य से तात्पर्यानुरूप अर्थ समझने के लिये प्रवृत्त अधिकारी को इन कदमों से विचारपूर्वक अर्थ समझना पड़ता है यह भाव है । 'दिल्ली वाला देवदत्त काशी में है'–यहाँ दिल्ली व काशी विशेषणों वाले 'दोनों' देवदत्तों को छोड़कर दोनों में अनुगत पिण्ड का ग्रहण करने से अभेदरूप वाक्यार्थ पता चलता है । विशेषणों वाले 'दो' इसलिये कि शुद्ध (निर्विशेषण) की अपेक्षा विशिष्ट अलग होता है, अलग प्रतीत होता है । सफेद कपड़ा व लाल कपड़ा प्रतीत अलग होते हैं, कोई बता दे कि सफेद को ही रंग दिया है तभी पता चलता है कि एक ही है । इसी प्रकार तत्-त्वम् जो विशिष्ट पदार्थ हैं, सर्वज्ञतादि वाला ईश्वर और परिच्छिन्नतादि वाला जीव, वे वाच्य अर्थ हैं जिन्हें छोड़कर आत्ममात्ररूप अखण्ड अर्थ को समझना है । इसके लिए तत्-त्वम् के लक्ष्य अर्थात् विशेषणरहित अर्थों का ग्रहण करना पड़ता है । इस प्रक्रिया को स्वयं कुछ श्लोकों में बताने जा रहे हैं । आचार्य ने कहा कि जैसे प्रवृत्त होता है वैसा समझा दिया है; इसका अभिप्राय है कि जिन लक्ष्यार्थों का ग्रहण करना पड़ता है उनका स्वरूप और उन्हें समझने का ढंग विस्तार से बता चुके हैं, श्लोक ९ से यही विचार स्पष्ट करते चले आये हैं । मूल में 'आदरात्' कहा, अर्थात् यह समझना तात्पर्य से है : पदार्थशोधन यद्यपि वाक्यार्थ ज्ञान के लिये है तथापि उसी में सर्वाधिक यत्न अपेक्षित है, वही सबसे ज्यादा कठिन है अतः आचार्यों का इसमें तात्पर्य है कि शिष्य पदार्थशोधन करे । विश्वेश्वरपण्डित के अनुसार 'समझा दिया' से श्लोक ३९ का परामर्श है, अर्थात् वहाँ समझा दिया । आनंदगिरि स्वामी

कहते हैं 'बड़ी वाक्यवृत्ति में' समझाया है । कुछ लोग इसका अर्थ करते हैं कि 'बृहती वाक्यवृत्ति' नामक कोई अन्य प्रकरण आचार्य ने रचा था जिसकी ओर संकेत है । कोई लोग मानते हैं कि छांदोग्य भाष्य आदि को ही वाक्य का विस्तृत व्याख्यान होने से बड़ी वाक्यवृत्ति कहा है । उपदेशसाहस्री के तत्त्वमसि प्रकरण में श्लोक १७० से प्रारम्भ कर विस्तार से वाक्यार्थ का विवरण है, उसकी ओर भी संकेत माना जा सकता है । टीकाकार तो अन्यत्र व्याख्यान की दृष्टि से ही 'व्याख्यात' शब्द का प्रयोग मानते हैं, प्रकृत ग्रंथ में ही पूर्व और आगामी श्लोकों से व्याख्यात–ऐसा अर्थ नहीं ।

– ४२-४३ –

त्वमर्थः

आलम्बनतया भाति योऽस्मत्प्रत्ययशब्दयोः ।
अन्तःकरणसम्भिन्नबोधः स त्वम्पदाभिधः ॥ ४४ ॥

तत्रोक्तमेव सुखप्रतिपत्त्यर्थमनुक्तमत्रादौ त्वंपदवाच्यमर्थं कथयति–आलम्बनेति ॥ ४४ ॥

एवं वाच्यार्थं परित्यज्य लक्ष्योपादानेन वाक्यं प्रवर्तत इत्युक्तम् । इदम् अनुपपन्नम् । शब्दस्य वाच्यार्थ एव मुख्यार्थः । वाक्यस्य पदयोः मुख्यार्थपरिग्रहे विरोधे सति लक्ष्यार्थोपादानं युक्तम् । तत्र को विरोधः ? इत्याकांक्षायाम्; विरोधं दर्शयित्वा लक्षणावृत्तिं वक्तुं तत्त्वंपदयोः मुख्यार्थं संक्षेपतो दर्शयति–आलम्बनतयेति । योऽन्तःकरणसम्भिन्नो बोधः अस्मत्प्रत्ययशब्दयोः आलम्बनतया भाति स त्वम्पदाभिधः–**इत्यन्वयः** । आलम्बनतया **विषयतया** । अन्तःकरणसम्भिन्नबोधः **अन्तःकरणेन अवच्छिन्नबोधः । त्वंपदेन अभिधीयते** त्वंपदाभिधः **त्वंपदवाच्यो जीव इत्यर्थः ॥ ४४ ॥**

लक्षणा का आश्रयण तभी होता है जब तात्पर्य के निर्णय से पता हो कि वाच्यार्थ अभिप्रेत नहीं है । प्रकृत में वाच्यार्थ अभिप्रेत मानने पर वाक्य विरोधी प्रमाण से पीडित रहेगा यह दिखाने के लिए क्रमशः दो श्लोकों से त्वमर्थ व तदर्थ का उल्लेख करते हैं । वाच्यप्रदर्शन इसलिये है कि इसका ग्रहण करना असंगत समझ आ सके । पहले त्वंपदवाच्य बताते हैं–

अन्तःकरण से एकमेक हुआ जो ज्ञान 'मैं' इस मनोवृत्ति और 'मैं' इस शब्द के विषयरूप से प्रतीत होता है वह 'त्वम्' शब्द से कहा जाने वाला उसका वाच्यार्थ है ॥ ४४ ॥

'तुम' से सम्बोध्य चेतन कहा जाता है यही उ़त्सर्ग है । जिसे सम्बोधित करते हैं उसे यद्यपि विभिन्न प्रसंगों में विभिन्न विशेषणों से युक्त समझते हैं तथापि सर्वत्र अनुगत विशेषण तो अंतःकरण ही होता है यह अभिप्राय है । प्रायः तो स्थूल शरीर भी विशेषणरूप से अभिप्रेत होता ही है, अतएव यदि मृत व्यक्ति नया जन्म लेकर शरीरांतर में आता है तो उसे अलग व्यक्ति ही मानकर व्यवहार होता है, अंतःकरण की अनुगति से पूर्व वाला व्यक्ति ही उसे नहीं मान लिया जाता । किन्तु आचार्य का कहना है कि स्वयं उस व्यक्ति को तो 'मैं वही हूँ' यह प्रत्यभिज्ञा होती है । इसीलिये 'मैं' इस शब्द व ज्ञान का विषय कहा अर्थात् वह व्यक्ति तो स्वयं को 'मैं' कहता-समझता उस अंतःकरण के परामर्श से ही है । 'मैं कहीं से आया हूँ, मर कर कहीं जाऊँगा'–ये भाव

भी अंतःकरणविशिष्ट को त्वम्पदार्थ मानने से ही संगत हैं, उसमें स्थूलदेह को विशेषण मानने से नहीं। मूल में 'संभिन्न' कहा है, अर्थात् भली-भाँति बिंधा हुआ; तात्पर्य है कि उससे आत्मा को—'मैं'-व्यवहार के विषय को—अलग कर नहीं अनुभव किया जा रहा है। यह महावाक्य के 'त्वम्' शब्द का वाच्य अर्थ है।

– ४४ –

तत्पदार्थः

मायोपाधिर्जगद्योनिः सर्वज्ञत्वादिलक्षणः ।

पारोक्ष्यशबलः सत्याद्यात्मकस्तत्पदाभिधः ॥ ४५ ॥

*तत्पदवाच्यमर्थं कथयति—**मायोपाधिरिति** ॥ ४५ ॥*

एतेन अन्तःकरणावच्छिन्नत्वेन त्वंपदवाच्यत्वेन च प्रयुक्तं सद्वितीयत्वं चोक्तम् । परोक्षत्वपूर्णत्वप्रदर्शनार्थं तत्पदवाच्यार्थमाह—मायोपाधिरिति । मायोपाधिः **यत्नाश्रयाद् दर्पणवत् समष्ट्यज्ञानाश्रयत्वेन मायोपहिताविद्याकल्पितजीवागोचरत्वेन आवृताद्वयानन्द इति यावत् ।** अतो जगद्योनिः **जगद्विक्षेपाधिष्ठानम्, विशेषांशावृतियुक्तस्य रज्जवादेः सर्पादिभ्रमाधिष्ठानत्वदर्शनात् ।** सर्वज्ञत्वादिलक्षणः **इति । अत एव निमित्तकारणं स एवेत्युक्तं 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' (मुं. १.१.९) इति श्रुतेः ।** पारोक्ष्यशबलः **आवृतत्वाज्जीवापेक्षया परोक्षविशिष्टः । सत्याद्यात्मकः अपरिच्छिन्नज्ञानानन्दस्वरूपः । एवमुक्तलक्षणो यः स** तत्पदाभिधः **तत्पदवाच्य ईश्वर इत्यर्थः । मायोपहितत्वाद् अस्य परोक्षता, सर्वजगदधिष्ठानत्वेन पूर्णता ॥ ४५ ॥**

अब तत्पद के वाच्य ईश्वर के तटस्थ व स्वरूप लक्षण प्रदर्शित करते हैं—

जो सत्यादिस्वरूप माया-उपाधि से युक्त है, सर्वज्ञता आदि जिसके असाधारण धर्म हैं, जगत् का कारण है और परोक्षता से संकरित है वह तत्पद से कहा जाता है ॥ ४५ ॥

'सत्यादिस्वरूप' से ईश्वर का स्वरूपलक्षण बताया कि वह सत्य-ज्ञान-आनंद है। अपनी विशेषता अन्य पर आरोपित कराने वाला पदार्थ 'अन्य' का उपाधि कहलाता है जैसे स्फटिक पर लालिमा आरोपित कराने वाला पुष्प। माया भी अपनी सद्वयता, नाम-रूप आदि विशेषतायें सच्चिदानंद पर आरोपित कराने से उसकी उपाधि है। इसी से परमात्मा जगत् का योनि अर्थात् उपादान कारण है और निमित्त भी है। ईश्वर में जगत्कारण—जगत्कर्ता—होने के लिए जरूरी सर्वज्ञता, सर्वशक्ति आदि सभी धर्म उपस्थित हैं यह शास्त्रों से पता चलता है। वायुपुराण में (पूर्व १०.६०) बताया है 'ज्ञानं वैराग्यमैश्वर्यं तपः सत्यं क्षमा धृतिः । स्रष्टृत्वमात्मसम्बोधः त्वधिष्ठातृत्वमेव च ॥ अथ यानि दशैतानि नित्यं तिष्ठन्ति शंकरे ॥' सर्वज्ञता, तृप्ति आदि छह अंग भी महेश्वर के बताये गये हैं। वस्तुतः सर्वज्ञता-सर्वशक्तिमत्ता में ही बाकी का समावेश हो जाता है अतः आचार्य प्रायः इन्हीं शब्दों से निमित्त का प्रदर्शन कर देते हैं। ईश्वर में परोक्षता है अर्थात् नित्य अपरोक्ष जो स्वप्रकाश प्रत्यगात्मा, उससे ईश्वर भिन्न है इसी तरह ईश्वर समझा जाता है। संकरित है अर्थात् उसमें परोक्षता की मिलावट है। तत्पद के वाच्य का स्वरूप यही है।

– ४५ –

लक्षणाप्रवेशः

प्रत्यक्परोक्षतैकस्य सद्वितीयत्वपूर्णता ।

विरुध्यते यतस्तस्माल्लक्षणा संप्रवर्तते ॥ ४५ ॥

वस्तुतस्तस्य सत्याद्यात्मकत्वात् तद्विशिष्टौ वाच्यौ परित्यज्य प्रत्यक्चैतन्यमात्रं त्वंपदेन लक्ष्यम् । तत्पदेन चाऽद्वितीयचैतन्यमिति विवक्षितम् । तच्च लक्षणा सम्बन्धानुपपत्तिभ्यामेव । लक्षणायां प्रयोजकम् आह– ***प्रत्यक्परोक्षेति*** *॥ ४६ ॥*

एवं वाच्यार्थावभिधाय तयोरभेदप्रतिपादने विरोधं दर्शयन् लक्षणावृत्तिमाह–प्रत्यगिति । **वाच्ययोरेवाऽभेदे प्रतिपाद्यमाने, एकस्यैव प्रत्यक्त्वं परोक्षत्वं द्वितीयत्वं पूर्णत्वं च** विरुध्यत इति यतः **अतो** लक्षणा **प्रवर्तत इत्यन्वयः** । विरुध्यत **इत्यत्र मायोपाधिकत्वकार्योपाधिकत्वकिंचिज्ज्ञत्वसर्वज्ञत्वादिविरोधो द्रष्टव्यः ॥ ४६ ॥**

महावाक्य तत्पदार्थ और त्वंपदार्थ का अभेद बताता है । दोनों पदार्थों के वाच्यस्वरूप इस लायक हैं नहीं कि अभिन्न समझे जा सकें । यही व्यक्त करने के लिए वाच्य अर्थ दिखाये थे । उनका अभेद क्यों संगत नहीं यह स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि लक्षणा के सहारे अर्थ समझना पड़ता है–

एक ही वस्तु में युगपत् प्रत्यक्ता व परोक्षता एवं सद्वितीयता व पूर्णता होना क्योंकि व्याहत है इसलिये महावाक्यीय पदों को पुरुषार्थावसायी बोध देने में सहारा देने के लिए लक्षणावृत्ति कारगर होती है ॥ ४६ ॥

[पंचदशी में 'विरुध्येते' पाठ उद्धृत है ॥]

जीव को तत्काल ब्रह्म कहा जा रहा है, यत्नादि, अवस्थान्तर-कालान्तरादि की अपेक्षा से नहीं । जैसे 'तू दसवाँ है' में उसी समय दसवाँ होना बताते हैं वैसे समझ आता है कि वाक्य मुझे अभी ब्रह्म कह रहा है । बल्कि वर्तमान काल भी विशेषणतया नहीं प्रतीत होता, 'मैं हमेशा ब्रह्म हूँ' यही समझ आता है । किन्तु 'मैं' से सद्वितीय प्रत्यक् और 'ब्रह्म' से परोक्ष पूर्ण समझने पर स्पष्ट विरोध लगता है कि ऐसे पदार्थ अभिन्न कहे जाने और समझे जाने योग्य नहीं हैं । सद्वितीय अर्थात् किसी-न-किसी दूसरे के साथ, अर्थात् वस्तुकृत परिच्छेद वाला । प्रत्यक् का भी यहाँ देहादि के प्रति आन्तरत्व अर्थ समझना चाहिये । इसी दृष्टि से मानसोल्लासवार्तिक में (३.१४) कहा है 'प्रत्यक्त्वं च पराक्त्वं च त्यक्त्वा तत्त्वमसीति वाक् । तथैव लक्षयत्यैक्यं जीवात्मपरमात्मनोः ॥' इस विषय पर संक्षेपशारीरक में (१.१९७ आदि) भी यही प्रकाश डाला गया है । प्राथमिक बोध वाच्यार्थ ग्रहण करने से होता है और उसमें विरोध लगता है । वेद तात्पर्यतः जो उपदेश दे वह विरुद्ध तो हो नहीं सकता । सफल ज्ञान देकर ही वेद कृतकार्य होगा । अतः समझ आता है कि वेद यहाँ वाच्यार्थ के अभिप्राय से नहीं बल्कि लक्ष्यार्थ के अभिप्राय से कह रहा है । वेद का तो प्रारम्भ से ही अभिप्राय लक्ष्यैक्य बताना था किन्तु हमें अपने संस्कारों से पहले वाच्य ही उपस्थित

होता है यह जानना चाहिये । लक्षणा का मुख्य प्रयोजक तात्पर्य होता है । समझने के लिए अन्वयानुपपत्ति भी प्रयोजक मान ली जाती है । अच्युतराय मोडक ने पंचदशीटीका में इसी श्लोक पर बताया है कि आचार्य ने प्रत्यक्ता-परोक्षता के अभेदान्वय को विरुद्ध कहकर अन्वयानुपपत्तिरूप लक्षणाबीज दिखाया है और 'एकस्य' के द्वारा 'सदेव.......एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि उपक्रमादि लिंगों से निर्णीत तात्पर्य की अनुपपत्ति रूप लक्षणाबीज दिखाया है । वेदान्त में तात्पर्यानुपपत्ति ही लक्षणाबीज है । लक्षणा को शब्द की ही वृत्ति कहा जाता है । शक्ति भी उसी की वृत्ति मानी गयी है । वस्तुतस्तु दोनों ही बोद्धा पुरुष की चेतोवृत्तियाँ हैं । यद्यपि शक्ति के लिए माना गया है कि शब्द में योग्यता होगी तभी वह उस अर्थ में शक्त समझा जायेगा तथापि शब्दों के बदलते अर्थों को देखते हुए यह स्वीकारना कठिन ही है । संकेत और शक्त का पारिभाषिक भेद भी मनमाना है क्योंकि शक्त माने गये शब्दों के भी विभिन्न और विरुद्ध अर्थ शक्य देखे जाते हैं । अतः प्रायिकता के आधार पर ही शक्यार्थ-लक्ष्यार्थ का भेद संगत प्रतीत होता है : जो अर्थ जिसे प्रायः उपस्थित हो उसके लिये वही शक्य है और उससे संबंधादि खोजकर जो अर्थ भासे वह लक्ष्य है । लक्षणा तो चाहे जैसे अर्थ बता सकती है पर जब वह 'संप्रवृत्त' होती है तभी तात्पर्यानुसारी अर्थ ही बताती है । श्रौत-प्रसंगों में तात्पर्य उपक्रमादि लिंगों के अनुसार आचार्यदर्शित रीति से निर्धारित होता है । अद्वैत में तात्पर्य है इसी को उपक्रमादि से समर्थित करने का नाम श्रवण है । अतः महावाक्य में आये पदों के वाच्यार्थ से अद्वैत न सिद्ध होने के कारण उनका वही लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जायेगा जो वाक्य को अद्वैतबोधक बनाये । वैसे अर्थ दोनों पदों के पूर्व प्रसंग में बता आये हैं । सच्चिदानंद ही वह अनुगत अर्थ है । वाच्यार्थों में भेद तो नाम-रूप के परामर्श से है । नाम-रूप छोड़कर केवल सच्चिदानंद का ग्रहण लक्षणा से होने पर वाक्य अद्वैत प्रमा उत्पन्न करता है ।

– ४६ –

लक्षणा

मानान्तरविरोधे तु मुख्यार्थस्य परिग्रहे ।

मुख्यार्थेनाऽविनाभूते प्रतीतिर्लक्षणोच्यते ॥ ४७ ॥

*सम्प्रति लक्षणालक्षणमाह–**मानान्तरेति** । गुणवृत्तिनिवृत्त्यर्थं **मुख्यार्थे**नेत्यादि विशेषणम् । मुख्यां वृत्तिं व्यावर्तयितुं प्रथमविशेषणम् । कुण्डपायिनामयने त्वग्निहोत्रशब्दः सायंप्रातराहुतिद्वयनिर्वर्त्यापूर्वसादृश्यात् मासगुणके कर्मान्तरे प्रकरणान्तरस्थे गुणवृत्त्या वर्तते । विषभोजनवाक्ये पदद्वयलक्षणायाम् उक्तलक्षणमविरुद्धं सिद्ध्यति । विषशब्दस्य हि प्रकृते प्रयोगे मुख्यार्थो हि नियमेन अनर्थसम्बन्धम् अनुभवति । क्रियापदार्थश्चायं निवृत्तिनियतः । अतो नापत्तिः इति भाव ॥ ४७ ॥*

अस्मिन् वाक्य इयं लक्षणा संभवति इति वक्तुं लक्षणासामान्यलक्षणमाह–मानान्तरेति । मुख्यार्थस्य **वाच्यार्थस्य** अपरिग्रहे **प्रत्यक्षादिप्रमाणविरोधे सति** मुख्यार्थेन अविनाभूतेऽर्थान्तरे प्रतीतिर्लक्षणोच्यते । **अत्र प्रतीतिहेतुभूतशब्दप्रवृत्तिः अर्थाद् लभ्यते । सा च त्रिविधा–(१) जहल्लक्षणा, (२) अजहल्लक्षणा, (३) जहदजहल्लक्षणा चेति । तासु–**

(१) गंगायां घोषः प्रतिवसति इत्यस्मिन् वाक्ये गंगायां घोषवासानुपपत्तेः गंगाशब्दस्य मुख्यार्थं प्रवाहं परित्यज्य तदविनाभूतेऽर्थान्तरे तीरे वर्तमानता जहल्लक्षणा । एवं 'मनो ब्रह्म' इत्यस्मिन् वाक्य दृश्यत्वेन अचेतनस्य मनसः चैतन्यैकरसब्रह्मत्वानुपपत्तेः मनःशब्दस्य मुख्यार्थं धीवृत्तिमात्रं परित्यज्य तत्साक्षिचैतन्येऽर्थान्तरे वर्तमानता जहल्लक्षणा । (२) श्वेतो धावति इत्यत्र श्वेतगुणमात्रस्य धावनानुपपत्तेः श्वेतशब्दमुख्यार्थं श्वेतगुणमपरित्यज्य तदाश्रयभूतेऽर्थान्तरे श्वेतोऽश्वो धावतीति श्वतेशब्दस्य वर्तमानता अजहल्लक्षणा । एवं 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', 'आनन्दो ब्रह्म' इत्युक्ते लोके ज्ञानानन्दादीनां धर्मत्वेन प्रसिद्धत्वात् तेषां ब्रह्मत्वानुपपत्तौ सविषयज्ञानादीनां गुणत्वेन ब्रह्मत्वानुपपत्तौ अपि निर्विषयज्ञानानन्दादेः आत्मरूपत्वेन गुणत्वाभावात् सत्यज्ञानानन्दादिशब्दस्य वर्तमानता अजहल्लक्षणा । (३) सोऽयं देवदत्त इत्युक्ते तत्कालतद्देशविशिष्टस्य देवदत्तस्य एतत्कालैतद्देशविशिष्टस्य देवदत्तस्य च उभयोः एकत्वानुपपत्तौ तद्देशतत्कालैतद्देशैतत्कालविशिष्टमेकमंशं त्यक्त्वोभयत्र अनुगतदेवदत्तमात्रांशे शब्दस्य वर्तमानता भागलक्षणा, सैव जहदजहल्लक्षणोच्यते ॥ ४७ ॥

महावाक्य के पदों का लक्षणा से अर्थ ग्रहण करना चाहिये यह बताने पर स्वाभाविक जिज्ञासा होगी कि लक्षणा किसे कहते हैं ? कुछ दार्शनिक शक्य से सम्बन्ध को लक्षणा कहते हैं । कोई मानते हैं प्रतिपाद्यसंबंध को लक्षणा । आलंकारिक लक्षणा को क्रिया बताते हैं जैसा काव्यप्रकाश में कहा है 'मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात् । अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणाऽऽरोपिता क्रिया ॥' इस प्रकार मतभेद होने से स्वमत बताना जरूरी है अतः लक्षणा का लक्षण करते हैं–

शब्द के वाच्यार्थ को समझने पर यदि अन्य किसी प्रमाण का विरोध हो, तो वाच्यार्थ से निश्चित संबंध वाले अन्य अर्थ की प्रतीति को लक्षणा कहते हैं ॥ ४७ ॥

(विश्वेश्वरपंडित 'मुख्यार्थस्याऽपरिग्रहे' पाठ मानते हैं, अर्थ तो एक ही है ।)

यहाँ लक्षणा को 'प्रतीति' कहा है । शब्द से अर्थ प्रतीत होता है, वाच्य भी और जरूरत होने पर लक्ष्य भी । जिस अर्थ से शब्द का नियत संबंध गृहीत हो उसे रूढ या वाच्य कहते हैं । जब शब्द से उस अर्थ की प्रतीति हो तो उस प्रतीति को शक्ति समझ लेना चाहिये । शब्द स्वभाव से रूढार्थ ही पहले उपस्थित करता है क्योंकि वही नियत होता है और नियत के आधार पर ही परस्पर व्यवहार संभव है, शब्द का प्रयोजन परस्पर व्यवहार ही है । किंतु रूढ अर्थ ग्रहण कर वाक्यार्थ समझने पर यदि प्रमाणविरोध हो तब समस्या है । मूल में 'अन्य किसी प्रमाण का विरोध' यह प्रकृत शब्द से अन्यता के अभिप्राय से कहा है । स्वतःप्रामाण्यवाद में बोधक शब्द स्वयं भी प्रमाण है ही लेकिन यदि अन्य प्रमाण से शब्द का विरोध होता है तो परीक्षा की ज़रूरत पड़ती है क्योंकि दो प्रमाणों का परस्पर विरोध नहीं होता, या उनके विषय अलग-अलग होते हैं और या उनमें से एक प्रमाण ही नहीं होता । अतः जो वाक्य सुना जाये जिसका अर्थ उस वाक्य की अपेक्षा किसी अन्य प्रमाण से विरुद्ध हो, उस वाक्य के प्रामाण्य की सुरक्षा के लिए उसका ऐसा अर्थ मानना ज़रूरी है जो किसी प्रमाण से विरुद्ध न हो । ऐसे अर्थ को समझने के लिए तात्पर्य पता होना चाहिये, तदनुकूल अर्थों को पदों से समझना उपपन्न होना चाहिये ।

यदि कोई उपपन्न ढंग नहीं होगा तो वाक्य अप्रमाण ही मानना पड़ेगा । लक्षणा के नाम पर सर्वथा निरंकुश कल्पना तो मान्य है नहीं । पद अपने रूढ अर्थ छोड़कर तात्पर्यतः निर्णीत वाक्यार्थ के अनुकूल पदार्थ को जब किसी संगति से प्रतीत कराते हैं तब उस प्रतीति को लक्षणा कहा जाता है । पद से हुई अर्थप्रतीति यदि नियतविषयक है तो शक्ति और यदि तदन्यविषयक है तो लक्षणा कहलाती है । अर्थ प्रतीति से पूर्व का मनोव्यापार भी 'उसके द्वारा प्रतीति होती है' इसलिये प्रतीति कहला सकता है किन्तु वह अर्थापत्ति या उपपादनरूप होता है । शब्द सुनकर रूढप्रतीति होना– यहाँ तक शब्दप्रमाण का क्षेत्र है । इसके बाद रूढार्थसंबंधरूप वाक्यार्थ के बारे में प्रमाणांतर उपस्थित होना, उनका विरोध भासना, वाक्य प्रमाण होना चाहिये यह निर्णय करना, वाक्य के तात्पर्य का निर्धारण करना और तात्पर्यभूत वाक्यार्थ संभव बनाने वाले पदार्थों को पदों से बोधनयोग्य समझना– ये सभी व्यापार विचारात्मक हैं । ये शब्दप्रमाण का क्षेत्र नहीं । इनमें अपनी सामर्थ्य आदि से श्रोता को अनेक विकल्प सामने आ सकते हैं । प्रमाणांतरविरोध प्रतीत हो ही यह भी सर्वत्र नियम नहीं कर सकते, रूढार्थ में अनुपपत्ति का भान सभी को हो यह भी निश्चित नहीं कहा जा सकता, वाक्य को प्रमाण मानकर उसका संगत अर्थ सभी लगायेंगे, व्यर्थ मानकर उपेक्षा नहीं कर देंगे यह भी नियत नहीं है, सब श्रोता वाक्य का तात्पर्य समझ ही लेंगे और एक ही तात्पर्य समझेंगे ऐसी भी कोई मनु महाराज की आज्ञा नहीं है और इसलिये सबको रूढभिन्न एक ही अर्थ प्रतीत होगा, यह कह नहीं सकते । ये सारे व्यापार विचाररूप हैं । जो यह विचार कर लेता है उसे जो प्रतीति शब्द से पदार्थ की होती है वह लक्षणा है यह भाव है । जैसे एक ही शक्य का नियम न होने से श्रोतामात्र को समान रूढार्थबोध समझ आता है यह नहीं कह सकते ऐसे लक्ष्यार्थ के लिए भी नियम नहीं । व्यवहारानुसार ही इन बातों को नियमित कहा जाता है : ज्यादातर लोग ज्यादातर बार यदि एक ही अर्थ समझें तो उसे नियमित कह देते हैं और जो उसे न समझे उस व्यक्ति को असामान्य मान लेते हैं । प्रायः वे असामान्य मूर्ख समझे जाते हैं लेकिन उन असामान्यों में से ही कुछ अत्यंत सूक्ष्मदर्शी निकल आते हैं ! शत-प्रतिशत नियमित न होने पर भी व्यावहारिक नियम जैसा शक्य या रूढ अर्थों के बारे में है कि अमुक शब्द से अमुक अर्थ ही समझा जाता है वैसा ही लक्ष्यार्थों के बारे में है कि उस परिस्थिति में अधिकतर श्रोता वैसा ही अर्थ समझते हैं । लौकिक विषयों में यही बात है । शास्त्रीय प्रसंग में अपने संप्रदाय के अनुसार बोध होना ही नियमित किया जा सकता है । संप्रदायसंमत सिद्धान्त शास्त्र व युक्ति के अनुकूल हैं या नहीं यह तो विवादास्पद है किंतु जो अधिकारी जिस संप्रदायानुसार शास्त्र समझने में तत्पर है वह तदनुकूल अर्थ ही लक्षणा से भी समझ सकता है । बिना संप्रदाय के शक्यार्थ का तो कुछ हद तक निर्धारण कोशों से संभव है लेकिन नानार्थक शब्दों में पूर्ववत् ही कठिनाई है । ऐसे ही यौगिक शब्दों की भी समस्या है । अतः संप्रदायमात्र से हटकर वेद का कोई भी संगत अर्थ नहीं समझा जा सकता । इसलिये शास्त्र में लक्षणा को संप्रदायानुसारी होना पड़ता है । हर हालत में लक्षणा कहते प्रतीति को हैं । प्रतीति से दोनों समझने चाहिये–विचार भी और निर्णय भी । इसीलिये अन्यत्र वृत्ति या व्यापार को लक्षणा कहा है । शब्द सुनने और अर्थ समझने के बीच जो ऐसी मानसक्रिया

होती है जो सुने हुए शब्द से प्रेरित है और नियतरूप से उसका अर्थ समझने में ही उपयुक्त है, वह वृत्ति या व्यापार शब्द से इस प्रसंग में व्यवहृत होती है । प्रतीति-साधन होने से वह मानसक्रिया भी प्रतीति है । रूढार्थबोध स्थल में यह क्रिया स्मरणात्मक है : शब्द सुनकर स्मरण किया जाता है कि इस शब्द का अमुक अर्थ से सम्बंध समझा था (स्मृति में तत्ता का, पूर्वकालतादि का, उलेलख रहता है) और तब पता चलता है कि इसका यह अर्थ है । स्मृति और 'पता चलने' में अंतर है यह ध्यान देना चाहिये । लक्ष्यार्थग्रह स्थल में उक्त क्रिया पूर्वदर्शित विचाररूप होती है ।

विचार से जो अर्थ ग्रहण किया जाये उसका रूढ अर्थ से निश्चित संबंध होना चाहिये अर्थात् श्रोता के मन में संबंध का निश्चय होना चाहिये । अतः चाहे यह जरूरी नहीं कि त्रिकाल के, त्रिलोकी के समस्त कौवे हमेशा दही बिगाड़ने वाले ही हों—कई बार कौवा खुले दही के पास आकर भी उसकी उपेक्षा कर देता है—लेकिन जिस श्रोता को निश्चय है कि कौवे और दही बिगाड़ने वाले का संबंध है वह कौवे पद से दही बिगाड़ने वाले की लक्षणा कर लेता है । काव्य के 'ध्वनि' पक्ष का यदि लक्षणा में समावेश करें तो स्पष्ट है कि लक्षणा में रूढार्थसम्बन्ध अत्यधिक लम्बा हो सकता । यदि ध्वनि को जाने भी दें तब भी सम्बंध को परिभाषित नहीं किया जा सकता, यही कहना पड़ेगा कि श्रोता को जो संबंध रूप से प्रतीत हो वही यहाँ संबंध है। मूलकार का प्रयोग है 'मुख्यार्थेनाऽविनाभूते' अर्थात् मुख्य या रूढ अर्थ के बिना जो नहीं हुआ करता अथवा जिसके बिना रूढ अर्थ नहीं हुआ करता । केवल तत्त्वमसि की दृष्टि से कह सकते हैं कि यहाँ रूढ अर्थ सच्चिदानंद के बिना नहीं हुआ करते अतः सच्चिदानंद को मुख्यार्थाविनाभूत मानना उचित है । किंतु अविनाभाव को सर्वत्र अनिवार्य कहना अभिप्रेत नहीं है, अविनाभाव से संबंधमात्र विवक्षित है । वह भी श्रोता की समझ में होना चाहिये यह कहा जा सकता है ।

आनंदगिरि टीका में प्रकरण आ गया अतः गौणी वृत्ति का भी उल्लेख कर दिया है जो वेदांत में लक्षणा के अंतर्गत है । तत्त्वमसि आदि में उसका विनियोग नहीं । लक्षणा का उन्होंने दृष्टांत दिया है 'जहर खाओ' यह वाक्य; तात्पर्य समझने वाला इसका अर्थ लगाता है 'अमुक अनर्थोपाय से निवृत्त हो जाओ' अतः 'जहर' शब्द अनर्थोपाय में और 'खाओ' शब्द निवृत्ति में लाक्षणिक है । विश्वेश्वर टीका में लक्षणा के तीन भेद सोदाहरण समझाये हैं—(१) वाच्यार्थ को पूरा ही दौड़कर अर्थांतर ग्रहण करें तो जहल्लक्षणा है जैसे 'गंगा पर मकान है' में गंगा का रूढार्थ प्रवाह पूरा ही छोड़कर तट अर्थ ग्रहण किया जाता है । (२) वाच्यार्थ रखकर उसमें कुछ जोड़ा जाये तो अजहल्लक्षणा है जैसे 'सफेद दौड़ा' में सफेद के साथ 'घोड़ा' इतना जोड़ दिया जाता है । (३) वाच्य के कुछ हिस्से को ही छोड़ें, पूरा नहीं, तब जहदजहल्लक्षणा या भागत्यागलक्षणा या भागलक्षणा है, जैसे 'दिल्ली वाला देवदत्त ही आबू वाला है' में दिल्ली-आबू हिस्से छोड़ते हैं, देवदत्त को ग्रहण किये रहते हैं । महावाक्यों में यह तीसरी ग्राह्य है यह अगले श्लोक से कहना ही है ।

श्लोक में 'मुख्यार्थेनाविनाभूते' का अभिप्राय यह भी समझा जा सकता है कि लक्षणा से वही पदार्थ ग्रहण किया जाता है जो वाक्य के अभिप्रेतार्थ के लिए जरूरी है । अर्थात् 'मुख्य' का मतलब रूढ नहीं वरन् वाक्य प्रतिपाद्य तात्पर्यार्थ है । लक्षणा का प्रयोजन ही उस अर्थ को संगत करना है अतः लक्ष्यार्थ का तात्पर्यार्थ से अविनाभाव संबंध संगततर है ।

– ४७ –

भागत्यागः

तत्त्वमस्यादिवाक्येषु लक्षणा भागलक्षणा ।

सोऽयमित्यादिवाक्यस्थपदयोरिव नाऽपरा ॥ ४८ ॥

*ननु किं समग्रा जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा, उत जहदजहल्लक्षणा ? प्रथमे सर्वथा वाच्यार्थपरित्यागाद् आत्मनो जडत्वे ब्रह्मणश्च असत्यादिरूपमापद्यते । द्वितीये विशिष्टत्वमुभयत्राऽपि स्पष्टमापतेत् । न तृतीयः, द्वयोरपि भागाऽसम्भवाद् ? इत्याशंक्य; काल्पनिकं भागमादाय परिहरति–***तत्त्वेति*** *।* ***भागलक्षणा*** *वाच्यार्थभागं परित्यज्य भागोपादानलक्षणेति यावत् । न चेयमप्रसिद्धा जहदजहल्लक्षणेत्याह–****सोऽयमित्यादीति*** *। स्वयं प्रति ज्ञातं देवदत्तैक्यं परस्मै बुभुत्सवे प्रतिपादयितुं 'सोऽयं देवदत्त' इत्यादि वाक्यं प्रयुज्यते । तत्र तद्देशकालवैशिष्ट्यस्य एतद्देशकालवैशिष्ट्यस्य अबुभुत्सितत्वात् तत्परित्यागेन देवदत्तस्वरूपमात्रं पदद्वयेन लक्ष्यते । तथा तस्मिन् वाक्ये सोऽयम् इति पदयोः वाच्यार्थैकदेशपरित्यागेन तदेकदेशोपादानेन बुभुत्सितदेवदत्तैक्ये पर्यवसानवत् प्रकृतेऽपि जहदजहल्लक्षणया पदद्वयम् अहं ब्रह्म इत्येकरसे वाक्यार्थे पर्यवस्यतीत्यर्थः ॥ ४८ ॥*

एवं सति तत्त्वमस्यादिवाक्येषु का लक्षणा ? इत्यत आह–तत्त्वमस्येति । सोऽयं देवदत्त इत्यस्मिन् वाक्ये सोऽयंशब्दयोः मुख्यार्थपरिग्रहे तद्देशतत्कालविशिष्टस्य एतद्देशैतत्कालविशिष्टत्वाभावाद् मुख्यार्थयोरेकत्वाऽसम्भवेऽपि सोऽयंपदे उभयत्र वैशिष्ट्यांशं त्यक्त्वा यथा देवदत्तमात्रे प्रवर्तते तथा तत्त्वमस्यादिवाक्येऽपि तत्त्वंपदयोः मुख्यार्थपरिग्रहे परोक्षस्य प्रत्यक्त्वाभावाद् अपरिच्छिन्नत्वेन पूर्णस्य द्वितीयत्वाभावाच्च वाच्यार्थयोरेकत्वाऽसंभवे सति तत्त्वंपदे उभयत्र परोक्षत्वादिसद्वितीयत्वादिवैशिष्ट्यांशं त्यक्त्वा क्रमात् पूर्णानन्दे प्रत्यग्बोधे च प्रवर्तेते । ननु तथाऽपि पूर्णानन्दप्रत्यग्बोधयोः कथं तादात्म्यमिति चेद् ? असीतिपदेन प्रत्यग्बोधस्यैव ब्रह्मरूपत्वेन पूर्णानन्दैकत्वे कथिते सति वक्ष्यमाणोपायेन पूर्णानन्दत्वे प्राप्ते प्रत्यग्व्यावृत्तिः स्यात् । बोधस्यैव आनन्दरूपत्वं पूर्वमेवोक्तं 'प्रत्यग्बोधो य आभाति' (३९) इत्यस्य व्याख्यानावसरे । एवं तत्त्वंपदयोः भागलक्षणयैव तादात्म्यं स्वीकर्तव्यं, न लक्षणान्तरेण, तयोरत्राऽसंभवात् ।

केचिद् मायामोहितधियः प्रकारान्तरेण वाक्यार्थं कल्पयन्ति । कथमिति चेत् ? त्वं तदसि–तदंशोऽसि, तद्विकारोऽसीति वा ! तत् स्मर्तुमपि न योग्यम् । कथमिति चेत् ? तत्त्वमसि-वाक्ये परस्यांशो जीव इति, विकार इति वा नोच्यते; 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' (तै. २.६) इत्यादि, 'अनेन जीवेन' (छां. ६.३.२) इत्यादिश्रुत्या स्वमायासृष्टजगति परमात्मन एव जीवरूपेण अवस्थितत्वात् । यथा घटाकाशो महाकाशस्य अंशो वा विकारो वा न भवति, एवमात्मनो निरवयवत्वेन, निरंशत्वाद् नोभयम् । 'आदित्यो यूपः', 'यजमानः प्रस्तरः' इतिवत् प्रशंसापरं न भवति; यूपादेः आदित्यस्वरूपासंभवात् प्रशंसापरत्वम्, अत्र तु लक्ष्यार्थयोः अत्यन्तैक्ये

विरोधाभावाद् नार्थवादता । अग्निर्माणवक इत्यादिवद् न गौणार्थप्रतिपादकम्, आत्मनो निर्गुणत्वात् । नापि तत्त्वतोऽस्य परमात्मनः कार्यत्वप्रतिपादकं वाक्यं मृद् घटः, बीजं वृक्ष इतिवद्; आत्मनोऽनादित्वेन जन्माद्यभावात् तत्कार्यत्वानुपपत्तेः । नापि वाक्यं जातिव्यक्तिप्रतिपादकं दीर्घोऽश्वो ह्रस्वोऽश्वः स्थूलो मनुष्यः कृशो मनुष्य इतिवद्; आत्मन एकत्वेन व्यक्तिभेदाभावात् । न च नीलोत्पलं शुक्लः पट इत्यादिवाक्यवद् गुणगुण्यात्मकत्वप्रतिपादकं; निर्गुणत्वाद् आत्मनः । नाऽपि वैशिष्ट्यप्रतिपादकम्; आत्मस्वरूपनिर्विकल्पकज्ञानैकरसत्वाद् वैशिष्ट्यानुपपत्तेः । नाप्युपासनापरं वाक्यं, 'वाचं धेनुमुपासीत' (बृ. ५.८) 'आदित्यो ब्रह्मेत्युपासीत' (मैत्र्यु. ६.१५) इत्यादिवाक्यवद्; अत्यन्तैक्यज्ञानार्थमेव तत्त्वमसीति नवकृत्त्व उपदिष्टत्वात्, एतज्ज्ञानशेषत्वात्सर्वोपासनायाः । एतत् सर्वं वैशिष्ट्यनिराकरणेनैव निराकृतप्रायं, तथापि स्पष्टार्थमनूद्य निरस्तम् । एवम् आत्मभेदाभावात् तदैक्यमेव वाक्यार्थ इति सिद्धम् । अतः सर्वेषां वेदान्तानां यथासंभवं लक्षणावृत्त्यैव ब्रह्मस्वरूपप्रतिपादकत्वम् । केषांचिद् व्यावृत्त्या स्वरूपपर्यवसानम् । न गुणवृत्त्या, आत्मनो निर्गुणत्वात् । नापि मुख्यवृत्त्या स्वरूपप्रतिपादकत्वम्, 'यतो वाचो निवर्तन्ते' (तै. २.४) इति वाच्यत्वनिषेधात् । ननु तर्हि 'ब्रह्मैक्यविषयां वाचं वदेत् सन्ततमास्तिकः', 'अन्या वाचो विमुंचथ' (मुं. २.२.५) इत्यत्र ब्रह्मणो वाग्विषयत्वं कथं श्रूयत इति चेत् ? न । मुख्यवृत्ति-गुणवृत्ति-विषयत्वाऽभावेऽपि लक्षणावृत्ति-विषयत्वमात्रपरत्वात् । अतो 'मनो ब्रह्म' (छां. ३.१८.१) इत्यादिसदृशानां वाक्यानां जहल्लक्षणया वृत्तिः । 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादिसदृशानां वाक्यानामजहल्लक्षणया वृत्तिः । 'तत्त्वमसि' इत्यादिवाक्यानां जहदजहल्लक्षणा वृत्तिः 'अस्थूलमनण्वह्रस्वम्' इत्यादिसदृशानाम् अतन्निरसनद्वारा प्रवृत्तिः । कर्मकाण्डोपासनाकाण्डयोः ब्रह्मज्ञानार्थम् अन्तःकरणशुद्धिहेतभूतबुद्ध्यानुष्ठानप्रतिपादकत्वेन ब्रह्मपरत्वं, 'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ! ज्ञाने परिसमाप्यते' (गी. ४.३३) इति स्मृतेः । एवं यथासंभवं योजनीयम् । न यत्र कुत्राऽपि मुख्यतो गुणतो वा वृत्तिः, ब्रह्मणः सर्वाविषयत्वाद् इति सर्वमवदातं, शोधितमित्यर्थः ॥ ४८ ॥

महावाक्य के शाब्दबोध में तत् आदि के लक्ष्यार्थों का उपयोग है । तदादि के वाच्य जड-चेतन के अविविक्त रूप हैं, केवल जड तो वाच्य है नहीं, अतः यदि वाच्यार्थ सर्वथा छोड़ दिया जाये तब 'तू ब्रह्म है' अनर्थक हो जायेगा क्योंकि सुनने वाले को स्वयं का ही निषेध समझना पड़ेगा– 'मैं नहीं हूँ' । यह असंभव है । यदि वाच्य यथावत् रखकर कुछ जोड़े तो विशिष्ट बना रहने से अभेद असंभव ही रहेगा । अतः यहाँ वाच्य का नाम-रूपांश छोड़ना है, सच्चिदानंद अंश ग्रहण करना है, इस प्रकार भागत्यागलक्षणा है । यह पक्ष ही भाष्यकार को अधिक रुचिकर है । इसे ही बता रहे हैं–

'वही यह (देवदत्त है)' आदि वाक्यों के पदों की तरह 'तत्त्वमसि' आदि जीव-ब्रह्माभेद-बोधक वाक्यों के पदों में भागलक्षणा कहलाने वाली ही लक्षणा तात्पर्यानुसारी है, अन्य लक्षणा नहीं ॥ ४८ ॥

जब वाच्यार्थ का एक हिस्सा ही शब्द से समझना पड़ता है तब जहदजहल्लक्षणा का प्रयोग किया जाता है । अतः न्याय-रत्नावली में कहा है 'जहदजहल्लक्षणा हि शक्यैकदेशशक्तिरेव' (पृ. ८९) । इसमें क्योंकि वह एकदेश भी शक्य (वाच्य) है इसलिये यहाँ शक्तिवृत्ति का परित्याग और अन्य वृत्ति का आश्रयण कहना कठिन है अतः अन्यत्र उक्त ग्रंथ में बताया है कि शक्यैकदेशग्रहण को 'लक्षणा' कहना गौण प्रयोग है । इस प्रकार भागलक्षणा मानने पर भी परमात्मा में वाच्यता रह जाने से 'यतो वाचो निवर्तन्ते' आदि श्रुति स्वरस नहीं लगती जिससे वार्तिककारों ने (बृ. १.४.८५७-६४)

लक्षणा के भी बिना शब्द से ज्ञान माना है : जैसे सोये व्यक्ति को जगाने के लिए जब शब्द प्रयोग करते हैं तब वह शब्द की शक्तिवृत्ति, लक्षणावृत्ति आदि के बिना ही स्वयं शब्द की सामर्थ्य से जग जाता है वैसे ही योग्य अधिकारी महावाक्य से ज्ञान प्राप्त कर लेता है, लक्षणा की जरूरत नहीं है । प्रश्न होगा कि तब हर किसी को बोध क्यों नहीं हो जाता ? इसके उत्तर में पूछा जा सकता है कि लक्षणा स्वीकारने पर भी सभी को क्यों नहीं बोध होता है ? समाधान दोनों ही पक्षों के लिए एक ही है कि अन्तःकरण की शुद्धिविशेष की अपेक्षा से बोध होता है; जिसका चित्त वैसा निर्मल है उसे ज्ञान होता है, लक्षणा मानो या नहीं । यह बात गीतागूढार्थदीपिका में (२.२९) विचारित है । यद्यपि आचार्यसंमत व अनुभव से अविरुद्ध यह पक्ष है तथापि दार्शनिक विचारशैली में इसे प्रमुख स्थान दिया नहीं गया है वरन् भागत्याग लक्षणा वाले पक्ष को ही प्रधान माना है । इसी प्रकार वेदांताचार्यों में एक मत यह भी रहा है कि व्यावहारिक जीव-ईश्वर अनिर्वचनीय हैं अतः जहल्लक्षणा से उनका निषेध कर 'सर्प नहीं रज्जु है' की तरह 'जीव-ईश्वर नहीं, ब्रह्म है' ऐसा बोध महावाक्य से होता है । संक्षेपशारीरक (१.१६९), सिद्धान्तबिंदु (पृ. ८८) आदि में इस पर विचार देखा जा सकता है । इसमें 'तत्त्वमसि' फलतः 'न त्वमसि' हो जाता है !–ऐसा अन्य विद्वानों ने आक्षेप किया है और शब्दस्वारस्य से आक्षेप उचित भी है यद्यपि समाधान सरल है कि चेतन स्वरूप का निषेध न होने से दोष नहीं । वैचारिक दृष्टि से यह जहल्लक्षणापक्ष भले ही आकर्षक हो, भावनात्मक दृष्टि से भागत्यागपक्ष ही अधिक मनोरम है । 'अब तक समझा आत्मा पूरा ही नहीं छूटेगा, उसका अनात्मांश ही छूटेगा'–यह निश्चय भावनात्मक सुरक्षा प्रदान करता है जो जहल्लक्षणापक्ष में केवल शास्त्रश्रद्धा से उपलब्ध होती है । अतः भाष्य-विवरण आदि प्रधान ग्रंथ भागत्याग मानकर ही चलते हैं ।

विश्वेश्वरपंडित ने महावाक्य के कुछ ऐसे अर्थ दिखाकर उनका खंडन किया है जो प्रायः वैष्णव आदि विचारक माना करते हैं । वे जीव को परमेश्वर का अंश या कार्य मानते हैं । सांश होने पर परमेश्वर नश्वर जड होगा यह सीधी-सी बात वे विचारक समझने को तैयार नहीं यह आश्चर्य है । कुछ अन्य विद्वान् महावाक्यार्थ का ध्यान करना चाहिये यों इन्हें उपासनापरक मानते हैं । यह मान्यता भी निष्प्रमाणक है । ध्यान भले ही किया जाये पर वाक्यतात्पर्य ध्यान में नहीं क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है । शास्त्र मुख्य वृत्ति अर्थात् शक्ति से ब्रह्मपरक नहीं क्योंकि ब्रह्म शक्य नहीं और गौणी वृत्ति से नहीं क्योंकि ब्रह्म निर्गुण है लेकिन विधायक वाक्यों में लक्षणा वृत्ति से और निषेधक वाक्यों में अतद्व्यावृत्ति से ब्रह्मपरक है इसमें संदेह नहीं ।

जैसे घटादि से शब्द का सत्य अर्थात् स्वसमानसत्ताक संबंध है क्योंकि उस संबंध का बाध ज्ञानपर्यंत होता नहीं ऐसे ही ब्रह्म से है अर्थात् शब्द का ब्रह्म से व्यावहारिक संबंध है । शब्द-ब्रह्म का पारमार्थिक कोई संबंध नहीं । व्यावहारिक संबंध को शक्तिरूप से समझें, लक्षणारूप से या अन्य किसी रूप से, इससे कोई अंतर नहीं आता । पूर्वदर्शित वार्तिकोक्त जिस पक्ष में लक्षणा भी अमान्य है उसमें भी घटादि जिस-किसी शब्द से तो अखण्डसाक्षात्कार माना नहीं है वरन्

महावाक्यों से ही माना है अतः महावाक्यरूप शब्दविशेष का ब्रह्म से संबंध स्वीकारा ही गया है, केवल उसे शक्ति-लक्षणादि रूप से परिभाषित करना व्यर्थ बताया है । 'यतो वाचः' आदि का भी इतना ही अभिप्राय है कि वाणी का ब्रह्म से वास्तविक संबंध नहीं । शब्द से परमात्मा बोध्य है इसमें मतभेद नहीं । विभिन्न दार्शनिक मान्यताओं के घेरे में रहते हुए उस बोध्यता को उस परिधि में उपपन्न करने के लिए आचार्यों ने लक्षणापक्ष निरापत् मार्ग माना है ।

आवृत्तिः साधनम्

अहं ब्रह्मेति वाक्यार्थबोधो यावद् दृढी भवेत् ।

शमादिसहितस्तावद् अभ्यसेच्छ्रवणादिकम् ॥ ४९ ॥

*ननु सकृदेव श्रुताद् वाक्याद् अधिकारिणो यथोक्तवाक्यार्थज्ञानसम्भवाद् अपेक्षितश्रवणाद्यावृत्तिः उपेक्षिता ? इत्याशंक्य; मन्दमध्यमाधिकारिविषयतया तदावृत्तिसिद्धिः इत्याशयेनाह–**अहं ब्रह्मेति** ॥ ४९ ॥*

पूर्वं 'पूर्णानन्दैकरूपेण' (४१) इत्यनेन जीवस्यैव ब्रह्मरूपत्वं वाक्यार्थं प्रतिपाद्य, तं प्रतिपादितमर्थं 'तत्त्वमस्यादि वाक्यं च तादात्म्यप्रतिपादने' (४२) इत्यादिभिः त्रिभिर्ग्रन्थैः तत्त्वमस्यादिवाक्यस्य अपि अयमेवार्थ इति स्पष्टीकृत्य, तदपरोक्षदार्ढ्याय चोपायमाह–अहमिति । अहं ब्रह्मेति स्वस्य ब्रह्मापरोक्षज्ञानं यावद् यस्मिन् काले निःशेषाऽसंभावनाविपरीतभावनाराहित्यं यथा भवति तथा दृढी भवेत्–तद्दार्ढ्यस्य दुर्लभत्वसूचनार्थं प्रयोगः । तावत्कालपर्यन्तं शमादिसाधनयुक्तः सन् 'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्' (ब्र. सू. ४.१.१) इत्यधिकरणन्यायेन पुनः पुनः मननिदिध्यासनाभ्यासं कुर्यादित्यर्थः ।

ब्रह्माऽपरोक्षज्ञानदार्ढ्याय शमादिसाधनानुष्ठानेन सह असकृच्छ्रवणाभ्यासस्य विधानाद् उक्तसाधनानुष्ठानपुरःसरं द्वित्रिवारं श्रवणादिकरणस्य ब्रह्मापरोक्षज्ञानहेतुत्वम् अर्थाद् उक्तं भवति । एवं द्वित्रिवारं श्रवणादिनाऽपरोक्षज्ञाने समुत्पन्नेऽपि अतिदार्ढ्याभावाद् बहुकालरूषितसंसारवासनालेशेन पुनः पुनः चित्तविक्षेपसंभवाद् अष्टांगयोगसद्वासनाभ्यासाभावाद् हेतोः मनोवासनाया निःशेषनाशाभावाच्च, (१) ज्ञानदार्ढ्याय, (२) मनोवासनाया निःशेषनाशाय च बहुकृत्वः श्रवणाद्यभ्यासम्, अष्टांगयोगसद्वासनाभ्यासं च कुर्याद् इत्युक्तं भवति । एवं कृते विदेहमुक्तता स्यात्, अन्यथा शमादियुक्तस्य द्वित्रिवारं श्रवणादिजनिताऽपरोक्षज्ञानमात्रेण जीवन्मुक्तता न स्यात् । 'इत्थमन्योन्यतादात्म्यप्रतिपत्तिर्यदा भवेत् । अब्रह्मत्वं त्वमर्थस्य व्यावर्तेत तदैव हि । तदर्थस्य च पारोक्ष्यं यद्येवं' (श्लो. ४०-४१) इत्यत्र अपरोक्षज्ञानेन अब्रह्मत्वनिवृत्तेः प्रतिपादितत्वात् इदमेव शंकोत्तरत्वेन समर्थ्यते ।

ननु ब्रह्मापरोक्षज्ञानार्थं शमादिसाधनयुक्तस्य श्रवणादिकरणं युक्तं; ततः परं किं प्रयोजनमिति चेद् ? न । 'अहं ब्रह्म' इत्यपरोक्षज्ञाने समुत्पन्नेऽपि संसारवासनाया निःशेषं नाशो न स्याद्, अपरोक्षज्ञानिनोऽपि संसारवासनानिवृत्तेः क्वचिद् दृष्टत्वात् । 'संसारवासनादार्ढ्यं बन्ध इत्यभिधीयते । वासनातानवं राम ! मोक्ष इत्यभिधीयते ॥' इति वाशिष्ठे निर्वासनस्यैव विदेहमुक्त्यभिधानात् । तस्माद् ज्ञानदार्ढ्याय, निर्वासनत्वसिद्धये च असकृत् श्रवणाभ्यासः कर्तव्यः ।

ननु एतावता वासनालेशन ब्रह्मापरोक्षज्ञानिनो जीवन्मुक्तस्य रागद्वेषात्मकः संसारवासनासद्भावः नोपपद्यत इति चेद् ? न । अतिदार्ढ्यहीनस्य कोमलकण्टकस्य दार्ढ्यात् पूर्वं यथा सम्यक्चोदनकार्यक्षमता नास्ति, ब्रह्मापरोक्षज्ञानदार्ढ्याद् अर्वाचीनकाले निरस्ताशेषसंसारनिदानत्वासंभवाज्जीवन्मुक्तस्याऽपि दशाभेदेन संसारवासना सम्भवोपपत्तेः । 'रागद्वेषभयादीनामनुरूपं चरन्नपि । योऽन्तर्व्योमवदच्छः स्यात् स जीवन्मुक्त उच्यते ॥'—वाशिष्ठे जीवन्मुक्तस्य संसारवासनासद्भावदर्शनाच्च ।

किं च विदेहमुक्तिसमये जीवन्मुक्तस्य वीतहव्यस्य वचनम्—'राग ! नीरागतां गच्छ द्वेष ! निःशेषतां व्रज । भवद्भ्यां सुचिरं कालमिह प्रक्रीडितं मया ॥' इति । अतो ज्ञानदार्ढ्याय निःशेषसंसारवासनानिवृत्त्यर्थं च वेदान्तमहावाक्यश्रवणमनननिदिध्यासनाभ्यसम् अष्टांगयोगसद्वासनाभ्यासं च बोधदार्ढ्यपर्यतं पुनः पुनः कुर्यादित्यर्थः ॥ ४९ ॥

प्रारम्भ में शिष्य ने पूछा था कि वाक्य अद्वैत का प्रतिपादन कैसे करता है ? 'कैसे' का एक अभिप्राय स्पष्ट किया कि लक्षणा से करता है । दूसरा अभिप्राय है कि वाक्य से बोध हो इसमें सहकारी अर्थात् इतिकर्तव्य क्या ? शमादिपूर्वक श्रवणादि का अभ्यास ही शास्त्रसंमत इतिकर्तव्य है । अत्युत्तम अधिकारी तो एक बार सुनते ही तत्त्वनिष्ठ हो सकता है पर सामान्यतः सभी के लिए पुनरावृत्ति करते रहना ही साधन है । दृष्टफलक होने से यह आवृत्ति तब तक करनी है जब तक 'मैं कर्ता-भोक्ता, सुखी-दुःखी हूँ' ऐसा निश्चय बना रहे । यह निश्चय मिटाने के लिए तत्त्वधी चाहिये अतः इसके मिटने के बाद आवृत्ति को कर्तव्य रूप से करने के लिए शास्त्र नहीं कहता । यद्यपि सविशेष ज्ञानों के लिए ही साधनावृत्ति देखी गयी है तथापि संदेहबाहुल्य और नानाविध विपरीत निश्चय होने से उन्हें मिटाने के लिए निर्विशेष ज्ञान के लिए भी साधनावृत्ति अपेक्षित है यह युक्तियुक्त है । इस अभिप्राय से ज्ञानलाभ की इतिकर्तव्यता बताते हैं—

शमादि से युक्त होकर तब तक श्रवणादि की पुनरावृत्ति करते रहना चाहिये जब तक महावाक्य के 'मैं ब्रह्म हूँ' अर्थ का ज्ञान अप्रतिबद्ध हो जाये ॥ ४९ ॥

शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु, समाहित, श्रद्धालु होकर आत्मदर्शन करना चाहिये यह उपनिषत् ने विधि की है अतः शमादि आत्मदर्शन के इतिकर्तव्य हैं । दर्शन के उद्देश्य से श्रवण-मनन-निदिध्यासन का शास्त्र ने विधान किया है अतः वे दर्शन के साधन हैं । उनमें भी प्रमाणपक्षीय होने से श्रवण प्रधान है और प्रतिबंधनिवर्तक होने से मनन-निदिध्यासन सहायक हैं । विवेकादि वाले अधिकारी के लिए मोक्षोपाय ज्ञान पाने के लिए बाकी सब छोड़कर बस इतने ही कार्यों में संलग्न रहना आवश्यक है । लौकिक-पारलौकिक सब कर्तव्यों का त्याग कर उसे शमादिपूर्वक श्रवणादि ही करना चाहिये । यहाँ आचार्य ने स्पष्ट किया कि श्रवणादि एक ही बार या दस-सौ बार करना ही पर्याप्त नहीं वरन् जिस अधिकारी को जब तक अप्रतिबद्ध अर्थात् अज्ञाननिवर्तक अद्वैतसाक्षात्कार न हो जाये उसे तब तक यों श्रवणादि करते रहना पड़ेगा । तत्पदार्थ व त्वंपदार्थ के बारे में हमारे

अज्ञान, संशयों और विपर्ययों को बारम्बार किये जाते श्रवणादि मिटाते जाते हैं । युक्तिपूर्वक निर्णय करना कि उपनिषत् अद्वैत ही समझा रही है–यह श्रवण है और अद्वैत युक्ति-अनुभव के अनुकूल है यह निर्णय करना मनन है । चित्त सारे जड विषयों का आकार छोड़ दे केवल सच्चिदानंद आकार का रहे–यह निदिध्यासन है । श्रवण व मनन क्रियाओं का फल होता है अद्वैत का निश्चय, वह बना रहे यह निदिध्यासन है । जब तक उसे बनाये रखने की कोशिश है तब तक वह साधन है और जब बिना कोशिश वह बना ही रहता है तब उसे विज्ञान कहते हैं । इस विषय को संक्षेपशारीरक (३.३४२-५) में व्यक्त किया है । आत्मा अपरोक्ष है अतः शब्दप्रमाण से भी उसकी प्रमा अपरोक्ष ही हो सकती है । तथापि वह अपरोक्ष जब तक संशयादिग्रस्त है तब तक अविद्यानिवर्तक नहीं बनता, संशयादि मिटने पर ही बनता है । इसका विस्तृत सोपपत्ति वर्णन पंचदशी-सप्तमप्रकरण में (श्लो. ९७ आदि) दर्शनीय है । वहाँ प्रकृत वाक्यवृत्तिश्लोक ही उद्धृत भी है । वहाँ (श्लो. २०६ आदि) समझाया है कि काव्यादि में जो विशेषता पाना चाहता है वह जैसे विचाराभ्यास में लगा रहता है, जपी, तपी, कर्मी, योगी जैसे तत्तत् साधन बारंबार लगातार करते रहते हैं, ऐसे मुमुक्षु को आत्मविचार करते रहना चाहिये । पंचदशी-चित्रदीप में (६.२७६ आदि) तत्त्वबोध-वैराग्य-उपरति इस त्रिक के हिसाब से विचार-ध्यानतत्परतादि को युक्ति अनुभव के अनुसार बताया है । 'जीवन्मुक्तिविवेकप्रकरण' में योगवाशिष्ठ के अनुरोध से ज्ञानदार्ढ्य की प्रक्रिया विस्तार से स्पष्ट की है । समाधिरूप निदिध्यासन की दीर्घकालिक अनिवार्यता श्रीशंकरानंद जी की गीतातात्पर्यबोधिनी में पदे-पदे साग्रह प्रतिपादित है । श्रीमधुसूदन स्वामी भाष्यमत में विचार को ही प्रमुख साधन मानते हैं (गीताटीका ६.२९) । अधिकारी की सामर्थ्य से व्यवस्था है अर्थात् तीनों साधन हैं, जिसे जो अधिक अनुकूल पड़े वह उसका प्राधान्येन अनुष्ठान करे । श्रवण के बिना तो कोई भी ज्ञान मानता नहीं अतः वह अनिवार्य सर्वसंमति से है इसी से उसे अंगी, प्रधान आदि कह दिया जाता है, साधनदृष्टि से अलग-अलग साधक के लिए अलग-अलग उपाय प्रमुख हो जाते हैं । गीता में (१८.५१-५५) भगवान् ने भी ज्ञाननिष्ठा के लिए विचार की अपेक्षा ध्यानयोग की मुखतः संस्तुति की है । आचार्य श्रीशंकर तो अनेक जगह विचार की ही उपायता पर बल देते हैं लेकिन ध्यानात्मक निदिध्यासन को ज्ञाननिष्ठा के लिए अनिवार्य तो वे भी मानते ही हैं । ज्ञान के बाद आवृत्ति, ध्यान आदि का वे और सभी वेदांताचार्य भरपूर खंडन करते हैं जिससे कदाचिद् भ्रम हो सकता है कि वे निदिध्यासनमात्र को असंगत कहते हैं लेकिन वास्तविकता है कि वे अज्ञाननिवर्तक ज्ञान के लिए–जिसे ज्ञाननिष्ठा, दृढ ज्ञान, अप्रतिबद्ध ज्ञान आदि नाना शब्दों से कहा जाता है–निदिध्यासन का पूर्ण उपयोग स्वीकारते हैं । यह अवश्य है कि यदि किसी साधक को इसके बिना ही पूर्णतानुभव हो जाये तो उसके लिये इसका विधान कोई नहीं करता । यह बात विचार आदि में भी तुल्य है । कोई शुद्धचेता श्रद्धालु सामान्य-सी युक्ति से ही निश्चित हो जाता है, एक उपनिषत् सुनकर या केवल गुरु द्वारा बताये संक्षिप्त वर्णन से ही श्रवण कर चुकता है और निष्ठा पा जाता है जबकि दूसरा चारों शाखायें आद्यन्त पढ़कर, लघुचंद्रिकापर्यन्त ऊहापोह करके भी तत्त्वनिष्ठा में

दृढ नहीं हो पाता अतः विचार की साधनता को शास्त्रीय ही मानना पड़ेगा, जन्म-जन्मान्तर में तभी वह सफल होगी, ऐसे ही निदिध्यासन के बारे में भी है । साधकभेद से प्राधान्यभेद प्रायः तो गुरु स्पष्ट कर देते हैं, अन्यथा स्वयं कुछ काल तत्तत् साधन को अधिक अभ्यस्त कर अपनी स्थिति आँकने से पता चल जाता है । साधन तीन से अन्य कोई नहीं अतः इन्हीं में से निर्धारण करना चाहिये । साधनाभ्यास कर्तव्यतया तब तक करते ही रहना है जब तक हमेशा पूर्ण आत्मानुभव बना रहे । आत्मानुभव आचार्यों ने बताया है 'सर्वदुःखविनिर्मुक्तैकचैतन्यात्मकोहम् इत्येष आत्मानुभवः' (ब्र. सू. भा. ४.१.२) । सर्वज्ञमुनि के शब्दों में–

'पश्यामि चित्रमिव सर्वमिदं द्वितीयं
तिष्ठामि निष्कलचिदेकवपुष्यनन्ते ।
आत्मानमद्वयमनन्तसुखैकरूपं
पश्यामि दग्धरशनामिव च प्रपञ्चम् ॥' ४.५४ ॥

'अद्वैतमप्यनुभवामि करस्थबिल्व-
तुल्यं शरीरमहिनिर्ल्वयनीव वीक्षे ॥' ५५ ॥

यह खुद को अपरोक्ष होता है, किसी बाह्य चिह्न, शक्ति, सिद्धि आदि से इसका ज्ञान नहीं समझना चाहिये । वे सब अन्यान्य साधनाओं के फल हैं अतः वे साधनाएँ जिसने की हैं उसमें दीख भी सकते हैं । ब्रह्मज्ञान की साधना का फल तत्त्वनिष्ठा ही है । प्रशंसार्थ कहीं फलांतर कहे भी हैं तो वह अर्थवाद है । यदि भूतार्थवाद मानें तो भी यथादृष्ट है अर्थात् जिस सिद्ध में मिलें उसमें ज्ञानसाधना के फलस्वरूप मान सकते हैं लेकिन इनके होने-न-होने से मुख्य फल में कोई अन्तर–कमी या वैशिष्ट्य–नहीं आता । कर्तव्यतया साधना निष्ठापर्यन्त करनी पड़ती है, उसके बाद स्वाभाविक होकर वही चर्या बन जाती है । निष्ठा की दृढता कहाँ तक ? विवेकचूडामणि (श्लो. ४२६-४४१), सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह (श्लो. ९४४ आदि) में नाना अनुभवप्रकार दिखाये हैं, तदनुसार संक्षेप इतना ही है कि अपनी अखण्डानंदता का निरंतर उज्ज्वल स्फुरण रहे, परिच्छिन्नता प्रतीत भी न हो–यहाँ तक की दृढता तक साधनाभ्यास करते रहना चाहिये ।

– ४९ –

ज्ञानात्कैवल्यम्

श्रुत्याचार्यप्रसादेन दृढो बोधो यदा भवेत् ।
निरस्ताशेषसंसारनिदानः पुरुषस्तदा ॥ ५० ॥

श्रुत्यादिप्रसादेन वाक्यार्थज्ञानदार्ढ्ये सति तदैव सनिदानं संसारस्य कार्यकारणसंघातस्य भूतसूक्ष्माणां कर्मबन्धस्य च निवृत्तौ सद्यो मुक्तिः स्याद् इत्याह–श्रुत्येति । श्रवणादेरावृत्त्या परिपाके श्रुतं स्मृतं च वाक्यं

वाक्यार्थसाक्षात्कारं सम्पादयतीति श्रुतिप्रसादः । शिष्येण शुश्रूषणावशीकृतस्तु आचार्यः तत्त्वमसीति उपदिशति, स च साक्षात्करोतीति आचार्यप्रसादः ॥ ५० ॥

इदानीं ब्रह्मापरोक्षज्ञानदार्ढ्याय उपायान्तरमाह—श्रुत्येति । श्रुत्या **गुरूपदिष्टवाक्यश्रवणादिना** आचार्यप्रसादेन **प्रणिपातादिसम्पादिताचार्यप्रसादेन च** यदा बोधो दृढो भवेत् **तत्कालपर्यन्तं गुरूक्तमहावाक्यश्रवणादिकं गुरुप्रसादं च संपादयेदित्यर्थः । 'तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः' (गी. १३.२५) इति स्मृतेः वेदान्तमहावाक्यश्रवणादिनैव मृत्योः अतिक्रमणश्रवणाद् अयमर्थः अवगम्यते । तर्हि वेदान्तवाक्यश्रवणाद्यभ्यासाद् वा गुरूपदिष्टमहावाक्यश्रवणाभ्यासाद् वाऽपरोक्षज्ञानदार्ढ्ये सति तदा पुरुषः कथंभूतः स्याद् ? इत्याकांक्षायाम्; अतिदृढकण्टकन्यायेन दृढापरोक्षज्ञानस्य संसारवासनया सह निःशेषमज्ञानतत्कार्यनिवर्तकसामर्थ्ये सति तदा पुरुषो निरस्ताखिलोपाधिर्भवतीत्याह**—निरस्ताशेषेति । **कर्मणोऽपि संसारकारणत्वात् तत् किं निदानशब्देनोच्यते, तथा सति अज्ञाननिरासमन्तरेण कथं तत्कार्यस्य कर्मणो निरासः स्यादिति ? निदानशब्देन अनादिकारणमविद्योच्यते । तस्याः संसारनिदानत्वं संसारादिकारणत्वम् । संसारकारणकर्मणः कारणत्वमात्रमिति वाच्यम् । संसारस्य निदानं संसारनिदानम् अशेषं च संसारनिदानं च अशेषसंसारनिदानं, निरस्तमशेषसंसारनिदानं सपरिकरमज्ञानं येन स तथोक्तः ॥ ५० ॥**

नित्य मोक्ष तभी संभव है जब बंधन अविद्यात्मक हो और अविद्या वही होती है जो केवल विद्या से हट जाये । प्रारम्भ में बन्धन से छूटने के उपाय की जिज्ञासा की थी (श्लो. ४) और ज्ञान उपाय है यह प्रतिज्ञा की थी (श्लो. ६) । उस ज्ञान के लाभ के सभी कदम विस्तार से बताकर ज्ञान की मोक्षोपायता का निगमन करते हैं—

वेद और सद्गुरु की कृपा से जब अप्रतिबद्ध तत्त्वज्ञान हो जाता है तब पुरुष के संसरण का कारणभूत अज्ञान ऐसा समाप्त होता है कि वह किसी भी तरह बचा नहीं रहता ॥ ५० ॥

वेद प्राप्त हो, पढ़ा जाये, याद रहे, समझ आये, उस पर विचार किया जाये और उसका सही तात्पर्य हृदयंगम हो जाये यह सब वेद की कृपा है । सूर्य, चंद्र, पृथ्वी आदि के अधिष्ठाता देवताओं की तरह वेद के भी अधिष्ठाता देवता हैं जो कृपा करते हैं । ईश्वरज्ञानरूप वेद वस्तुतः ईश्वर से ही सात्मक है अतः वेद की सेवा से ईश्वर ही प्रसन्न होते हैं, कृपा करते हैं । वेद पढ़ना आदि तथा अन्यों को पढ़ाना, या पढ़ने में प्रेरित करना, छात्रों के भोजन-वस्त्रादि की व्यवस्था करना, वेदज्ञों की पूजा करना, वेद पर प्रामाण्यबुद्धि रखना, वेदानुसार आचरण करने का प्रयास करना, वेदार्थचिंतन करना, वेद पर लगे आक्षेपों का परिहार करना, वेद की निंदा न सुनना इत्यादि वेद की सेवा है । यदि साक्षात् वेद पढ़ने आदि में अधिकार न हो, सामर्थ्य न हो, तो वेदानुसारी पुराण, महाभारत, रामायण तथा उपदेशसाहस्री आदि सद्ग्रन्थों के अध्ययनादि में श्रद्धा से तत्पर रहें, वह भी परंपरा से वेद की ही सेवा है । यों लंबे समय तक सेवा करने पर वेद की कृपा मिल जाती है और ज्ञानलाभ हो जाता है । आचार्य की कृपा तो सेवा, ध्यान

देकर सुनना, समझना, आगे चिंतन करना इत्यादि से प्राप्त हो जाती है । बोध की दृढता में ये दोनों कृपायें उपाय बनती हैं । वेदकृपा तो अदृष्ट द्वारा ही सहायक है, आचार्यकृपा दृष्ट-अदृष्ट दोनों तरह सहायता देती है क्योंकि पुनः-पुनः तरह-तरह से समझाना आदि बिना कृपा के संभव नहीं एवं चित्तोपशम के विशिष्ट उपायांतर खोज कर सिखाना भी कृपा से ही होता है । श्रुति अर्थात् श्रवणाभ्यास, आचार्य से लब्ध युक्तियों का अभ्यास या मननाभ्यास और प्रसाद अर्थात् मन की प्रशांति, निश्चल स्वच्छता या निदिध्यासन; तीनों मिलकर ज्ञाननिष्ठा के साधन बनते हैं यह तात्पर्य है । निष्ठा होने के साथ ही अविद्या मिट जाती, बाधित हो जाती है । अविद्या ही संसरण का हेतु है । काम, कर्म आदि उसी के व्यापार हैं क्योंकि वास्तविकता इतनी ही कही जा सकती है कि संसरण क्यों-कैसे हो रहा है ? इस प्रश्न का निर्विवाद उत्तर एक ही है : 'पता नहीं' अर्थात् अज्ञान । कर्म, कामना, सूक्ष्मदेह आदि सब उपपत्तियाँ खोजी जाती हैं लेकिन उन पर सूक्ष्म प्रश्न करते जायें तो आखिरी जवाब वही मिलता है : 'पता नहीं' । अतः संसार का कारण अज्ञान ही है । संसार अर्थात् कर्तृत्व-भोक्तृत्व; अध्यासभाष्य स्पष्ट करता है कि आत्मा किसी भी प्रमाण से कर्ता-भोक्ता है नहीं पर लग ज़रूर रहा है, क्यों ? तो–'पता नहीं' । जैसे ही तत्त्वमस्यादि महावाक्यों से अभिप्रेत अद्वैत की प्रमा संशय-विपर्यय के ग्रास से छूटती है, वैसे ही पुरुष अर्थात् आत्मा अविद्यारहित हो जाता है । अविद्या आत्मा पर ही टिकी है अतः उसी पर से मिटेगी भी । बुद्धि आदि को अज्ञान नहीं वरन् चेतन को ही है अतः पुरुष अर्थात् चेतन ही निरज्ञान भी होगा । संसारनिवृत्ति तो सुषुप्ति आदि में भी हो जाती है पर क्योंकि कारण बना रहता है इसलिये फिर सारा संसार खड़ा हो जाता है । तत्त्वनिष्ठा से वह कारणभूत अविद्या ही मिटती है । अविद्या वास्तविक तत्त्व नहीं वरन् कल्पित अर्थात् भ्रमसिद्ध है यह श्रुति एवं विद्वदनुभव से श्रद्धेय है : श्रुति आत्मा को नित्यमुक्त कहती है और विद्वान् को भी तत्त्वबोध से प्रतीत होता है कि मैं नित्य ही मुक्त रहा, बंधन केवल प्रतीति था । सर्वज्ञ मुनि तो स्वयं आश्चर्य करते हैं कि इतनी देर द्वैत रहा कैसे ! (४.५७) जैसे सपने से उठने पर आश्चर्य होता है उसी प्रकार समझ सकते हैं कि विद्वान् को हो जाता है । इस दृढता के लिए ज्ञान की निष्ठा से अन्य और कोई हेतु या सहायक नहीं है । विश्वेश्वरपंडित ने एक अपूर्व सटीक दृष्टांत दिया है : काँटा जब पेड़ पर पैदा होता है तब भी है तो काँटा ही लेकिन अत्यंत कोमल, किसी को चुभ नहीं सकता बल्कि ज़ोर लग जाये तो खुद ही मुड़ या टूट जाता है । वही जब पक जाता है, तैयार हो जाता है तब पूर्ण कठोर होता है, बड़े-बड़े हाथी को भी चुभे तो वह एक बार पीडा से चिंघाड़ देता है । ऐसे ही अधिकारी को श्रवणादि करने से ज्ञान तो हो जाता है । (अनधिकारी को श्रवणादि से केवल प्रयोजक ज्ञान होता है अर्थात् ऐसा ज्ञान होता है जो उसे विवेक आदि साधनों में प्रवृत्त कर सकता है । किंतु अधिकारी को श्रवणादि से अपरोक्ष साक्षात्कार ही होता है ।) लेकिन वह ज्ञान सद्योजात काँटे जैसा है ! संशय विपर्यय से ऐसा ग्रस्त है कि अविद्या को निवृत्त तो क्या शिथिल भी नहीं कर पाता । वही जब निष्ठा के उपायों से परिपक्व हो जाता है, संशय-विपर्यय

से रहित हो जाता है तब इस सारे संसार को सकारण समाप्त कर देता है । प्रायः समाप्ति पर कुछ-न-कुछ बचता है, घड़ा फूटे तो ठीकरे बचते हैं, कपड़ा नष्ट हो तो धागे बचते हैं लेकिन अविद्यानिवृत्ति पर तो अविद्यातुल्य कुछ भी नहीं बचता ! आत्मा को 'बचने' वाला कहना ठीक नहीं : घड़ा टूटने के कारण ठीकरे रहे अतः बचने वाले थे; ऐसे ही क्योंकि कपड़ा फटा इसलिये सिर्फ धागे 'बच' गये यह ठीक था; निवृत्त होने वाले की अपेक्षा से जो विद्यमान समझा जाये उसे ही बचने वाला कहना संगत होता है । आत्मा तो नित्य विद्यमान ही है, उसे बचने वाला केवल कहने भर की बात है । कल्पित की निवृत्ति समग्रता से ही होती है जैसा श्री विवरणाचार्य ने कहा है 'विद्यमान व लीन–दोनों तरह के स्वकार्यों सहित अज्ञान की ज्ञान से होने वाली निवृत्ति बाध है' (पृ. १०८) । अज्ञान स्वयं तो निष्कारण है अतः उसकी निवृत्ति पर यह तो आशा कर नहीं सकते कि उसका कारण बचेगा ! कार्यों के ही बचने की आशा है, उसका निषेध आचार्य ने कर दिया कि न कार्य और न कार्यों की बीजावस्था रह जाती है, दोनों समेत अज्ञान तुच्छ हो जाता है ।

– ५० –

सद्योमुक्तिः

विशीर्णकार्यकरणो भूतसूक्ष्मैरनावृतः ।
विमुक्तकर्मनिगडः सद्य एव विमुच्यते ॥ ५१ ॥

॥ ५१ ॥

इदानीं निरस्ताशेषसंसारनिदानत्वे सति किं स्याद् ? इत्याकांक्षायाम्; तस्य विदेहमुक्तिः इत्युच्यते– विशीर्णेति । विशीर्णकार्यकरणः **कार्यं शरीरं करणानीन्द्रियाणि विशीर्णानि शिथिली भूतानि कार्यकरणानि यस्य सः, यथोक्तः । ननु देहेन्द्रियादौ विद्यमाने तस्य विशीर्णत्वं कथमिति चेत् ? तस्य अपरिच्छिन्नब्रह्माकारभावनया देहेन्द्रियादिपरिच्छिन्नत्वाभावाद् मुक्तदृष्ट्या विशीर्णत्वम् । अत एव** भूतसूक्ष्मैरनावृतः **शब्दादिभिरनावृतः; इन्द्रियाणां विशीर्णत्वाद् विषयसंनिधावपि अविकृतचित्त इत्यर्थः ।** अत एव विमुक्तकर्मनिगडः **इति विशेषणम् । संचितप्रारब्धागामिरूपं निगडं [विमुक्तं] यस्य स तथोक्तः । अतः** सद्य एव विमुच्यते **तदैव निरस्ताशेषसंसारनिदानत्वसमय एव विदेहमुक्तो भवतीत्यर्थः ॥**

कथं देहे स्थिते विदेहमुक्तिः स्याद् ?–इति न शंकनीयम्; लोकदृष्ट्या देहे सत्यपि निरस्ताशेषाज्ञानस्य अज्ञानपरिकल्पितदेहाभावाद् विमुक्तिरेव भवति । अत्र श्रुतिः 'अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः' (छां. ८.१२) इति । नन्वेवं सति प्रवर्तकाभावात् शरीरं कथं प्रवर्तत इति चेद् ? यत्र क्वापि चिन्तायुकस्य हस्तादिकं स्वतो यथा स्वकार्ये प्रवर्तते तथा वासनाधीनं चक्षुरादीन्द्रियं स्वतः प्रवर्तत एवं पथिगततृणादौ चक्षुरादिर्न रागतः पतति; मुक्तदेहः चापि पूर्ववद् भोजनादौ प्रवर्तते, यथाऽध्वगेन पथा प्राप्तगिरिनदीविपिनादिकं विलोक्यते तद्वन्मुक्तदेहेनाऽपि भोजनादिकमनुभूयते । अतः पूर्वसंस्कारवशात् कुलालचक्रन्यायेन ऋषभजडभरतादिदेहवत् पुरावत् प्रवर्तत एवेति वेदितव्यम् । तस्य लोकदृष्ट्यैव शरीरपतनं तत्समये । श्रुतिः 'तद्यथाऽहिनिर्ल्वयनी वल्मीके मृता

प्रत्यस्ता शयीतैवमेवेदं शरीरं शेतेऽथाऽयमशरीरोऽमृतः प्राणो ब्रह्मैव तेज एव' (बृ. ४.४.७) इति । एवं ब्रह्मापरोक्षज्ञानदार्ढ्याद् निरस्ताऽशेषाऽज्ञानस्य पुरुषस्य वासनालेशेन सह अज्ञानतत्कार्यसर्वकर्मक्षये विदेहमुक्तिरुक्ता ।

एवंभूतस्यापि लोकदृष्ट्या देहावस्थानमात्रेण जीवन्मुक्तत्वाङ्गीकारे ब्रह्मादीनामपि अन्यदृष्ट्या देहसंभवाज्जीवन्मुक्तत्वम् एव स्यात्; तच्चानिष्टं, तेषामपि अपरिच्छिन्नब्रह्मस्वरूपत्वेन प्रसिद्धत्वात् ॥ ५१ ॥

मुक्तावस्था आश्चर्यमयी होती है अतः युक्ति से उसे समझा संभव नहीं । ज्ञान होते ही अविद्या नहीं रहती, अतः पुरुष निर्मुक्त ही होता है यह कहते हैं–

परिनिष्ठित ज्ञान होते ही पुरुष के स्थूल-सूक्ष्म शरीर बिखर जाते हैं, वह सूक्ष्म महाभूतों से भी घिरा नहीं रह जाता, उसकी कर्मरूप बेड़ियाँ खुल जाती हैं और वह विमुक्त हो जाता है ॥ ५१ ॥

'बिखरने' का अभिप्राय नाश से ही है । नाश यहाँ बाधरूप ही विवक्षित है । पुर्यष्टक में सूक्ष्म महाभूत भी होते हैं अतः बताया कि उनका घेरा भी मिट जाता है । ज्ञान से कर्मक्षयं शास्त्र-प्रसिद्ध है । ये ही सब परिच्छेद हैं, ये नहीं रहते तो मोक्ष स्वतः सिद्ध है । यहाँ मृत्यु अभिप्रेत नहीं है ! पुर्यष्टक का स्थूल देह से वियोग मृत्यु है जो कर्मानुसार होता है । विद्वान् के कर्म नहीं तो मृत्यु कैसे ? भाष्यकार ने कहा है 'न च ब्रह्मविदः सर्वगतब्रह्मात्मभूतस्य प्रक्षीणकामकर्मणः उत्क्रान्तिः गतिर्वोपपद्यते, निमित्ताभावात् । 'अत्र ब्रह्म समश्नुत' इति चैवंजातीयकाः श्रुतयो गत्युत्क्रान्त्योः अभावं सूचयन्ति ।' (ब्र. सू. ४.२.१३) । वहाँ ४.३.१४ में भी भाष्य में अत्यंत विस्तार से यह सब समझाया है । सर्वज्ञाचार्य भी कहते हैं 'विदुषः सद्यो विमुक्तिर्ध्रुवा' (४.३८) । यह वास्तविकता के धरातल पर कह रहे हैं अतः अज्ञानदशा के व्यवहार की दृष्टि से इसमें विरोधशंका उठ नहीं सकती । जीवन्मुक्ति यदि पारमार्थिक नहीं है तो भी व्यवहारातीत तो है ही क्योंकि व्यावहारिक अविद्या-तत्प्रयुक्त होता है जबकि जीवन्मुक्ति ऐसी है नहीं । ज्ञान से कर्मनिवृत्ति के बारे में स्पष्ट किया गया है कि कर्तृत्वनिवृत्ति से कर्महानि है अर्थात् क्योंकि मुक्त जान चुकता है कि वह कर्ता न था, न है, न हो सकता है इसलिये उसके कर्म रह नहीं जाते । 'उसे सत्संपन्न होने से उतनी ही देर है' आदि श्रुति, आचार्य ब्रह्मनिष्ठ होना चाहिये आदि नियम की अन्यथानुपपत्ति और विद्वदनुभव की संगति के लिए प्रारब्ध कर्म भोग कर समाप्त किये जाते हैं ऐसा आचार्य बादरायण ने (४.१.१९) समझाया है । वही व्यवस्था मुमुक्षु के लिये श्रद्धेय है, भले ही मुक्त की दृष्टि से अपरोक्षानुभूति में (९७) कही बात सत्य हो कि प्रारब्ध बचता हो ऐसी बात नहीं, केवल अज्ञानियों को संतोष रहे इसलिये मुक्त के प्रारब्ध को मान्यता दी गयी है । ज्ञान से तो सद्यः ही नित्य मोक्ष का आवरण बाधित होता है ।

– ५१ –

जीवन्मुक्तिः

प्रारब्धकर्मवेगेन जीवन्मुक्तो यदा भवेत् ।

किञ्चित्कालमनारब्धकर्मबन्धस्य संक्षये ॥ ५२ ॥

सद्योमुक्तिपक्षे गुरुप्रसादस्य अभावाद् विद्योदयानुपपत्तिः, जीवन्मुक्तिशास्त्रविरोधश्च–इत्याशंक्य; पक्षान्तरमाह–

प्रारब्धकर्मेति । कदा तस्य तर्हि विदेहकैवल्यम् ? इत्याशंक्य; फलोपभोगेन आरब्धकर्मणः अनारब्धकर्मवद् निवृत्तौ प्रतिबन्धकाभावाद् भवति विदेहकैवल्यमित्याह–अनारब्धकर्मबन्धेति ॥ ५२ ॥

एवं विदेहमुक्तिनिष्ठामुक्त्वा इदानीं ब्रह्मापरोक्षज्ञानमात्रात् पुरुषस्य निरस्ताशेषाज्ञानत्वासंभवात् संचितकर्मण एव क्षये जीवन्मुक्तिमाह–प्रारब्धेति । **पुरुषो** यदाऽनारब्धकर्मबंधस्य संक्षये जीवन्मुक्तो भवेत् **तदा प्रभृति** प्रारब्धकर्मवेगेण **सह प्रारब्धकर्मफलहेतुभोगहेतुभूतरागादिसंसारवासनालेशेन सह** कंचित्कालम् **अवतिष्ठत इत्यन्वयः ।**

एतदुक्तं भवति–ब्रह्मापरोक्षज्ञानाद् अनारब्धकर्मबंधस्य संचितकर्मणः क्षये सति जीवन्मुक्तस्य पुनः शमादिसाधनानुष्ठानेन सह वेदान्तश्रवणमननिदिध्यासनाभ्यासस्य पौनःपुन्येन कृतत्वाद् बोधदार्ढ्ये सति निरस्ताऽशेषाऽज्ञानत्वात् प्रारब्धकर्मवासनालेशानुवृत्तेरपि क्षये देहाद्यभिमानाभावात् स तु विदेहमुक्तो भवति । यस्य त्वज्ञानमात्रम् (°तु ज्ञान° ?) एव स्यात्, तस्य अपरोक्षज्ञानमात्राद् अनारब्धस्य संक्षये सति बोधदार्ढ्यहेतुभूतश्रवणाद्यभ्यासाऽकरणाद् बोधदार्ढ्याभावे प्रारब्धकर्मवासनालेशानुवृत्त्या सह कञ्चित् कालं स तु जीवन्मुक्तरूपेण अवतिष्ठते । तस्यापि कालान्तरे शमाद्यनुष्ठानेन सह श्रवणाद्यभ्यासकारणज्ञानदार्ढ्यं संभवति चेत् प्रारब्धकर्मवासनानिवृत्तिद्वारा देहाद्यभिमानाभावाद् विदेहमुक्तिः संभवति । यदि ज्ञानदार्ढ्यं न स्यात् तर्हि प्रारब्धकर्मवासनाभ्यासनिवृत्त्यभावाद् देहपातपर्यन्तं जीवन्मुक्तरूपेण अवतिष्ठते ।

प्रारब्धं नाम इदानीं प्रतीयमानदेहोत्पत्तिनाशादिहेतुभूतं कर्म । अनारब्धं नाम विष्वग्देहान्तरोत्पादकं संचितं कर्म । ज्ञानोत्पत्त्यनन्तरं देहावसानसमये कर्तृत्वभोक्तृत्वाद्यभिमानमन्तरेण क्रियमाणम् आगामि कर्म । तत्र प्रारब्धं त्रिविधम्–ऐच्छिकम्, अनैच्छिकं, परैच्छिकं चेति । तत्र अनैच्छिक-परैच्छिकयोः स्वकीयप्रयत्नो नास्ति । ऐच्छिके स्वप्रयत्नं कृत्वा स्वाभीष्टान् अनुभुङ्क्ते । किं च आकाशगमनादिसिद्धिजालानि वाञ्छन्ति चेत् तान्यपि क्रमात् साधयन्ति । तदुक्तम् 'यस्तु वा बालिशोऽल्पोऽपि सिद्धिजालानि वाञ्छति । स तु तत्साधनैर्द्रव्यैस्तानि साधयति क्रमात् ॥' वाशिष्ठवचनम् ॥ ५२ ॥

सद्यो मुक्ति की चर्चा जीवन्मुक्ति नकारने के लिए नहीं वरन् अन्य स्तर पर है । इस बात को ही व्यक्त करने के लिए आचार्य स्वयं कहते हैं–

मुक्त पुरुष जब प्रारब्धकर्म के वेग से युक्त होता है तब कुछ समय के लिए जीवित रहते हुए मुक्त रहता है । जब अनारब्ध कर्म की तरह प्रारब्ध कर्म भी भोग लिया जाकर समाप्त हो जाता है तब कोई प्रतिबंधक न होने से वह विदेहमुक्त होता है ॥ ५२ ॥

(विश्वेश्वरपंडित के अनुसार वाक्यरचना यह बनेगी–**जब अनारब्धकर्मरूप बंधन क्षीण होता है और पुरुष जीवन्मुक्त हो जाता है तब कुछ समय तक प्रारब्ध कर्म के वेग सहित रहता है** ।–तात्पर्य एक ही है)

जिन कर्मों ने फल देना आरम्भ कर दिया अतएव यह शरीर मिला, जीवन चला, विद्या मिली आदि, वे प्रारब्ध कहे जाते हैं और क्योंकि उनकी अनुकूलता से ही तत्त्वज्ञान संभव हुआ इसलिये तत्त्वज्ञान उनसे प्रयुक्त द्वैतदर्शन का विरोध नहीं करता । यद्यपि सारे द्वैत के साथ प्रारब्ध

व तत्प्रयुक्त द्वैत भी है बाधित ही तथापि उसकी प्रतीति से तत्त्वज्ञान का विरोध नहीं, ज्ञान उसे निवृत्त नहीं करता । वस्तुतः यह समझने का तरीका मात्र है अतः इसमें अधिक युक्ति नहीं करनी चाहिये; जीवन्मुक्ति शास्त्र-उपपत्ति-विद्वदनुभव से सिद्ध है उसे समझने के लिए प्रारब्धव्यवस्था है । वेग अर्थात् गति की सामर्थ्य; बाण छूट गया तो गति की सामर्थ्य से ही वह कुछ दूर जायेगा, या चक्का, पंखादि चलाकर बंद कर दें तो भी कुछ समय चलता रहकर ही वह घूमने से रुकता है । ऐसे ही प्रारब्ध बाधित होने पर भी कुछ समय में उपशांत होता है । अथवा वेग का अर्थ है तेज़ी । जब तीव्र प्रारब्ध होता है तब द्वैतदर्शन कर लेता है, अन्यथा अद्वैतनिष्ठ ही रहता है यह अर्थ है । विवरणाचार्य ने भी माना है कि कभी द्वैत और कभी अद्वैत का दर्शन रहता है । पंचदशी के योगानंद प्रकरण में (श्लो. २८-२९) कौवे की आँख के दृष्टान्त से यही समझाया है । वैराग्य-उपरति या मनोनाशवासनाक्षय के नाम से जो सहज प्रवृत्ति विद्वान् की मानी गयी है, जिसका मूल 'प्रज्ञां कुर्वीत' के भाष्य में यह मानना हो सकता है कि विद्वान् स्वरसतः आत्ममात्रनिष्ठ रहता है व कदाचित् द्वैतदृष्टि बने तब नियम विधि कारगर हो सकती है (१.४.७ पृ. ८१), उसके अनुसार मंद-मध्यम प्रारब्ध से वह द्वैत के प्रति जागरूक नहीं होता, वेग वाले अर्थात् तीव्र प्रारब्ध से ही जीवनयापन की आवश्यक क्रियायें करता है—यह मानकर 'यदा' शब्द का अभिप्राय समझना चाहिये । कुछ आचार्य, जैसे शंकरानंद सरस्वती जी, विद्वान् के संप्रदायप्रवर्तन को भी लगभग असंभव मानते हैं, जो 'उसे कोई बोलता है यह एक आश्चर्य ही है !' इस यमराजवाक्य के अनुकूल है, लेकिन भाष्य, वार्तिक, पंचदशी (चित्रदीप, तृप्तिदीप) आदि के अनुसार विद्वान् का सचेष्ट रूप भी आचार्यसंमत है अतः प्रारब्धभेद के अनुसार ही व्यवस्था है : जिस मुक्त का प्रारब्ध क्रियाप्रधान है वह तत्त्वनिष्ठ होकर भी सक्रिय दीखेगा, जिसका वैसा प्रारब्ध नहीं वह भूमिकारोहण कर लेगा । श्लोक में 'कुछ समय' से प्रारब्ध का वही काल विवक्षित है जो ज्ञानी को द्वैत से व्यवहार कराता है; अथवा जब तक प्रारब्धमात्र है तब तक का काल विवक्षित है, प्रारब्ध-समाप्ति पर जीवन-प्रतीति नहीं रह जाती अखण्ड विदेह कैवल्य बना रहता है । इसमें रुकावट केवल प्रारब्ध की थी, वह भोगकर समाप्त हो गया तो विदेह मोक्ष स्वतः सिद्ध है । 'अनारब्ध कर्म की तरह'—यह दृष्टांत कर्म न रहने मात्र में है; अनारब्ध भी भोगकर नष्ट किया जाता हो ऐसी बात नहीं । यह योजना भाष्यकार के आशय के मर्मज्ञ आनंदगिरि स्वामी के अनुसार है । विश्वेश्वरटीका की योजना सरल है । पंडित जी ने टीका में ज्ञानियों के दो भेद भी दिखा दिये हैं जिसे वे ज्ञान की दृढता के तारतम्य से समझते हैं । याद रखना चाहिये कि अविद्यानिवृत्ति के लिए अनिवार्यतः अपेक्षित दृढता तो टीकाकार के जीवन्मुक्त में भी है, तभी वह मुक्त है, लेकिन उससे अधिक दृढता के न्यूनाधिक्य से विदेह व इसमें अंतर है । पूर्वश्लोक से इस श्लोक की एकवाक्यता से यही समझना चाहिये : मुक्तदृष्ट्या विदेह कैवल्य है और अज्ञदृष्ट्या जीवन्मुक्ति । एक जीववाद में भी जीवन्मुक्त को बद्ध की अविद्या से कल्पित ही माना गया है अतः इस विषय में एक-अनेक-जीववादियों की संमति स्थापित हो जाती है । यदि मुक्त के अनुभव को आदर देकर उसकी दृष्टि से भी जीवन्मुक्ति समझनी हो तब अविद्यालेश स्वीकारने की प्रसिद्ध प्रक्रिया ही समंजस है । इस विषय में कोई आग्रह रखना व्यर्थ है क्योंकि अध्यात्मविद्या की व्यवस्थायें

स्वयं के लिये ही होती हैं, जब हम मुक्त होंगे तो खुद पता चल जायेगा कि मोक्ष सद्यः है या जीवन के बीतने की इन्तजार करनी पड़ती है ।

श्लोक ५०-५२ में उस मोक्ष को स्पष्ट किया जिसकी शिष्य ने श्लोक ४ में प्रार्थना की थी ।

— ५२ —

उपसंहारः

निरस्तातिशयानन्दं वैष्णवं परमं पदम् ।

पुनरावृत्तिरहितं निर्धारितमिति स्थितम् ॥ ५३ ॥

॥ इति श्रीमच्छङ्करभगवत्पादाचार्यविरचिता वाक्यवृत्तिः समाप्ता ॥

*कैवल्यस्य प्रेप्सितत्वं सूचयति–**निरस्तेति** । न च गतिपूर्वकं तस्य प्राप्यत्वं, सर्वत्र व्यापकत्वाद् इत्याह–**वैष्णवमिति** । हिरण्यगर्भादिपदापेक्षया वैलक्षण्यं च **परमम्** इत्युक्तम् । तस्य प्रामाणिकत्वविवक्षया **पदम्** इत्युक्तम् । पुनरावृत्तौ हेत्वभावाद् आत्यन्तिकी मुक्तिरेवेत्याह–**कैवल्यमिति** । तदेवं प्रश्नचतुष्टयनिर्णयद्वारा तत्त्वज्ञानं मुक्तिसाधनं संक्षेपतो दर्शयति–**पुनरावृत्तीति** । चैतन्यं तावद् अशेषव्यापकमिष्यते, किम् अद्वितीयतया परिपूर्णत्वेन अवस्थित्या ? इत्याह–**निर्धारितमिति स्थितमिति** ।*

वाक्यवृत्तेरियं वृत्ती रुचिरा रचिता मया ।

पुनातु चिरतां याता संगता पुरषोत्तमे ॥

॥ इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य-श्रीशुद्धानन्दपूज्यपादशिष्य-भगवदानन्दज्ञानकृतौ वाक्यवृत्तिविवरणं समाप्तम् ॥

इदानीं संसारवासनानुवृत्तिवशात् कर्तृत्वभोक्तृत्वाभिमानमन्तरेण प्रारब्धकर्मफलभोगानुभवसमये हि क्रियमाणानाम् आगामिकर्मणां बन्धहेतुत्वशङ्कामवतारयन् (°मपसार°) प्रारब्धकर्मान्ते विदेहमुक्तिमाह–निरस्तेति । वैष्णवं परमं पदं प्रतिपद्यत **इत्यन्वयः । विष्लृ व्याप्तावित्यस्माद् धातोः विष्णुशब्द उत्पन्नः । विष्णोस्तदिदं** वैष्णवम् । **अतः सर्वदेशकालवस्तुव्यापकत्वादेव** परमम् **उत्कृष्टम्; पद्यत इति पदं स्वरूपमित्यर्थः** । वैष्णवमित्यनेन **अङ्गाङ्गिभावो नाङ्गी कृतः । शिलायाः पुत्रिका, राहोः शिर इतिवत् विष्णोरेव** वैष्णवं पदम् **सर्वव्याप्तं पदं स्वरूपं** प्रतिपद्यते **प्राप्त इव भवति । कण्ठाभरणस्येव नित्यं प्राप्तस्य स्वरूपस्य अविद्ययाऽप्राप्तिरिव विद्यया प्राप्तिरिवेत्यर्थः । तत्प्राप्तौ परमपुरुषार्थं ज्ञापयंस्तत्स्वरूपमेवाऽऽह**–निरस्तातिशयानन्द इति । **एतत् पदं पूर्वं व्याख्यातम् अपरिमितानन्दमित्यर्थः । लोके संयोगानां वियोगानां तत्त्वदर्शनात् (°योगान्तत्व°) तत्प्राप्तौ कालान्तरे तद्वियोगेन पुनरावृत्तिशंकायाम् 'अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात्' (ब्र. सू. ४.४.२२) इत्यधिकरणन्यायेन पुनः जीवत्वप्राप्तिं वारयति** –पुनरावृत्तिरहितमिति । **अन्यस्य अन्यप्राप्तावेव वियोगः, अत्र तु 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' (तै. २.६) इति, 'अहमात्मा गुडाकेश ! सर्वभूताशयस्थितः' (गी. १०.२०), 'परमात्माऽद्वयानन्दः पूर्णः पूर्वं स्वमायया । स्वयमेव**

जगद्भूत्वा प्राविशज्जीवरूपतः ॥' ( ), 'तत्त्वमसि' (छां. ६.८) इत्यादिवचनात् जीवपरयोः वस्तुतो भेदाभावाद् वियोगो नास्तीत्यर्थः । तथा चोक्तं 'यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम' (गी. १५.६) इति । ननु तर्हि आकाशवत् सर्वगतेन परमेश्वरेण तद्भिन्नस्य जीवस्य तत्प्राप्तिरयुक्ता ? इत्याशंक्य; साक्षात् प्राप्त्यभावेऽपि उपाधिनिवृत्त्या तद्भावापत्तिरेव तत्प्राप्तिरित्याह—कैवल्यमिति । उपाधिविनिर्मुक्तौ स्वयम् अखण्डः सच्चिदानन्दरूपेण अवतिष्ठत इत्यर्थः ।

अयमाशयः—अपरोक्षज्ञानेन अज्ञाननिवृत्तिद्वारा संचितकर्मनाशे सति रागादिसंसारवासनालेशानुवृत्त्या कर्तृत्वाद्यभिमानमन्तरेण प्रारब्धकर्मफलाऽनुभवसमय आभासरूपेण क्रियमाणेन आगामिकर्मणा सह जीवन्मुक्तस्य 'तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्' (ब्र. सू. ४.१.१३) इत्यधिकरणन्यायेन कर्तृत्वाद्यभिमानाभावाद् वस्तुगत्या कर्तृत्वाद्यभावाच्च । 'यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्ते, एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते' (छां. ४.१४.३) इत्यादिश्रुत्या च संश्लेषो न स्यात् । प्रारब्धकर्मवेगस्याऽपि मुक्तेषोरिव वेगक्षयाद् निवृत्तिः, अतः संचितकर्मणो ज्ञानेन नष्टत्वाद् आगामिकर्मणा सम्बन्धाभावात् प्रारब्धकर्मणो भोगेन नष्टत्वात् कारणाभावात् कार्याभाव इति न्यायेन देहान्तरप्राप्त्यभावात् प्रारब्धकर्मभोगान्ते 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति अत्रैव समवलीयन्ते' (नृ. उ. खं. ५) इत्यादिश्रुत्या तप्तायःस्थजलवद् मुक्तदेहे प्राणानां विलयः स्यात् । अत्र प्राणशब्देन ज्ञानेन्द्रियपञ्चकं कर्मेन्द्रियपञ्चकं प्राणादिपञ्चकं मनआद्यन्तःकरणचतुष्टयं लिंगशरीरात्मकं सर्वं गृह्यते । प्राणादेः उत्क्रमणाऽभावाद् देहान्तरसम्भवोऽपि न स्यात् । अत्र देहे प्राणोऽस्य लीनः स्यात् । जीवस्य शरीरत्वमपि न स्यात् । यदा मुक्तस्य शरीरं मृतं सत् सद्यः पतति तदोपाधिविनिर्मुक्तघटाकाशमहाकाशवत् परिपूर्णचिदानन्दस्वरूपो भवति इति । अत्र श्रुतिः 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये' (छां. ६.१४.२) इति, 'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः । क्षीयन्ते चाऽस्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे' (मुं. २.२.८), 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा' (गी. ४.३७), 'ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति' (गी. ४.३९), 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' (ई. ७) 'तरति शोकमात्मवित्' (छा. ७.१.३), 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मुं. ३.२.९), 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' (तै. २.१.५) इत्यादिश्रुतिस्मृतीतिहासपुराणेभ्योऽयमर्थोऽध्यवसीयते ॥ ५३ ॥

नमो ब्रह्मविद्भ्यो नमो ब्रह्मविद्भ्यः ।

॥ इति श्री विश्वेश्वरपण्डितविरचिता वाक्यवृत्तिः (टीका) समाप्ता ॥

ग्रन्थ परिसमाप्त करते हुए ग्रंथार्थ ही संक्षेप में व्यक्त करते हैं—

('वाक्यवृत्ति' नामक प्रकरण में) यह निर्धारित किया कि विष्णु का परम पद एक स्थित वस्तु है जो स्वरूपतः ऐसा आनंद है जिससे अधिक कोई आनंद संभव नहीं और जिसके दृढ साक्षात्कार के बाद फिर उससे च्युति नहीं होती ॥ ५३ ॥

निर्धारण कहते हैं युक्ति-प्रमाण से निर्णय करने को जैसा इस प्रकरण में विस्तार से किया है । व्यापक जीवस्वरूप विष्णु कहलाता है जिसका अधिष्ठान ही परम पद है जो उपाधिसापेक्ष सभी से परे है और प्रमाणसमर्पित है । वह अद्वैत शिव साध्य नहीं है अर्थात् क्रिया से वह विद्यमान होगा ऐसी बात नहीं वरन् सिद्ध वस्तु है, नित्य ही विद्यमान है । अखण्ड अनंत आनंद ही वह शिव है । उसकी अप्राप्ति केवल इसी से है कि वह अज्ञात है अतः उसके आवरण

के हटते ही वह सदा प्राप्त है और अज्ञान चूँकि जन्य वस्तु नहीं इसलिये तत्त्वज्ञान से बाधित हो चुकने पर पुनः तुरीय से दूरी हो सके इसकी कोई संभावना नहीं है । व्यापक का भी अधिष्ठान है अतः उसकी प्राप्ति किसी क्रिया की अपेक्षा रख नहीं सकती । किसी दूसरे के न होने से सच्चिदानन्द की पूर्ण अनंत अनावृत स्थिति ही इस ग्रंथ में प्रतिपादित की है । उसका निर्धारण ही किया जाता है, यह निर्धारण जब साधक का अनुभव हो जाये तब मुक्ति है । उस अनुभव के उपाय भी बताये हैं क्योंकि निर्धारण का यह भी अंग है कि प्रमाणसिद्ध की प्रमिति के उपाय निश्चित किये जायें । सत्य की एक विशेषता है कि वह सर्वसुलभ होता है । वैज्ञानिक तथ्यों का भी यही हाल है, उसे हर प्रमाता प्रमित कर सकता है । इसके लिए प्रमाता की तैयारी तो चाहिये ही जैसे विज्ञानादि में । अद्वैत भी सत्य अतः सर्वसुलभ है इसलिये कोई भी उसे कैसे प्रमित करे यह बताना निर्धारणकर्ता का कार्य है । उसे गुह्य कह कर नहीं छोड़ सकते या किसी एक-दो व्यक्तिविशेषों को ही प्रमित हो सकता है यह नहीं मान सकते क्योंकि तब वह धर्म हो सकता है, सत्य स्वरूप नहीं ।

विश्वेश्वरपंडित वैष्णव से व्यापकता ग्रहण करते हैं अतः विष्णु–इतने अर्थ में ही वैष्णव–यह प्रयोग मानते हैं । क्योंकि ब्रह्मप्राप्ति अन्य द्वारा अन्य की प्राप्ति नहीं है इसलिये प्राप्ति के बाद निवृत्ति हो यह संभव नहीं क्योंकि अन्यप्राप्ति ही निवृत्त होती देखी गयी है । उपाधि हटने मात्र से यहाँ 'प्राप्ति' कही जाती है जैसे घट फूटने से 'घटाकाश महाकाश में *मिल गया'* ऐसा कह दिया जाता है, वास्तव में हमेशा ही अभिन्न आकाश ही रहा ।

मुक्त मरता है कि नहीं ? यह प्रायः जिज्ञासा उठती है जबकि इसके पीछे जो सोच है वही गलत है : मरना-जीना यह अविद्याक्षेत्र के परिणाम हैं जबकि मुक्त निरविद्य है अतः जैसे सस्पर्श-मुद्रण (पुराने ढंग की छपाई) के आयामों में अस्पर्श-मुद्रण (आधुनिक प्रकाशाधारित या विद्युदाधारित छपाई) के बारे में प्रश्नोत्तर संभव नहीं; या जल आदि में तरंग किसी द्रव्य की होती है तो रेडियो तरंगों का–विद्युच्चुम्बंकीय तरंगों का–भी कोई द्रव्य होगा यह प्रश्न घटता नहीं; या चौरस, त्रिकोण, षट्कोण आदि आकारों में कोण होते हैं तो वृत्त में भी कोण होते होंगे यह पूछना व्यर्थ है; या गणनीय संख्याओं में परस्पर जोड़ने से संख्या बढ़ती है तो अगणनीय के बारे में ऐसा होता है या नहीं यह जिज्ञासा नहीं बनती; इसी प्रकार अविद्याक्षेत्र के परिणामों की प्राप्ति या निवृत्ति के बारे में मुक्त का संदर्भ जोड़ना बेमायने है । अनादि का जन्म, अनंत का नाश ये वन्ध्यापुत्र की तरह शब्द ही हो सकते हैं जिनका अर्थ कुछ नहीं ।

'पुनरावृत्तिरहितं' से यह ध्वनित है कि मुक्त होने तक प्रयास है, मुक्त रहने के लिये कोई प्रयास नहीं । ऐसा नहीं कि ज्ञान को ही दुहराते रहना पड़ता हो । यह निश्चयरूप प्रमा है और निश्चय होने में ही आवृत्ति आदि उपयोगी हैं, हो चुकने पर निश्चय किसी की अपेक्षा नहीं रखता । 'इति स्थितम्' से आचार्य कह रहे हैं कि यह वस्तुस्थिति है । हो सकता है इसे बताने के ढंग में ऐसी कमियाँ हों जिन्हें तर्क से उजागर किया जा सके, हो सकता है कि इस अद्वैत को तर्क से असंभव सिद्ध किया जा सके, हो सकता है सम्मान्य महापुरुष इसे नकारते रहें, हो

सकता है विश्व में या पृथ्वी पर इसका अपरोक्ष द्रष्टा ढूँढे न मिले, इसे स्वीकारने वाला भी दुर्लभ हो; यह सब होने पर भी है यह वास्तविकता तो बनी वैसी ही रहेगी । जैसे यदि पृथ्वी सचल है तो किसी के मानने-न-मानने से उसकी गति में राईभर भी अंतर नहीं आता वैसे अद्वैत में कोई अंतर संभव नहीं । सच जानकर हम लाभान्वित हो सकते हैं, न जानकर लाभ से वंचित रह सकते हैं पर इससे वस्तुस्थिति में कोई हेरफेर संभव नहीं ।

इस प्रकार इस लघुकाय प्रकरण में चार प्रश्नों के उत्तर के बहाने सारे वेदान्तशास्त्र के रहस्य कृपालु भगवान् भाष्यकार ने सरल एवं सुस्पष्ट तरह से व्यक्त कर दिये हैं । इसमें बताये ढंग से निरन्तर विचार करे तो अधिकारी अतिशीघ्र जीवन्मुक्ति के विलक्षण आनंद से तृप्त हो जायेगा ॥ ५३ ॥

सच्चित्प्रत्यगनन्तानन्दगुरोश्चरणाब्जयोः । स्थापनायोपयुक्तेयं वाक्यवृत्तिसुधाघटी ॥

यस्योपदेशो मननाद् मनःशमनकारणम् । निदिध्यासनतो भूयात्तमःशमनकारणम् ॥

तमशेषविदामग्रेसरमीश्वरविग्रहम् । नमामि भगवत्पादं नित्यं यतिभिरीडितम् ॥